एक जीवन्त/बोधगम्य प्रक्रिया

बातचीत विषय-विवेचन की
एक प्रखर, जीवन्त, बोधगम्य, और आत्मीय विधा है।
जब किसी अधिकारी पुरुष/सुधी/विशुद्धधी मनीषी से
उसके अधीत, अनुभूत, साधित, सबोधित विषय पर
कोई खोज़ी व्यक्ति, कैसे, कौन, क्या पहलू एक-के-बाद-एक
सामने आते है, इसकी न तो कोई पूर्वयोजना हो सकती है, और न कोई कल्पना,
बात चल निकलती है और कमरे, गर्भकक्ष खुलते जाते है-
कभी आँगन, कभी बरामदा, कभी कोई गुप्त गलियारा, कभी बैठकखाना, तो
कभी कोई व्यक्तिगत कक्ष। नाना पक्ष किसी एक विषय के उभर कर
उजागर होने लगते है।
प्रश्न की पीठ पर लगाम ताने उत्तर, और
उत्तर की पीठ पर जीन-कसे प्रश्न अचूक, मचलते चले आते है। ऐसे बौराये
ज्ञान-वसन्त मे आप प्रश्न करते जाएँ और पाँव-तत्परता से-उठाते जाएँ,
तर्क करे, खूब करे, किन्तु कुतर्क कतई न करे, धीरज रखे, किन्तु उत्तर को
बड़ा जटाधारी न होने दे।
प्राश्निक को चाहिये कि वह एक भोले शिशु की तरह जिज्ञासा करे
और उत्तरदाता को चाहिये कि वह आसान शब्दो मे गूढतम विषय
की पूर्णतम/सुलझी/गहरी विवेचना करे। गाँठे पडती जाएँ, गाँठे खुलती
जाएँ, और निष्कर्ष में एक विशुद्ध निर्ग्रन्थता चारो ओर झूम-झनक उठे।

विषय–प्रतिपादन की आसान विधा

'बातचीत' एक ऐसी विधा है, जिससे किसी विषय-वस्तु को समझना तो
आसान हो ही जाता है,
एक क्रमबद्ध शैली मे उसकी गहराइयो, गूढ़ताओ, और अगमताओ मे उतरना
भी सभव होता है।
बातचीत कम-से-कम दो व्यक्तियो पर निर्भर करती है,
एक जो बातचीत करता है।
दो जिससे बातचीत की जाती है।
बहुत जरूरी है कि बातचीत के सारे मुद्दे दिन-के-उजाले की तरह बिल्कुल
स्पष्ट हों। यदि चित्त पर विषय-की-तस्वीर असदिग्ध नही हुई तो हम
जिनके लिए बातचीत कर रहे होते है, वे सबन्धित विषय के सिलसिलेवार
ज्ञान से वचित रह जाते है।

'वातचीत' करने वाले को इसका ख्याल भी प्रतिक्षण रखना होता है कि जिससे वातचीत की जा रही है उसका वौद्धिक स्तर कैसा है, उसकी मानसिकता
किस किस्म की है, उसकी अनुकूलताएँ/प्रतिकूलताएँ क्या है, उसे किन
लोगो के वीच रह कर जीना पड रहा है, या अपनी जीवन्त-सुविधाएँ
जुटानी पड रही है,
फिर वात यही आ कर खत्म नही हो रहती वल्कि इसकी शाखा-प्रशाखाएँ
फैलती-उलझती हैं।
जिससे वातचीत का अनुवध हुआ है, या जिसके पास अकस्मात् पहुँचा गया
है, उसके पूर्वाग्रह कितने और किसे कोटि के है, इस पर भी भेटवार्ता को
वातचीत के श्रीगणेश से पूर्व विचार कर लेना होता है।
भेटकर्ता घर से विल्कुल व्लैक (कोरा / खाली) निकलता है अपनी वातचीत-यात्रा पर
यह मान लेना कि वह सवन्धित विषय का अध्ययन-मनन करके ही निकला
है पाठक के स्तर पर स्वय को प्रस्तुत करने; अर्थात् सपादक को पाठक
की हैसियत मे उपस्थित होना होता है वातचीत के दौरान इस अदा मे
कुछ कि वह सवन्धित विपय पर विल्कुल शून्य है।

आत्मीय विधा

मैने विपय-प्रतिपादन के सिलसिले मे वातचीत को एक ऐसे रचनात्मक औजार की तरह सफलता से काम मे लिया है कि

जो काम वड़े-वड़े ग्रन्थो/व्याख्यानो से सभव नही हुआ, वह इस आत्मीय विधा से सहज ही घटित हो सका है।

वातचीत मे जिससे वातचीत की जाती है (इटरव्यूड) और जो वातचीत करता है (इटरव्यूअर) दोनो के व्यक्तित्व और समुपस्थित वातावरण का महत्त्व होता है।

वातावरण कैसा है, दोनो की मन स्थितियाँ कैसी है, यह सव तो महत्त्व का होती ही है, महत्त्वपूर्ण यह भी होता है कि वातचीत के दौरान और कौन-कौन उपस्थित है जो फज़ा को गर्म, सर्द, समशीतोष्ण कर रहे है ? कई वार तो दर्शको/श्रोताओ की उपस्थिति, जो अनावश्यक भी होती है, वाधा उत्पन्न करती है, और कई वार यह होता है कि मात्र इस उपस्थिति की वजह से ही वातचीत मे अधिक निखार/जान आ जाती है। प्रखर; किन्तु मौन और दखलांदाजी-से-मुक्त श्रोताओं की उपस्थिति पाठको की कसौटी वनती है, और उनकी मुखछवियो से इस वात का अनुमान लग जाता है कि ऊँट किस करवट वैठ रहा है।

वातचीतो (इटरव्यूज) की एक वहुत वड़ी विशेषता यह है कि इनके माध्यम से किसी भी जटिल विषय को सरल, वोधगम्य, और उपयोगी वनाया जा सकता है, तथा शास्त्रीयता/पारिभाषिकता की कठिनाइयों से मुक्त रहा जा सकता है।

वातचीतो को मै इस तरह आकलित/संपादित करता हूँ, जिनके जरिये सदर्भित विषय के स्वरूप, लक्ष्य, विकास, और प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा सके।

मै प्रयत्न करता हूँ कि मैं आद्यन्त एक अवोध पाठक की हैसियत मे वना रहूँ और प्रश्नो-की-सूखी बारूद (डायनामाइट) के माध्यम से विषय की गहराइयो मे जाऊँ और वहाँ से उज्ज्वल जल के आँच-मिचौनी करते स्रोतो को खीच कर वाहर ले आऊँ। मुझे अपने इस कार्य मे कितनी/कैसी सफलता मिलती है, इसकी कसौटी तो पाठक स्वय होते है, किन्तु विश्वास मानिये कि मै अपनी ओर से ऐसा कोई प्रयत्न उठा नही रखता हूँ, जिससे विषय की स्पष्टता को कोई नुकसान पहुँचता हो। वावजूद कई मुश्किलो/यात्रागत कठिनाइयो के वातचीत के माध्यम से मै विषय को उसकी अतल गहराइयो मे पकडने की कोशिश करता हूँ और अपने प्रिय पाठको को हँसते-हँसाते विषय की दुर्गम घटियो और असूर्यस्पश्य वीहडो को निर्बाध यात्रा करवा देता हूँ। इन्हीं सारे नतीजो से प्रेरित हो कर मै लगातार वातचीत रेकार्ड करता आ रहा हूँ।

प्रखर/प्रभावी विधा

वातचीत एक ऐसी प्रखर/प्रभावी विधा है, जिसके माध्यम से हम कठिन-से-कठिन/जटिल-से-जटिल समस्या का कोई समीचीन/तात्कालिक/कारगर समाधान प्राप्त कर सकते है।

मैंने इस विधा का कई दार्शनिक/सामाजिक सदर्भों मे इस्तेमाल किया है ओर इस सिलसिले मे अपने सैकडो पाठको से जो चिट्ठियाँ मिली है, उनसे पता चलता है कि वे इससे लाभान्वित हुए है और उनकी कई पेचीदा मुद्दो पर रचनात्मक पकड वनी है। कइयो ने तो प्रेरिक/प्रोत्साहित हो कर स्वय को सवन्धित विषयो की गहराइयो मे डाल दिया है।

खर्चीला उवाऊ काम

इस प्रकार प्रश्न करता हूँ कि प्रस्तुत/सदर्भित विषय का गहन समुद्र-मथन हो जाता है।

यह भी उल्लेखनीय है कि वातचीत प्राप्त करने मे मुझे कई मुश्किले/कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वातचीत को हासिल करने मे कायिक श्रम के अलावा मुझे काफी वक्त और शक्ति देना पड़ती है। एक वातचीत पर कम-से-कम एक-से-दो-हजार रुपयो तक का सर्फा हो जाता है। लगभग १०० वातचीतो मे न्यूनतम १ लाख रुपयो का व्यय तो मोटा आँकडा है। इन्हे तैयार करने की प्रक्रिया/परेशानियो को यदि और शरीक कर लिया जाए तो मात्र वातचीत हासिल और तैयार करने का खर्च तकरीवन पाँच सौ रुपये आता है। वातचीतो को ले कर खर्च यही समाप्त नही हो जाता है। यदि इस खर्च मे टेपरिकार्डर खरीदी-रखरखाव, कैस्सेट से प्रस्तुति छपाई/कागज इत्यादि का खर्च और जोड़ ले तो खर्च कुल मिला कर दुगुना हो जाता है। इस प्रकार एक वातचीत का अनुमानत व्यय दो हजार रुपये से आँका जा सकता है।

वातचीत तैयार करना उवाऊ काम है। कैस्सेट से वातचीत को अक्षरश कागज पर स्थापित करना, उसकी दुहरावटो और अप्रासगिकताओ को अलगाना, फिर से लिखना, सपादित करना, प्रेस कॉपी वनाना-ये सारे चरण-उपचरण वडे धीरज और ध्यान की अपेक्षा रखते हैं।

सार्थक बातचीत

बातचीत मे मितभाषी, सयत, नाभिक बिन्दु पर स्थिर रहना जरूरी होता है। सास्कृतिक/नैतिक/सामाजिक/धार्मिक/आध्यात्मिक विषयो पर जो बातचीत की जाती है उसमे स्पष्ट विचार और दिशादर्शन की जिम्मेदारी इटरव्यूई (समालाप्य) पर आ जाती है। अधिकतम सतुलन, निष्कपट मन, साफ-सुथरी, एकार्थक भाषा आदि का ऐसे इटरव्यू मे स्पष्ट महत्त्व होता है।

किसी भी इटरव्यू (बातचीत) के तीन स्तर होते है भेटकर्ता (इटरव्यूअर), भेट या बातचीत (इटरव्यू), और इटरव्यूड यानी वह व्यक्ति जिससे इटरव्यू लिया जाने को है। बातचीत का यह त्रिकोण यदि कही से भी अपाहिज या खण्डित होता है तो बातचीत मे वह धार नही बन पाती, जो अपेक्षित होती है। बातचीत शुरू करने से पहले यह तय कर लेना जरूरी होता है कि विषय क्या होगा ? क्या इसमे शाश्वत कुछ होगा, अथवा वक्त-की-आँधी मे तिनके की तरह उड़ने वाला वह होगा ? क्या वह किसी दैनिक अखबार की तरह उसकी कोई रचनात्मक/अक्षुण्ण/मौलिक भूमिका होगी ?

वैसे इटरव्यूअर (समालापक) को इस तरह इटरव्यू (समलाप/बातचीत) काफी महँगे पड़ते है। वक्त तो लगता ही है, धन और शक्ति भी जाया होती है, प्लानिग आवश्यक होता ही है। मन मे सवालो की एक अनसोची कतार तो होती है तथापि ज्यादातर उपप्रश्न उत्तरो की कोख से उभरते-उठते है। तरंगो या बवडर की तरह कुछ सवाल आते हैं और इटरव्यूई के व्यक्तित्व की अतल गहराइयो का सिन्धुमन्थन कर जाते है। कोशिश होती है कि बातचीत नुकीली हो और किसी केन्द्र पर अनुक्षण जागृत हो। ऐसा न हो कि बातचीत सहसा किसी दार्शनिक/शुष्क मोड पर आ खडी हो और पाठको को उबा दे-उसमे जगह-जगह हल्की-फुल्की हँसी भी हो ताकि पाठक अपने काम की बात छान सके और अपनी जीवन-यात्रा के लिए कोई पाथेय ग्रहण कर सके।

जब कोई इंटरव्यू बहुआयामी होता है तब इटरव्यूअर और इटरव्यूई दोनो को कठिनाई होती है और दोनो को ही सजग रहना होता है कि चयित विषय कही आधा-अधूरा न रह जाए, या उसके साथ कोई अन्याय न हो पड़े।

असल मे वस्तुनिष्ठता मनुष्य को प्रतिपल वीतरागता-के-पथ पर जागरूक रखती है, अत· वीतराग होने के लिए जिस वस्तुनिष्ठ दृष्टि की आवश्यकता है, तो वह विरले साधु-संतो मे होती है। अतीत, वर्तमान और आसन्न भविष्य के बारे मे उनका चिन्तन पर्याप्त, सार्थक और दिशादर्शक होता है। निम्सा वे न तो बोलते है, और न सुनते है।

ऐसी सार्थक बातचीत को पाठको के लिए पाथेय के रूप मे प्रस्तुत करना श्रम-साध्य तो रहता ही है।

बातचीत : अनुक्रमणिका

'तीर्थंकर' में प्रकाशित (जनवरी १९७३- जनवरी १९९८)

वर्ष १२, अक ९-१०, जन फर , ८२), ४० ध्यान निर्विकल्प आत्मशोधन, ध्येय अखण्ड आत्मवोध एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (कोथली, कर्नाटक, नवम्बर, ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८३, ४१ शुभ के विना शुद्ध की कुल्हाड़ी उठेगी नहीं एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (कोथली, नवम्बर, ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८३, ४२ जैसा शोर वाहर, वैसा भीतर, शान्त करने का माध्यम ध्यान एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द (कोथली, नवम्बर, ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८२, ४३ एकाग्रता से सव सभव उपवास कर लें तो ध्यान मे खूब मग्न हो सकते है एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (कोथली, नवम्बर , ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८२, ४४ आलम्वन मे व्यक्त के साथ अव्यक्त को अवश्य देखें एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (कोथली, जनवरी, ८३), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८३, ४५ ध्यान · समत्व की ओर प्रशस्त पग मुनिश्री समन्तभद्र से (वाहुवली-कुभोज कर्नाटक, नवम्बर, ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८३, ४६ ध्यान निराकुलता की ओर स्वस्थ प्रस्थान क्षुल्लकश्री धर्मानन्द से (कोथली, नवम्बर ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८३, ४७ ध्यान आसन प्राणायाम प वाहुवली उपाध्ये से (कोथली, नवम्बर, ८२), वर्ष १२, अक १२, अप्रैल, ८३, ४८ क्रान्ति में भीतर से वदलना होता है क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी से (भोपाल, अक्टू , ८१) वर्ष १३, अक २, जून, ८३, ४९ कोश-रचना-पद्धति वह सहज विकसित होती गयी क्षु श्री जिनेन्द्र वर्णी से (भोपाल, अक्टू ८१) वर्ष १३, अक ३, जुलाई , ८३, ५० आत्महित ही समाज हित एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (वाहुवली-कुभोज, सित , ८३), वर्ष १३, अक ७-८ नव -दिस , ८३, ५१ धर्म और समाज-सेवा आचार्यश्री समन्तभद्र से (वाहुवली-कुभोज, सित , ८३), वर्ष १३, अक ७-८, नव -दिस , ८३, ५२ हम वदले समाज वदलेगा साहू श्रेयास प्रसाद जैन से (वम्वई, जुलाई, सित , ८३), वर्ष १३, अक ७-८, नव -दिस , ८३, ५३ सस्कार , सादगी , शाकाहार शभुकुमार कासलीवाल से (वम्वई, सित , ८३), वर्ष १३, अक ७-८, नव-दिस , ८३, ५४ जैन दर्शन मॉडर्न/पॉजिटिव्ह डॉ प्रभाकर माचवे से (कलकत्ता, मार्च, ८३), वर्ष १३, अक ९, जनवरी, ८४, ५५ वदल सकते हैं, वदलना चाहें तो सरदारमल काकरिया से, (कलकत्ता, जन, ८४), वर्ष १३, अक ९, अप्रैल, ८४, ५६ हम जागेंगे समाज जागेगा रामकृष्ण वजाज से (वम्वई, जुलाई, ८३), वर्ष १४, अक ९ मई, ८४, ५७ भेदविज्ञान आत्मप्रतीति का माध्यम, स्वानुभूति का विज्ञान एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से (सोलापुर, मई, ८४), अक वर्ष १४, अक २, जून, ८४, ५८ मेरी सफलताओं का मर्म मौन-में-मौन प सुमतिवाई शहा से (सोलापुर, मई, ८४), वर्ष १४, अक २, जून, ८४, ५९ जैन साधु और वाहन-प्रयोग मुनिश्री नगराज से (कलकत्ता, मार्च, ८३), वर्ष १४, अक ३, जुलाई , ८४), ६० जैन नारी आस्मिता की रक्षा/जिजीविषा की खोज ब्र विद्युल्लता शहा से (सोलापुर, मई, ८४), वर्ष १४, अक ३, जुलाई, ८४), ६१ चाहिये अनुशासन और समन्वय रमेशचन्द जैन से (दिल्ली, जुलाई , ८४), वर्ष १४, अक ४, अगस्त, ८४, ६२ अणुव्रत पुरस्कार परिकल्पना और पृष्ठभूमि धरमचन्द चोपड़ा से (जोधपुर, जुलाई, ८४), वर्ष १४, अक ५, सित ८४, ६३ प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि/आत्मान्वेषण की प्रक्रिया (एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से (वम्वई, जुलाई , ८४), वर्ष १४, अक ६-७, अक्टू -नव , ८४, ६४ प्रतिक्रमण ग्रन्थि-शोधन की आधार-भूमिका युवा - चार्यश्री महाप्रज्ञ से (जोधपुर, जुलाई , ८४), वर्ष १४, अक ६-७, अक्टू -नव , ८४, ६५ सामायिक के लिए प्रतिक्रमण आचार्यश्री विद्यासागर से (जवलपुर, सित ८४), वर्ष १४, अक ६-७, अक्टू -नव , ८४, ६६ प्रतिक्रमण/सामायिक परिवर्तन-परिवधन की आवश्यकता आचार्यश्री तुलसी से, जोधपुर, जुलाई , ८४, वर्ष १४, अक ६-७, अक्टू -नव , ८४, ६७ वापसी विभाव से स्वभाव मे आचार्यश्री नानालाल से (वम्वई, सित , ८४), वर्ष १४, अक ६-७, ८४, ६८ प्रतिक्रमण · होना स्वय -का, स्वय -से साध्वी प्रमुखाश्री कनकप्रभा से जोधपुर, जुलाई, ८४), वर्ष १४, अक ६-७, अक्टू -नव , ८४, ६९ सामायिक योग का चरमोत्कर्ष ब्र कुमारी कौशल से (देहरादून, अक्टू ८४), वर्ष १४, अक ६-७, अक्टू -नव , ८४, ७० प्रतिक्रमण से आत्मावलोकन/आत्मापरिमार्जन मुनिश्री नगराज से (नई दिल्ली, अक्टू , ८४), वर्ष १४ अक ८, दिस ८४, ७१ 'सम' अर्थात् अहकार और ममकार से त्यागपत्र प फूलचन्द शास्त्री से (इन्दौर, जन , ८५), वर्ष १४, अक ९, जन ८५, ७२ सामायिक उत्तम सिद्धि के लिए उत्तम साधना डॉ सोनेजी से (इन्दौर, अक्टू , ८४); वर्ष १४, अक ९, जन ८५, ७३ सिर्फ सहयोग नहीं, वरावर की भागीदारी ब्र कु कौशल से (देहरादून, अक्टू ८४), वर्ष १४, अक १०, फर ८५, ७४ श्रावकाचार विचारपूर्वक आचार एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (गवल्गौव-महाराष्ट्र, फर , ८५); वर्ष १४, अक ११-१२, मार्च-अप्रैल, ८५), ७५ श्रावक वह जिनके आचरण मे जैनत्व हो आचार्यश्री आनन्दऋषि से (अहमदनगर-महाराष्ट्र, फर , ८५), वर्ष १४, अक ११-१२, मार्च-अप्रैल, ८५ ७६ श्राविका सँभाले/पहले घर, फिर वाहर श्रीमती सौ ललितावाई से (गवल्गौव, फर ८५), वर्ष १४, अक ११-१२ मार्च-अप्रैल, ८५; ७७ शाकाहार . अहिसक जीवन-शैली का प्रमुख आधार केवलचन्द जैन से (दिल्ली,

मार्च, ८५), वर्ष १४, अक ११/१२, मार्च-अप्रैल, ८५, ७८ श्रावक मन्दिर-से-प्रेरित, मतसाहित्य-से-प्रोत्साहित्य · पं फूलचन्द शास्त्री से (इन्दौर, जून, ८५), वर्ष १४, अक ११-१२, मार्च-अप्रैल, ८५), ७९ गोम्मटगिरी बाबूलाल पाटोदी से (इन्दौर, मार्च, ८५), वर्ष १४, अक ११-१२, मार्च-अप्रैल, ८५, ८० बेहतर मानव यानी बेहतर श्रावक (परिचर्चा, प्रवर्तक डॉ नेमीचन्द जैन , चर्चाकार अभय छजलानी), शरयू दफ्तरी, बाबूलाल पाटोदी, प फूलचन्द शास्त्री (इन्दौर, मार्च , ८५), वर्ष १४, अक ११-१२, मार्च-अप्रैल, ८५, ८१ श्रावक एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (इन्दौर, मई, ८५), वर्ष १५, अक १, मई , ८५, ८२ पूजा मूर्ति नही, मूर्तिमान की एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (गोम्मटगिरि, अगस्त, ९५), वर्ष १५, अक ४-५, अग सित ८५, ८३ बाहर क्यो भीतर चलें केवलमुनि से (इन्दौर, अग , ८५), वर्ष १५, अक ४-५, अग -सित , ८५, ८४ मूर्ति स्वरूप-स्मरण का सटीक आलम्बन साध्वीश्री मणिप्रभा से (नागपुर , अग , ८५), वर्ष १५, अक ४-५ अग -सित , ८५, ८५ पूजा है आत्मशोधन की अपूर्व प्रक्रिया आर्यिकाश्री ज्ञानमती से (हस्तिनापुर, अग ,८५), वर्ष १५, अक ४-५, अग -सित , ८५, ८६ पूजा का लक्ष्य पूज्य से तादात्म्य प डॉ पन्नालाल साहित्याचाय से (सागर, अग , ८५), वर्ष १५, अक ४-५, अग -सित ८५, ८७ मुनि-विहार चाहिये, सहजता सजगता, सादगी, शुद्धता एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (इन्दौर , दिस , ८५), वर्ष १५, अक ९, जून, ८६, ८८ 'श्री कुन्दकुन्द भारती' बीज बनेगा अक्षय वट एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द से (इन्दौर, मार्च, ८६), वर्ष १५, अक १२, अप्रैल, ८६), ८९ जैन पत्र-पत्रिकाएँ खोजें, प्रयोग करें, पहरा दें अक्षय कुमार जैन से (नई दिल्ली , मई, ८६), वर्ष १६, अक २, जून, ८६, ९० शाकाहार रात्रि भोजन मद्य-धूम्रपान मृत्यु डॉ माणकचन्द अजमेरा से (इन्दौर, नव , ८६), वर्ष १६, अक ८, दिस ८६); ९१ शाकाहार पौष्टिक, प्राकृतिक, सस्ता, स्वास्थ्यप्रद डॉ ए.सी एस जैन से (इन्दौर, जन ८७), वर्ष १६, अक ९, जन , ८७, ९२ भट्टारक -सस्था और मन्त्र-तन्त्र श्री चारुकीर्ति भट्टारक से (गोम्मटगिरि, इन्दौर, मार्च, ८७), वर्ष १६, अक १०-११-१२, फर -मार्च, ८७, ९३ सामाजिक क्रान्ति कैसी, कहाँ से ? सौभाग्यमल जैन से (इन्दौर, मार्च, ८७) वर्ष १७, अक १, मई, ८७, ९४ 'मैं अगले जन्म मे भी बोध कथाएँ लिखना चाहूँगा' मोतीलाल सुराना (इन्दौर, दिस , ८६), वर्ष १७, अक १७, जून, ८७, ९५ 'मैं बोधकथाएँ स्वान्त सुखाय लिखता हूँ' नेमीचन्द पटोरिया से (इन्दौर, जून, ८७), वर्ष १७, अक २, जून, ८७, ९६ कितनी ज्ञान से गाड़ी नहीं चल सकती, चरित्र चाहिये आचार्यश्री विद्यानन्द से (कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, जून, ८७), वर्ष १७, अक ३-४, जु -अग , ८७), ९७ अहिसा ही विश्व का भविष्य मुनिश्री सुशीलकुमार से (इन्दौर, जन , ८८), वर्ष १७, अक १२, अप्रैल, ८८, ९८ स-दोष आहार और मानसिक तनाव डॉ धनजय गुडे से (कोल्हापुर, अप्रैल, ८९), वर्ष १९, अक १-२, मई -जून, ८९, ९९ क्रियाकाण्ड साधन है, साध्य नहीं आचार्य श्री विद्यानन्द से (सदर्भ, बाहुबली महामस्तकाभिषेक, बारामती, सित ९०), वर्ष २०, अक ७, नव , ९०, , १०० शाकाहार-वर्ष - सघन ब्ल्यू प्रिंट (हम क्या करें ?) , आचार्यश्री विद्यानन्द से (वर्ष २७, अक १०-११, फर-मार्च , ९२, १०१ शाकाहार-वर्ष सघन ब्लूप्रिंट (हम क्या करे ?) आचार्यश्री विद्यानन्द से वर्ष २१, अक १२, अप्रैल, ९२, १०२ वाग्दीक्षा दीक्षा के ढाँचे में एक रचनात्मक मोड़ (आचार्यश्री विद्यानन्द से (नई दिल्ली, १६ अक्टू , ९५), वर्ष २५, अक ६-७, अक्टू -नव ९५, १०३ हम सगकों से बहुत पीछे हैं, एक मौन सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात उपाध्याय श्री ज्ञानसागर से (बड़ागाँव-खेकड़ा -उ प्र), अग , ९५), वर्ष २५, अक ६-७, अक्टू -नव , ९५, १०४ 'ओं' बोलिये तो पराधीन-'ओम्' बोलिये तो स्वाधीन आचार्यश्री विद्यानन्द से (नई दिल्ली, जन , ८६), वर्ष २५, अक १२, अप्रैल, ९६, १०५ नम्रता अपरिग्रह की चरमसीमा आचार्यश्री विद्यानन्द से (नई दिल्ली, आग , ९६), वर्ष २५, अक ४-५, अग -सित , ९६, १०६ इन्द्रिय-विजयी होने पर ही नम्रता साधक मुनि श्री क्षमासागर से (इन्दौर, जुलाई, ९६), वर्ष २६, अक ४-५, अग -सित , ९६, १०७ नम्रता शुचिता का दर्पण है . मुनिश्री क्षमासागर से (इन्दौर, जुलाई, ९६), वर्ष २५, अक ६, अक्टू , ९६, १०८ भट्टारकों का काम पूरा हुआ, अब उनकी आवश्यकता नहीं है- बैठकखाना छोड़ें, मैदान में आयें स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी से (श्रवणबेलगोला, अप्रैल, ९६), वर्ष २७, अक ६, अक्टू , ९७, १०९ श्वेताम्बरता अर्थात् उज्ज्वलताओं की खोज-यात्रा मुनि भुवनचन्द्र से (वर्ष २७, अक ९, जनवरी,'९८)

बातचीत (भेटवार्ता) : स्वय-की-स्वय से, ख़ुद-के सामने ख़ुद । 'तीर्थंकर' मे वर्ष २४ और २५ (मई, ९४ से अप्रैल, ९६) । **शाकाहार क्रान्ति :** १ अण्डा बच्चों की तन्दुरुस्ती के लिए अत्यधिक हानिकारक डॉ धनजय गुडे से वर्ष ३, अक २, मार्च-अप्रैल, ८९, २ दो हैं असली दुश्मन मानसिक तनाव और सदोष आहार डॉ धनजय गुडे से वर्ष ३, अक ३, मई-जून, ८९ ।

बातचीत : भक्ति और पूज

डॉ. नेमीचन्द जैन

- **भक्ति : स्वरूप और सार्थकता**
  - एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द
- **पूजा : मूर्ति नहीं, मूर्तिमान की**
  - एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द
- **बाहर क्यों : भीतर चलें**
  - केवलमुनि
- **मूर्ति : स्वरूप-स्मरण का सटीक आलम्ब**
  - साध्वीश्री मणि
- **पूजा है आत्म-शोधन की अपूर्व प्रक्रिया**
  - आर्यिकाश्री ज्ञानमती
- **पूजा का लक्ष्य : पूज्य से तादात्म्य**
  - पं (डॉ) पन्नालाल साहित्याचार्य
- **पूजा से तिरे तन ; तिरे मन**
  - आचार्यश्री जयन्तसेनसूरि

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

जैन भक्ति : स्वरूप और सार्थकता

डॉ. नेमीचन्द जैन : यह जो भक्ति-तत्त्व है, वह जैनधर्म के ढाँचे मे वीतरागता के साथ जुडता नही है। आप क्या सोचते है; वीतरागता और भक्ति मे कोई संबन्ध है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : बात यह है कि जिसकी वीतरागता के प्रति भक्ति है, उसे वह वीतरागी बना देती है, उसे वह वीतरागता की ओर अग्रसर करती है। सराग के पीछे जो भक्ति होती है, वह संसार को बढ़ाने वाली है।

वीतराग देव है, वीतराग शास्त्र हैं; वीतराग गुरु है- प्रारम्भावस्था मे इनके प्रति जो भक्ति है, वह वीतरागता की ओर अग्रसर करती है, वह मार्ग प्रशस्त करती है, उस ओर ले जाती है। जैसे एक रस्सी के सहारे से मनुष्य उसे पकड कर ऊपर जाता है। यदि वह रस्सी न ले, तो वह ऊपर नही जा सकता। इसी तरह भक्ति के सहारे वह आगे बढ सकता है। आरम्भ मे इसकी बहुत आवश्यकता है। जब निर्विकल्पावस्था मे वह जम जाएगा, तो भक्ति आदि सभी कारण छूट जाएँगे। जब तक सविकल्प अवस्था है, तब तक वीतराग देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति मे मन लगाना आवश्यक है। भक्ति का स्थायीभाव अनुराग (रति) है। यह तो राग ही है। रस नौ है, किन्तु शान्तरस की ओर यही अनुराग ले जाता है। शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद है, जबकि भक्ति का अनुराग है- देव, शास्त्र, गुरु के प्रति, इसीलिए भक्ति निर्वेद की ओर ले जाने में सहायक है। भक्ति आत्मशोधन मे भी सहायक है।

ने.: भक्ति के विषय मे यदि किसी को थोडे मे समझाना हो, तो कैसे समझायेगे ?

वि.: थोड़े मे समझाना हो, तो कह सकते है कि गुणो के प्रति अनुराग भक्ति है।

ने.: किन गुणो के प्रति अनुराग ?

वि.: नैतिकता की दृष्टि से जहाँ भी अच्छे गुण मिलते है, वहाँ अनुराग होता है। जो जैनधर्म/तत्त्वज्ञान की ओर बढना चाहता है, उसमे वीतरागता के प्रति, जिनेन्द्र भगवान् के प्रति भक्ति होती है।

ने.: यदि हम 'जैन भक्ति' कहना चाहे, तो वह क्या है ?

वि.: जैन भक्ति गुणो की आराधना है। जैसे अरिहन्त भगवान् है उनके गुणो का चिन्तवन करना, सिद्ध भगवान् है उनके गुणो का चिन्तवन करना। भक्ति मे हम अरिहन्त और सिद्ध के गुणो का चिन्तवन करते है, उनका आदर्श हम अपने सामने रखते है। व्यक्ति अपने सामने आदर्श क्यो रखता है ? क्योकि वह शुद्ध/अविकल बनना चाहता है।

ने.: जैनधर्म मे आत्मस्वातंत्र्य का स्थान है। आत्मस्वातत्र्य के साथ भक्तितत्त्व को जोडना वहुत कठिन पडता है; इसे कैसे जोड़ा जाए ?

वि.: आत्मस्वातंत्र्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी जब तक तत्त्वज्ञान को पूरी तरह समझे नही और निर्विकल्प दशा तक पहुँचे नही तव तक यानी प्रारंभिक अवस्था तक हम भक्ति को छोड नहीं सकते। जैसे हम नाव मे बैठे, दूसरे किनारे पर नही पहुँचे और बीच मझधार मे ही नाव को छोड देगे, तो डूब जाएँगे।

ने.: लेकिन भीतर कोई घटना घटित होती है, तभी तो बाहर वैसा होता है।

वि.: ठीक है। भीतर घटना घटेगी, तो बाहर वैसा होगा। बाहर कपडे छूट जाते हैं। किनारे पर पहुँचने पर नाव छूट जाती है। कहने का आशय यह है कि निर्विकल्प अवस्था के प्रकट होने पर भक्ति आपोआप छूट जाएगी, उसके पहले नहीं। निर्विकल्प अवस्था मे कोई तभी पहुँच सकता है, जब उसके अंतरग मे पूर्ण परिपक्वता हो, तभी वह बहिरंग में छोड़ सकता है। यदि अतरग मे नही है, तो वह वहिरग मे कैसे छोड सकता है ? अंतरंग मे परिपक्वता न होने पर छोडने से कोई लाभ नहीं है। इसलिए अतरंग और वहिरंग दोनो तप है। ये एक सिक्के के दो पहलू है। एकांगी कुछ नहीं होता है।

ने.: यानी तप का नाम भक्ति है ?

वि.: हाँ, अपने सामने एक आदर्श रखते है। सिद्धो का आदर्श रखते है; कौन ? तीर्थंकर भी। वे 'णमो सिद्धाण' कह कर केशलोच करते है। वे तो तद्भव मोक्षगामी है, फिर सिद्धो का नाम क्यो लेते है ? वह उनका लक्ष्य है। वे पहले सिद्धो का नाम लेते है, और फिर आत्मध्यान में लग जाते है। जब इतने परिपक्व और इसी भव से मोक्ष जाने वाले तीर्थंकरो को भी सिद्धो की भक्ति करनी पडती है, तब वाकी के हम तो सामान्य है। हमे विशेष भक्ति करनी पडे तो इसमे क्या आश्चर्य है ? षोडशकारण भावना मे भी भक्ति है।

ने.: जिन-भक्ति मे मोक्षमति और शान्तरस की मुख्यता/विशेपता है।

वि.: हाँ, मोक्षमति और शान्तरस-प्रशान्तरस। भक्तामर स्तोत्र का ५ वाँ श्लोक मुझे अत्यन्त रुचिकर है,

उसमे मानतुङ्गाचार्य कहते है 'भगवन्, मै आपकी भक्ति नही कर सकता हूँ, क्योकि इतने गुण आपके है, मै उन गुणो को क्रम से वोल नही सकता हूँ, जुवान के द्वारा मेरी स्तुति मे वह योग्यता (क्षमता) नहीं है, ताकत नही है। यह सव मै उस तरह कर रहा हूँ कि जिस तरह से हिरनी के छौने को शेर अपने मुँह में पकड लेता है। हिरनी को यह मालूम है कि शेर होने के नाते यह उसकी शक्ति के वाहर की वात है, परन्तु मोह के वशीभूत होकर उसे छुडाने के लिए वह सिंह पर प्रहार करती है। इसी प्रकार भगवन्! आप अनन्त गुणो के आगार है और मै छद्मस्थ हूँ, मुझमे शक्ति नहीं है, तथापि भक्ति-वश में आपकी स्तुति करना चाहता हूँ।

ने.: कितनी अपूर्व/अद्‌भुत है यह स्तुति !

वि.: अपूर्व तो है ही · सोऽह तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश - भक्तिवश होकर स्तुति कर
हूँ, यह जानता हूँ कि यह मेरे ताकत के बाहर की बात है। हिरनी भी जानती है कि शेर के स
उसकी कोई सत्ता नही है, फिर भी वह शावक को छुडाने के लिए मोहवश जाती है। यहाँ मै भी
तरह स्तुति प्रारंभ करता हूँ। छद्‌मस्थ अवस्था मे इस जीव को भगवान् की स्तुति बहुत आवश
है। 'महापुराण' मे जिनसेनाचार्य ने भगवान् के उपदेश की अपेक्षा करते हुए भी भक्ति का प्रतिप
किया है।

ने.: भक्ति आवश्यक है।

वि.: है ही, जिनसेनाचार्य कहते है 'भगवन्, आपने मुझे कहा है कि मौन रखो। अ
कहा है कि वचन-गुप्ति रखो, काय-गुप्ति रखो, मनोगुप्ति रखो; यानी शरीर मत हिलाओ, जु
मत हिलाओ, मन को भी मत हिलाओ। यह मुझे मंजूर है, यह मुझे मान्य है, परन्तु जब आप
स्तुति करने का प्रसग आयेगा, तब मै मौन-भंग कर दूँगा; जब आपके गुणो का चिन्तवन करने
प्रसग आयेगा, तो मै अपनी वचन-गुप्ति भग कर दूँगा और जब प्रणाम करने का प्रसग आयेगा
मै काय-गुप्ति को भंग कर दूँगा। चाहे इसे कोई भले ही मेरी उद्दण्डता समझे पर मैं आपके गुणो
कारण यह करूँगा।

ने.: क्या जैन भक्ति अहैतुकी भक्ति है ?

वि.: नही, पूर्ण भक्ति है। भक्ति दो तरह के लोग करते है; एक तो वे जिन्हे सासारिक
चाहिये। उन्हे भी आप रोक नही सकते। दूसरे वे लोग है जो 'तद्‌गुण लब्धये'। (आपके जैसे गु
की प्राप्ति चाह रहा हूँ। मै अपने मे आप-जैसे गुणो को प्रकट करना चाह रहा हूँ, आप-जैसा ब
चाह रहा हूँ) के लक्ष्य से भक्ति करते है। ये दो मार्ग है। यह चुने या वह; जिसकी जैसी मरजी
करे। अधिकतर लोग संसार के दु खो से दूर होने के लिए प्रयत्न करते है, भक्ति का म
अपनाते है, इसलिए मै समझता हूँ कि जब कोई सासारिक लक्ष्य से भी भक्ति करता है,
भी उसे आचार्यों ने क्षम्य बताया है।

आचार्य पूज्यपाद कहते है कि लडका यदि खाना नही खा रहा है तो माँ चिन्ता न
करती, कही मिट्टी तो नही खा रहा है इसकी चिन्ता वह जरूर रखती है। लड़का कमा न
रहा है इसलिए बाप इसकी चिन्ता नही कर रहा है, पर लड़का शराब आदि व्यसनो मे तो धन गँ
नही रहा है, इसकी वह चिन्ता करता है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् के मन्दिर मे जा
कोई पूजा-भक्ति नही करता है, इसकी चिन्ता नही है, अपितु कुमार्ग मे लग कर कुदेव
देवता की भक्ति मे तो नही लग रहा है, यह देखना है। यदि वह बीच मे फँसेगा नही या रुके
नही, तो कालान्तर से वह भी वीतराग भगवान् की भक्ति कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता
इसीलिए जो कुमार्ग पर नही लगा है, वह अभी सन्मार्ग पर नही भी लगा हो, तटस्थ हो, बीच

मे हो, तो भी उसे उद्धार के लिए कोई मार्ग मिल सकता है। यदि एक बार वह कुमार्ग मे फँस जाएगा या लग जाएगा, तो उसका ससार बढ जाएगा।

ने.: जैन भक्ति के साथ सम्यग्दर्शन जरूरी है।

वि.: जरूरी है, उससे अधिक लाभ होगा।

ने.. 'भक्तामर स्तोत्र' आदि जैन भक्ति-स्तोत्रों का उद्देश्य लौकिक कामनाओ को निर्वश/निर्बीज कर देना है।

वि.: वह मुख्य ध्येय है, परन्तु गौण रूप में कोई सासारिक सुख भी चाहता है, तो आचार्यो ने इसकी सर्वथा मनाही नहीं की है। उसके लिए उन्होंने कुछ गुंजाइश रखी है। डॉक्टर साहब, मै एक ही बात आपसे पूछता हूँ कि जिस डॉक्टर के पास जाने से आपका रोग ठीक नही होता है, उसके पास आप क्यो जाएँगे ? जिस डॉक्टर के पास जाने से रोग ठीक होगा, उसके पास ही तो आप जाएँगे न ? यह वीतराग भगवान् से संसारी रोग ठीक नही होते, तो कोई क्यो उनके पास जाएगा ? इसलिए लोग तात्कालिक सुख या लाभ देखेगे। जहाँ अच्छे-से-अच्छा डॉक्टर जल्दी-से-जल्दी रोग ठीक कर देता है, वहाँ वह रोगी जाता है। जिस भक्ति के द्वारा जल्दी फल मिलता हो, उस ओर वह जाता है, इसलिए सामान्य लोगो के दु खो को दूर करने की बात उठी है। आचार्यो ने इसकी सर्वथा उपेक्षा नही की है। इतना ध्यान रखिये कि यदि संसारी दु ख दूर नही होते, सान्त्वना नही मिलती, तो सामान्य लोग भक्ति नही करते।

पूज्यपाद-जैसे आचार्य ने अपनी शान्त भक्ति में यह स्पष्ट लिख दिया कि जलमन्त्र देने, हवन करने और इसी प्रकार के धार्मिक मन्त्रो के करने से निर्विष हो जाते है, उससे दु ख दूर हो जाते है। तो भगवान् आपके नामस्मरण से क्यो नही हो सकते है ? बहिरग साधन यानी तन्त्रविद्या कहिये, जैसे जलमन्त्र देना आदि ये सब गृहस्थो के लिए हैं। पूज्यपाद-जैसे आचार्यों ने शान्त भक्ति मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। मेरे पास वह कारिका है।

ने.: भक्तामर नामस्मरण मे आता है - 'त्वन्नामनागदमनी हृदयिस्यपुंस '।

वि.: नामस्मरण बहुत श्रेष्ठ है, लेकिन भक्ति-मार्ग मे एक बात आप ख्याल मे रखिये। भक्ति-मार्ग विचित्र है। एक दृष्टान्त दे रहा हूँ। दस आदमियो ने दुकाने खोल रखी है-कपडे, लकडी, सोने, लोहे, सीमेन्ट आदि की। इनमे तरह-तरह का सामान रखा हुआ है। सबका ध्येय क्या है ? पैसा। सबका एक ही ध्येय है- पैसा कमाना। कोई भक्ति करता है तो करने दो। कोई स्तुति गाता है, तो गाने दो। कोई संगीत के द्वारा भगवान् के गुणो मे मगन होता है, तो होने दो। कोई जाप जपता है, जपने दो। कोई प्रक्षाल करता है, प्रक्षाल करने दो, परन्तु ध्येय यही होना चाहिये कि हमे मुक्ति पानी है। जैसे कोई शत्रु को बाण से भगाता है, कोई तलवार से भगाता है, कोई बन्दूक से भगाता है। कोई अन्यान्य शस्त्रो से भगाता है। यहाँ शत्रु को भगाने के लिए कोई भगवान् का नाम

लेता है, कोई स्तुति करता है, कोई प्रणाम करता है, कोई सामायिक करता है, कोई ध्यान करता है। जिसमे जिसकी रुचि होती है, वह वैसा करता है। ध्येय पवित्र होना चाहिये। साधन पवित्र होना चाहिये। इतनी-सी बात हमे देखना है।

ने.: मतलब यह कि साध्य बहुत स्पष्ट होना चाहिये। साधन वैसे तो शुद्ध होगे ही, लेकिन साधन भी उसी ओर केन्द्रित होने चाहिये। भक्ति से आत्मशक्ति बहुत बढ जाती है।

वि.: भक्ति से मनोबल बढ़ता है। यदि मैंने भगवान् की भक्ति की है, तो मुझ पर कोई सकट नही आ सकता है।

ने.: एक तरह का अभय पैदा हो जाता है।

वि.: हाँ। उसे अभयदान मिल जाता है।

ने.: भक्ति सबसे बडी अभयदानी है।

वि.: बिलकुल ठीक। श्रेष्ठ तो है ही। हमारे जितने कवि हुए है, उनमे प दौलतरामजी ने -

'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन ।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित अरि-रज रहस विहीन ॥'

भक्ति के बारे मे क्या नही कहा है ? वे यह भी कहते है-

'पशु नारक नर सुरगति मँझार। भव धर-धर मर्यो अनंत बार।
अब काललब्धि बदतै दयाल तुम दर्शन पाय भयो खुसाल।

(हे भगवन्, मै चौरासी लाख योनियो मे भटकता हुआ आया, पर काललब्धि नही आयी। आज काललब्धि आयी, आपके दर्शन हुए। भक्ति के कारण मै मगन हुआ।)

ने.: क्या भक्ति से सामाजिक स्नेह संवर्धित होता है ?

वि.: सामाजिक संगठन के लिए पंचकल्याणक, तीर्थयात्रा, रथ-यात्रा आदि कारणभूत हैं। भक्तामर मे, भक्ति मे सगठन शक्ति है, क्योकि भक्ति करने वाले लोग इकट्ठा होते हैं। एक ही माला की मणियाँ होते है।

ने.: एक प्रकार से सामाजिक संगीत वनता है।

वि.: सामाजिक संगीत होता है। भक्ति से कोई सुनते है, कोई श्रद्धा रखते है, कोई स्वयं वोलते है, कोई सुनते है, कोई सुनाते हैं। सबको लाभ मिलता है।

ने.: एक रहस्य समझ मे नही आया, महाराज ! जितने भी शब्द है भक्ति, स्तुति, पूजा- ये सब स्त्रीवाची क्यो है ?

वि.: मुक्ति स्त्रीवाचक है। इस ससार मे सारे जीवन मे मनुष्य के जन्म-मृत्यु का कारण स्त्री है। इससे उन्होंने लिख दिया कि सबसे प्रिय स्त्री मानते हो, तो उससे मुक्त होने के लिए मुक्ति को स्त्री का नाम दे दो।

ने.: शायद भक्ति मे माधुर्य के कारण ऐसा है। भक्ति के बारे मे और बताइये।

वि.: कुन्दकुन्दाचार्य ने भक्तियाँ लिखी है- सिद्ध-भक्ति इत्यादि। उनके अन्त मे 'अञ्चलिकाएँ' लिखी है, प्रार्थना है भगवन्, मुझे भक्ति के लिए किसी ने नियुक्त नही किया। मै किसी के भय से भक्ति नही कर रहा हूँ। मै अंतरग से, स्वेच्छा से भक्ति कर रहा हूँ। भय, लालच अथवा किसी के थोपने से मै भक्ति नही कर रहा हूँ। भक्ति अतरग से निकलनी चाहिये। भक्ति भी एक तरह से शुल्क है। जैसे दुकान मे पैसे देते है, तो माल लेते है, उसी तरह भगवान् की भक्ति भी एक तरह से शुल्क ही है। ऐसा भी हमारे आचार्यों ने कहा।

□□

डॉ. नेमीचन्द जैन : जैनदर्शन मे वीतरागता का महत्त्व अधिक है, लेकिन भक्ति-तत्त्व को उससे जोडने मे कठिनाई होती है, आप क्या सोचते है कि वीतरागता से भक्ति-तत्त्व जुडता है ?

मुनि जयन्तविजय 'मधुकर' : वीतरागता के साथ भक्ति का सबन्ध इतना ही है कि उस वीतरागी प्रभु की हम जितनी भक्ति करते है, उतनी ही वीतरागता प्रकट करने मे हमे क्रमश सहायता मिलती है। वीतरागता की भक्ति और हमारे अपने संकुचित परिणामो का शुद्धिकरण, ये ही वीतरागता की वस्तुस्थिति को समझने मे सहायता कर सकते है; इसलिए वीतराग की भक्ति वीतरागता की भक्ति है, वीतरागता को पाने के निमित्त भक्ति है। भक्ति को उपाध्याय श्री यशोभद्रविजयजी महाराज ने तो यहाँ तक कहा है कि भगवन्, वीतराग की भक्ति ही मुझे चाहिये, क्योकि भक्ति मे ही मुक्ति का आकर्षण भरा पडा है, इसलिए भक्ति भक्त को सर्व प्रकार से अपने रागो से मुक्त कर वीतरागता की ओर ले जाने मे सहायक होती है, अत वीतरागता और भक्ति का सबन्ध योग्य, उत्तम, और समुचित है।

ने.: मैं सोचता हूँ कि हमारी भक्ति मे लौकिक कामना नही है। भक्ति के पीछे आत्मोत्थान का बल है, इसलिए भक्ति आध्यात्मिक उत्थान के लिए है।

ज.: है। भक्ति आध्यात्मिक उत्थान के लिए ही है। भक्ति मे व्यावहारिक और लौकिक किसी प्रकार का संबन्ध होता ही नही है। जो स्वार्थरहित भक्ति है, वही भक्ति है। वही वीतरागता से सबन्ध रखती है।

ने.: क्या स्तोत्र, स्तुति, स्तवन, प्रार्थना, पूजा आदि को जीवन्त भक्ति कह सकते हे ?

ज : निश्चित रूप से भक्ति इनके माध्यम से ही प्रकट होती है। भक्ति की जो धारा है, वह भीतर से प्रवाहित होती है और भक्त अपने भावो को इनके द्वारा ही प्रकट करता हे।

ने.: क्या भक्ति के द्वारा हृदय निर्मल होता है ?

ज.: भक्ति के द्वारा हृदय की निर्मलता होती ही है। ज्यो-ज्यो भक्त भक्ति के प्रवाह मे बहता है, त्यो-त्यो उसे स्वयं की शुद्धि का अनुभव होता है, ज्ञान होता है। जितनी जागृत अवस्था मे वह भक्ति करता है, उतनी ही उसकी निज की आत्मिक निर्मलता समृद्ध होती है।

पूजा : मूर्ति नहीं, मूर्तिमान की

डॉ. नेमीचन्द जैन : पूजा का स्वरूप आम आदमी (कॉमन मेन) के लिए क्या हो सकता है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : भारत की सास्कृतिक परम्परा मे गुणो की पूजा मुख्य मानी गयी है, फिर वह व्यावहारिक (सामाजिक) हो अथवा पारमार्थिक। सर्वश्रेष्ठ गुणी कौन हैं ? परमात्मा, वीतराग भगवान्। वे पूज्य हैं। हम उनकी पूजा करते है, हम उन-जैसा बनना चाहते है-'तद्गुण लब्धये'।

मनुष्य का मन बडा चंचल है। आचार्यों ने धर्म मे उसे स्थिर करने के लिए अनेक आलम्बन/उपाय बताये है, जैसे, भगवान् का नाम-स्मरण, तीर्थंकरो का गुण-गान, पचपरमेष्ठी की स्तुति-स्तोत्र, णमोकार-मन्त्र, जप-जाप इत्यादि। इसी तरह स्थूल रूप मे वीतराग भगवान् की जो निराकार, निरजन, निरावरण, भव्य-दिव्य मूर्ति है, उसके सामने बैठने से मूर्तिमान हमारे सामने प्रकट होने लगता है। हम पूर्तिपूजक नहीं है, मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान के पूजक है। ज्ञान-प्राप्ति के प्रथम माध्यम अक्षर/शब्द ही होते है।

ने.: मूर्ति हमारे लिए अक्षर है और जो गुण-स्तवन है यानी उनके गुणो को अपने जीवन मे प्रकट करने का पुरुषार्थ वह अर्थ है।

वि.: सही है। जैसे हमारा जो तिरगा राष्ट्र-ध्वज है, वह त्याग, सत्य-अहिसा, शान्ति का प्रतीक है। हम इन तत्त्वो/सिद्धान्तो पर आस्था रख कर ही उस प्रतीक-रूप कपडे, या ध्वज को प्रणाम करते हैं।

ने.: यानी हम व्यक्ति की पूजा नही करते, व्यक्तित्व की पूजा करते है।

वि.: बिलकुल ठीक।

ने.: क्या भक्ति की एक-दो शब्दों मे व्याख्या सभव है ?

वि.: भक्ति अर्थात् आत्मानुसन्धान।

ने.: आत्मा की खोज। कहाँ होगी यह खोज़ ?

वि.: भगवान् को हम देखे, बिना-बोले वे मन्दिर मे बैठे है, उनके पास कोई परिग्रह नही है। वे क्या कर रहे है ? वे अपनी आत्मा मे मग्न है। उन्होंने चलना छोड दिया, बोलना छोड दिया, वे तो अपनी आत्मा में डूबे हैं। इस तरह वीतरागता की मूर्ति को देखने के बाद ससार की असारता के भाव आपोआप उत्पन्न होने लगते है, फिर वह स्वय मे सुस्थिर होने के प्रयत्न भी करता है।

ने.. क्या जैन दर्शन से भक्ति की कोई संगति है ?

वि.: दर्शनशास्त्र वडा शुष्क विषय है। शुष्क मै इसलिए कह रहा हूँ कि वह अत्यन्त वुद्धिमान् वर्ग के लिए है। उसमे बारीक-से-बारीक चीर-फाड की गयी है। जैसे, कोई गहन शल्य (ऑपरेशन) करता है, तो वह आम डॉक्टर नही कर सकता, उसके लिए विशेषज्ञ जरूरी है, इसी तरह दर्शनशास्त्र विशिष्ट लोगो के लिए है। दर्शनशास्त्र के प्रणेता आचार्य समन्तभद्र भी भक्ति-मार्ग पर उतर आये। उनके जितने भी ग्रन्थ है, वे प्राय भक्तिपरक है। जैसे, स्वयम्भूस्तोत्र है, उसमे भगवान् की भक्ति के साथ-साथ तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन भी है, इस तथ्य को गहराई में समझना जरूरी है कि भक्ति का अकुर है, वही मुक्ति के लिए बीज-रूप है।

ने.: यही अकुर धीरे-धीरे वृक्ष बनता है।

वि.· जैसे बीज से वृक्ष होता है, अकुर से वृक्ष होता है, वैसे ही भक्ति एक प्रारभिक प्रक्रिया है, एक विधि है, मोक्ष-मार्ग तक ले जाने वाली, ससार-सागर को पार कराने वाली एक समर्थ नौका है। जैसे इस नौका से किनारे पहुँचा जा सकता है, वैसे ही धीरे-धीरे मोक्ष तक पहुँचने के लिए भक्ति भी वहुत वडा सहारा है।

ने.: पूजा का जो रूप आज प्रचलित है, क्या उसमे कोई परिवर्तन या परिवर्धन की गुजाइश है ?

वि.: वैसे देखा जाए, तो पूजा का जो रूप आज प्रचलित है, उसमे ७०-७५ प्रतिशत तो परिशुद्ध ही है, फिर भी अडोस-पडोस के कारण कुछ दोष आ गये है। भक्तो ने भक्ति के अतिरेक मे जो जोड दिया है, उसके कारण उसमे कुछ विकृति जरूर आयी है। हम इस विकृति को युक्ति-प्रयुक्ति, या आगम-ज्ञान के द्वारा परिमार्जित करके छोडते भी जा रहे है।

सच तो यह है कि भगवान् की जो पूजा है, वह भाव-प्रधान है, द्रव्यपूजा तो माध्यम है, मात्र साधन को पकड वैठे है, इसलिए हमे सफलता नही मिल रही है। अष्टद्रव्य है, आरती है, स्तुति-स्तोत्र है, अष्टक के पद है, ये सव साधन है, साध्य तो भावपूजा है, पवित्र भावना और श्रद्धा है, चित्त की एकाग्रता है।

ने.: मूल तो भावपूजा ही है।

वि.: वास्तव मे, भावपूजा मे मग्न होने पर ही आनन्द आता है, द्रव्यपूजा मे नहीं।

ने.: पूजा मे आह्वाननम् शब्द आता है, यहाँ किसे बुलाया जाता है ?

वि.: जब भगवान् को आमन्त्रित करना है, तब इसके लिए कोई-न-कोई शब्द तो चाहिये, जैसे . आइये, पधारिये। यह पूजा का शब्द है। इसका यही अर्थ है।

ने.: शिष्टाचार ?

वि.· वाह, बहुत अच्छा शब्द बताया आपने-शिष्टाचार। मूर्ति के सामने खडे हो जाना, हाथ जोडना, आह्वान करना, आदर-सूचक शब्द बोलना उनके गुणो का चिन्तवन करना यह शिष्टाचार है।

ने.: विनय है, श्रावक की शालीनता है। पूजा का उद्देश्य क्या है ?

वि.: पूज्य, पूजा, पूजक, पूजा का फल - ये चार बाते बतायी गयी है। पूज्य कौन है ? हमारे वीतराग भगवान्, सिद्ध परमात्मा, उनकी पूजा इस प्रकार करना है कि कम-से-कम सामग्री मे कम-से-कम दोष लगे- इसका ख्याल रखते हुए शास्त्रोक्त विधि के अनुसार वह हो। पूजक वह स्वयं है, जो भव्य, सात्त्विक और सदाचारी है। पूजा का फल है मुक्ति।

ने.. पूजा भक्ति मे समाविष्ट है। इसकी संभावना उसमे है। पूजा मे द्रव्यो का क्या महत्त्व है ?

वि.. समन्तभद्राचार्य ने 'स्वयम्भूस्तोत्र' मे 'अष्टक' शब्द का प्रयोग किया है। अष्टक शब्द का अर्थ आठ कर्म भी है, अष्टक का अर्थ आठ द्रव्य भी है। इसमे श्लेष है। द्रव्य आठ है जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल, अन्त मे अर्घ्य। 'जन्मजरामृत्यु विनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा' - जल को जन्म-जरामृत्यु के विनाश का प्रतीक मान कर चढाना है।

ने.: जल किसी भी चीज को धो कर साफ करने के लिए है।

वि.: हाँ, प्रक्षालन के लिए जल है। यह गगा का होता है, क्षीरसमुद्र का भी होता है, वह शुद्ध है। जल जैसे शीतल है, वैसे ही हमारी आत्मा भी शीतल है। जल मे जैसे प्रवाह (गति) है, वैसे ही हमारी आत्मा ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग से प्रवहमान है। जल को जीवन का प्रतीक भी माना गया है।

चन्दन के विषय मे कहा गया है 'ससारताप विनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा'। वह शीतल है, इसलिए उसे प्रतीक-रूप मे पूजा मे रखते है।

ने.: सुगन्ध का भी प्रतीक वह है।

वि.: सो तो है ही।

ने.: आध्यात्मिकता की भी अपनी सुगन्ध होती है।

वि.: कुन्दकुन्दाचार्य ने एक बात कही कि तुम चन्दन को सुन्दर कहते हो, फूल को सुन्दर कहते हो, लेकिन इन सारे पदार्थों की सुन्दरता को जानने वाला कौन है ? वह तो तुम्हारी आत्मा ही है, है कोई उपमा उसके इस सौन्दर्य की ?

ने.: आतमसौन्दर्य को उद्‌घाटित करने के लिए ही चन्दन को चुना गया है ?

वि.: हाँ, अब अक्षत ले, इसे हमारे यहाँ बहुत श्रेष्ठ माना है। अक्षत के ऊपर का जो छिल्का होता है, वह है बाहर; अन्दर जो भी है वह बिल्कुल वीतराग है, नग्न है और भेदविज्ञान का प्रतीक है। जैसे, आप शालि या धान को बो दे, तो वह उगता है, लेकिन अक्षत (चावल) बोयें, तो वह उगता नही है, इसीलिए कहा है 'अक्षरपद प्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा'। शुभ्र (सफेद) को शुभ माना है। यह शुभ्रता का प्रतीक है। अक्षत अखण्डता का प्रतीक है, क्योकि आत्मा अभेद/अखण्ड है।

ने. अक्षत का रहस्य तो यहाँ है, उसे जन्म-मरण से जोडा गया है, यानी जन्म-मरण को दुबारा बोया नही जाना है।

वि.: सही बात कही आपने।

ने.: जन्म-मरण की पद्धति ही समाप्त करनी है, इसीलिए अक्षत को पूजा मे रखा गया है ?

वि.: हाँ, अक्षत को शुभ तो माना ही गया है। शादी के निमन्त्रण मे चार अक्षत रखते है; मागलिक कार्यों मे अक्षत का उपयोग होता है।

ने.: इसका सास्कृतिक महत्त्व भी है।

वि.: पूजा मे 'पू' का अर्थ पुष्प और 'जेय्' यानी चढाना है। अब प्रश्न यह है कि पूजा मे फूल (पुष्प) को क्यो चुना गया है ? फूल मोहवर्धक है। शादी मे फूलो की माला पहिना कर मोह मे फँस जाते है। स्त्रियाँ फूल को जूडे मे गूँथती है। मोहवर्धक होने से भगवान् के सान्निध्य मे उनके चरणो मे फूल चढ़ा कर पूजक विनती करता है हे भगवन्, आपने मोह का नाश कर दिया है, उसे जीत लिया है, इसलिए 'कामवाण विध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा' फूल को काम का प्रतीक भी माना है, उसे आपने जीत लिया है, अत मै भी आपके चरणो मे इसीलिए आया हूँ कि 'काम' को जीत सकूँ।

ने.: कामदेव को भी पुष्प प्रिय हैं। क्या पूजा मे मोह-विसर्जन के लिए पुष्प को रखा गया है ?

वि.: हाँ, दुनिया के समस्त प्राणी क्षुधा से पीड़ित है। भगवान् ही एक ऐसे है, जिन्होने क्षुधा को नष्ट कर दिया है। नैवेद्य (अन्न) इसीलिए चढाते है कि मै भी अपनी क्षुधा को नष्ट कर सकूँ। मेरा भी क्षुधा रोग नष्ट हो जाए। यह सब-मे-बडा रोग है।

ने.: भूख एक प्रकार की नही, नाना प्रकार की है, यहाँ उन सबको नष्ट करने का प्रयोजन है ?

वि.: हाँ; अब दीप है। 'केवलज्ञान प्रकाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा'। दीप स्व-पर प्रकाशक है। स्वयं प्रकाशित है और दूसरे को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार हमारी आत्मा भी स्व-पर प्रकाशक है।

ने.: उसकी लौ 'ऊर्ध्वगतिक' है; इसलिए भी उसका महत्त्व है।

वि.: जब भौतिक दीपक मे इतनी शक्ति है, तब फिर ज्ञान-दीप के प्रज्ज्वलित हो जाने पर कितना अन्धकार विनष्ट हो जाता है स्वयं का, इसका तो कोई वर्णन ही नही कर सकता। 'केवलज्ञान प्रकाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा' मे कर्म-निर्जरा की बात है। हमारे यहाँ ध्यान को प्रखर अग्नि माना गया है। 'अग्निर्ब्रह्म' भगवान् को अग्नि माना गया, क्योकि जैसे अग्नि सारी अशुद्धियो को जला डालती है, वैसे ही ध्यानाग्नि मे आत्मा की सारी अशुद्धियाँ भस्म हो जाती हैं।

ने.: सारी मलिनताएँ नष्ट हो जाती हैं।

वि.· उसके बाद है फल, 'मोक्षप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा'। मैंने पूजा की, मेरे लिए ससार के सारे पदार्थ देय हैं। मुझे तो आप-जैसा मुक्त होना है। इस तरह अष्टद्रव्य चढाते समय उसके परिणाम विशुद्ध हो जाते है, कर्मों की अविरल निर्जरा होने लगती है, पाप प्रकृति पुण्य प्रकृति मे बदलने लगती है। इससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति उसे हो सकती है। यही कारण है कि पूजा को सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया कहा गया है।

ने.: यह मन को व्यस्त भी रखती है।

वि.: यह बात 'आत्मानुशासन' मे है। मन को मर्कट कहा है। मन बन्दर है। किसी फल-लदे/लगे वृक्ष पर वह बैठा हो, तो वह उसी पर रमता है। इसी प्रकार चचल मन को रमाने के लिए पूजा है। स्वाध्याय भी है।

ने.· पूजारूपी वृक्ष मे ये आठ फल (अष्टद्रव्य) है, मनरूपी बन्दर उनमे रमा रहता है।

वि.: बहुत अच्छी उपमा है।

ने.: पूजा को शब्दो तक ही सीमित क्यो रखा जाए ? जब हम पूजा पढते है, तब हमारा ध्यान प्राय अर्थ की ओर नही जाता/रहता है।

वि.. इस कमी को पूरा करने की दिशा मे द्यानतरायजी, दौलतरामजी, बनारसीदासजी आदि कवियो ने पुरुषार्थ किया है। वे स्वय उच्च कोटि के तत्त्वज्ञ होते हुए भी भक्त थे, उन्होंने लोकभाषा मे विविध पूजाओ की रचना की है, जो आज भी लोकप्रिय और लोकरजक हैं। कन्नड मे भावपूजा है। मराठी मे भी भावपूजा प्रचलित है।

ने.: भक्ति को ज्ञानपरक होना चाहिये, या भावपरक ?

वि.: ज्ञानपरक होना जरूरी है, भावपरक भी वह हो।

ने.: यह तो आपने अनेकान्तपरक बात कह दी।

वि.: ऐसा नही है, यह इसलिए कहा कि पूजा को ज्ञानपरक होना चाहिये, क्योकि पूजा के अर्थ को जान कर/समझ कर करने मे अधिक लाभ है। भावपरक इसलिए कि उसमे श्रद्धा-तत्त्व नही होगा, तो केवल ज्ञानपरक होने से वह पगु बन जाएगी, उससे कोई विशेष लाभ नही होगा। इस तरह ज्ञान और भक्ति-दोनो एक-ही सिक्के के दो पहलू है।

ने.: ज्ञान की पृष्ठभूमि पर भक्ति होनी चाहिये। पृष्ठभूमि यदि भाव-शून्य रहेगी, तो कोई मतलब नही रहेगा, यानी भक्ति को ज्ञानपरक होने के साथ ही भावपरक भी होना चाहिये। लगता है, भावपरक वह पहले है, ज्ञानपरक बाद मे।

वि.: पहले, या बाद मे ऐसा नही है। दोनो साथ-साथ, युगपत् हैं। युगपत् होने से यहाँ भी इनका आगे-पीछे होना कठिन है।

ने.: पूजा मे दोनो का 'परिणय' होना चाहिये।

वि. जैसे सूर्य और प्रकाश युगपत् हैं वैसे।

ने.. ज्ञान और भक्ति युगपत् हैं। पूजा मे भी ऐसा ही है। श्रद्धा-तत्त्व की क्या भूमिका है ?

वि.: हमारे यहाँ धर्मध्यान की जो शुरूआत है, वह बिना सम्यग्दर्शन के नहीं है, क्योकि लोक-व्यवहार का अकुर श्रद्धा की धरती पर ही जम सकता है, श्रद्धा टिकनी चाहिये। यदि श्रद्धा नही होगी, तो फिर ज्ञान और चरित्र भटकते रहेगे, यही बात पूजा मे है।

ने.: श्रद्धा धुरी है। इसी से वह बँधा है।

वि.· श्रद्धा स्थिरता लाने मे सहायक होती है। जो 'ध्रौव्य' गुण है, वह आत्मा का प्रतीक है।

ने.· श्रद्धा पूजा का 'ध्रौव्य' है, ऐसा कह सकते है।

वि.: विलकुल कह सकते है।

ने.: उसमे उत्पाद और व्यय कर्म है।

वि.· आपने वहुत वड़ी वात कही है।

ने.. सौन्दर्य-तत्त्व का पूजा मे कोई स्थान है ?

वि.· आत्मा ही सुन्दर है। दूसरे की सुन्दरता को जानने की शक्ति उसमे है; अत आत्मा ही सुन्दरतम और सर्वश्रेष्ठ है।

एक बात और बताऊँ, एक चर्चा आयी है। किसी ने कह दिया कि सोना सुन्दर है, कीमती है और शाश्वत भी है, परन्तु उसमें एक कमी है . सुगन्ध नही है।

ने.: 'सोने-मे-सुगन्ध' इसीलिए एक कहावत है।

वि.: और फिर फूल है; उसमे सुगन्ध है, परन्तु वह अल्पायु है। गन्ना है, वह बहुत मोटा है, उसमे फल लगते तो कितने मीठे होते, एक कमी उसमे भी रह गयी। चन्दन का पेड़ स्वय सुगन्धित है, पर उसके फूल सुगन्धित नहीं हैं। इस तरह हर वस्तु को ढूँढते चले जाइये, उसमें एक-न-एक कमी मिलती जाएगी, लेकिन आत्मा एक ऐसा अस्तित्व है, जिसमे सौन्दर्य ही क्यो; सम्पूर्ण/अनन्त गुण भण्डारित/सचित है।

ने.: वह सच्चिदानन्द जो है। 'पूजा-से-पुण्य' इसे थोडा स्पष्ट कीजिये।

वि.: पूजा मे पुण्यबन्ध अधिक होता है, ऐसा शास्त्रो मे लिखा है, परन्तु जैनाचार्यों का कथन है कि भक्ति से पुण्यबन्ध भले ही हो परम्परा से, लेकिन वह मोक्ष का कारण है। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पचास्तिकाय' मे स्पष्ट कहा है कि भक्ति परम्परा से मोक्ष का कारण/साधन है।

ने.: पूजा मे संगीत की क्या भूमिका है ?

वि.: हम जो भी बोलते है- शब्द, अक्षर, मात्रा- वे सब शुद्ध होने चाहिये। स्तुति, पूजा-पाठ जितने भी स्तोत्र हो, उन्हे शुद्ध बोलें और राग-रागिनी के साथ बोलें। पद को उसके छन्द के अनुसार बोलने से सरसता का अनुभव होता है। पद को बिना छन्द से बोलने को दोषपूर्ण माना गया है; क्योकि पद को अक्षर-मात्रा आदि से सयोजित किया जाता है। इसी तरह पूजा तो गेय हैं ही, छन्दोबद्ध भी है। पूजा करते समय और लोग भी होते है, अत पूजा के सगीतमय होने से उनमे श्रद्धा के साथ-साथ सरसता और समरसता बढ जाती है। सगीत की विशेषता ही यह है कि वह अकेलेपन का और शुष्कता का अनुभव नहीं होने देता।

ने.: क्या सामूहिक पूजा नामक कोई प्रकार हो सकता है ?

वि.: जो सामूहिक पूजा होती है, उससे समाज सगठित होता है, लोक-श्रद्धा और लोकरुचि पूजा के प्रति समाज मे बढती है, मैत्री भाव भी बढ़ता है। धर्मात्मा को धर्मात्मा का सहारा मिलता है। इस तरह सामूहिक पूजा से सामाजिक संगठन के साथ-साथ आध्यात्मिक सगठन भी हो सकता है।

ने.: देव-गुरु-शास्त्र की पूजा मे शास्त्र-पूजा क्या है ?

वि.: सच बात तो यह है कि शास्त्र-पूजा कहो, या उसे स्वाध्याय कहो, पूजा मे हम भगवान् की मूर्ति के दर्शन करते है, उसकी प्रक्षाल करते है, यह एक प्रक्रिया है। इसी तरह शास्त्रो को वेष्टन मे बाँधना आदि भी है। जैसे बादाम का छिलका उतारे बिना हम उसका स्वाद नही ले सकते, वैसे ही शास्त्रो के वेष्टन खोल कर उनके पृष्ठो को जब तक हम पढ़ते नही, उनके तत्त्व को जानते नही, तो फिर शास्त्र-पूजा कहाँ ?

ने.: तत्त्वबोध जरूरी है।

वि.: तत्त्वबोध ही शास्त्र-पूजा है।

ने.: तत्त्वबोध तो बिना वेष्टन खोले हुए भी हो सकता है ?

वि.: कही हुई, सुनी हुई बात तो परत प्रमाण है, स्वत प्रमाण तो स्वानुभूति ही है। यह जैन सिद्धान्त की विशेषता है। शास्त्र-पठन/वाचन से मन उसमे एकाग्र हो जाता है, आँखे उसमें लगी रहती है, चिन्तन चलता रहता है, है तो यह परत प्रमाण। इसमे कोई शक नही है कि स्वानुभूति ही सबसे बडा प्रमाण है।

ने.: स्वाध्याय का अपना महत्त्व है।

वि.: है, लेकिन तत्त्वज्ञान को जीवन मे उतारना बहुत ज़रूरी है। हमारे यहाँ 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणी मोक्षमार्ग,' कहा है। तीनो मे अभेद दर्शाया गया है।

ने.: आराधना क्या है ?

वि.: आराधना एक तरह की आत्मोपासना है। संगीत के सन्दर्भ मे एक बात और। पूजा की समाप्ति पर आरती बोलते है, शान्तिधारा करते है, सब खडे हो जाते है, साथ-साथ बोलते है, आनन्दमय वातावरण हो जाता है। मनुष्य चाहे जितना बुद्धिमान हो, शास्त्रकारो ने लिखा है कि उसे भी पूजा मे रुचि लेना चाहिये। कितना भी बुद्धिजीवी हो, यदि पूजा-स्तुति-स्तोत्र इत्यादि को वह अपनाता है, तो उससे उसे आनन्द भी मिलता है, और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे सहायता भी।

ने.: पूजा का प्रारभ कब से माना जा सकता है, भगवान् आदिनाथ के काल से ?

वि.: ऐसे तो पूजा के बारे मे शास्त्रो मे वर्णन आता है, जब तपस्या के बाद भगवान् आदिनाथ को केवलज्ञान हो गया, तो भरत चक्रवर्ती के पास एक आदमी यह समाचार ले कर आया, ठीक उसी समय दूसरा आदमी आया कि शस्त्रागार मे चक्र-रत्न की प्राप्ति हुई है, उसी समय तीसरा आदमी पहुँचा कि आपको पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। तीनो समाचार एक साथ सुन कर भरत गद्गद हो उठे। वे सोचने लगे कि सर्वप्रथम क्या करना है ? तो उन्होंने केवलज्ञान की पूजा, और भगवान की पूजा को सर्वोपरि मान भगवान् आदिनाथ की पूजा के लिए प्रस्थान किया। पूजा की परिपाटी तब से चली आ रही है, यह तो इस युग की बात है, वैसे, हमारे यहाँ चैत्यालय, मूर्ति, मन्दिर जो अकृत्रिम है, उन्हे अनादि माना गया है; इसीलिए पूजा को भी अनादि मानने मे कोई आपत्ति नहीं है।

ने.: इतिहास की पहुँच यहाँ तक है, वैसे तो पूजा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। पूजा की इस चर्चा के समापन पर सन्देश-रूप दो शब्द कहिये।

वि.: पूजा केवल मन्दिर तक ही सीमित नही होनी चाहिये। पूजा में अभेदता होनी चाहिये। दुकानो, मकानों और मन्दिरो की पूजा मे एकरूपता होनी आश्यक है। पूजा की सार्थकता वस्तुत. इसमें है कि उसके स्पर्श से हमारे घर-आँगन, दुकान, रोकड़-बही कल-कारखाने, कार्यालय तथा अन्य सार्वजनिक स्थान भी उत्तरोत्तर पवित्र बने।

बाहर क्यों : भीतर चलें

डॉ. नेमीचन्द जैन : यदि किसी सामान्य आदमी को समझाना हो कि पूजा क्या है, तो कैसे समझायेगे ?

केवलमुनि : जैनो मे पूजा के अनेक रूप प्रचलित हैं। स्थानकवासी मान्यता के अनुसार मै द्रव्यपूजा को महत्त्व नही देता हूँ।

ने.: द्रव्यपूजा से आपका क्या तात्पर्य है ?

के.: बाह्य पदार्थों से अपने आराध्य के प्रति जो भाव प्रकट करना है, वह द्रव्यपूजा है। आन्तरिक भावनाओ से हम अपने आराध्य के प्रति जो विचार प्रकट करते है, उसके प्रति जो अनुराग रखते है, वह भावपूजा है। हमारे यहाँ भावपूजा को ही महत्त्व दिया गया है, द्रव्यपूजा को नहीं।

ने.: स्थानकवासी धार्मिक ढाँचे में द्रव्यपूजा को महत्त्व नहीं दिया गया है, भावपूजा को दिया गया है; यानी अन्तर्मुखता को महत्त्व दिया गया है ?

के.: हाँ; जैनधर्म का स्वर ही अन्तर्मुख है, अन्तर की ओर आना है। जब कि हम देखते है कि दूसरे धर्मों मे अन्तर से बाह्य की तरफ आया जा रहा है, जैनधर्म बाहर से अन्दर की ओर जाने की प्रेरणा देता है। अन्दर की ओर आने से जितनी बाह्य चीजे है, वे धीरे-धीरे कम होती जाती हैं। परिग्रह उत्तरोतर घटता जाता है और हमारे क़दम मुक्ति की ओर बढने लगते है; इसलिए पूजा मे भी द्रव्य और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं।

ने.: ऐसे दो भेद कर देगे ?

के.: हाँ, द्रव्यपूजा में बाह्य पदार्थों को ले कर पूजा की जाती है और भावपूजा मे अपने अन्तरंग के भावो को अपने आराध्य के चरणो में अर्पित किया जाता है। अपने आराध्य के चरणो मे भावो, विचारो और भक्ति के पुष्पो को समर्पित किया जाता है। यह भावपूजा है।

ने.: कौन-से विचार आप उन्हे समर्पित करते है ?

के.: उनके गुणो को ले कर हमारा जो चिन्तन चलता है, उसी को हम भक्तिपूर्वक चरणो मे निवेदित करते है। जैसे 'भक्तामर स्तोत्र' के अन्तिम श्लोक में आचार्य मानतुग ने बताया है कि मैंने

भक्ति की एक माला तैयार की है, गुणो की माला। उनके गुणानुवाद की वह जो माला है, वह कोई द्रव्य-माला नही है, भावमाला है।

ने.: क्या जैनदर्शन के साथ इस सबकी कोई स्पष्ट संगति है ?

के.: मालूम होता है कि भगवान् महावीर के बाद जब १२ वर्षीय दुष्काल पडा और जब द्रव्यपूजा का अधिक जोर था, तब जैन समाज ने बहुत-सी बाते अपना ली।

ने.: यह ऐतिहासिक तथ्य है ?

के.: है, क्योकि हमारे जो बारह अंग है। महावीर की वाणी द्वादशागी है, वीतराग की वाणी द्वादशागी होती है, तीर्थंकर की वाणी द्वादशांगी होती है। उसमे-से बारहवाँ तो है नहीं, ग्यारह है। ग्यारह मे-से जो उपलब्ध हैं, उनमे द्रव्यपूजा का कही कोई विधान नही है कि श्रावक किस प्रकार पूजा करे। साधु द्रव्यपूजा करते नही है। वहाँ जो कुछ है, वह सब भाव से ही संबन्धित है। तीर्थंकरो के, अपने गुरुओ के चरणो मे जो भी निवेदित है, वहाँ वह भाव-ही-भाव है।

ने.: मै जानना चाहता हूँ कि स्थानकवासी धार्मिक सरचना मे द्रव्यपूजा की अनुपस्थिति का कोई दार्शनिक कारण है।

के.: एक चीज़ हमेशा से रही है - वैष्णव धर्म में भी - निराकार उपासना, साकार उपासना। आज से नहीं, शुरू से है। सगुण और निर्गुण नाम वैष्णव सन्तो ने लिये है। जैनधर्म मे भी ये धाराएँ चलीं। स्थानकवासी मान्यताएँ उनमे आती है, जिनमे निराकार-निर्गुण उपासना की प्रमुखता है।

ने.: तय है कि स्थानकवासी धार्मिक ढाँचे मे मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नही है, लेकिन गुरु-पूजा, यानी साधु-के-प्रति-विनय, शास्त्र-पूजा यानी स्वाध्याय-के-प्रति-विनय, क्या इन्हे हम पूजा का रूपान्तरण नही मानेगे ?

के : भावपूजा तो है ही। भावना के बिना, भक्ति के विना, अनुराग के विना आदमी आगे बढ़ ही नही सकता। श्रद्धा और दर्शन तो प्राण है हमारी हर एक क्रिया के। मै एक स्थानकवासी हूँ, इसीलिए यह नहीं कह रहा हूँ, वल्कि अब तक जो अनुभव मैंने किया है, उसमे-से यह पाया है कि द्रव्य की ओर जब आदमी बढता है, तो वह उसी मे अटक जाता है। उसका मन जितना रमना चाहिये, उतना नही रमता है, लेकिन जब हम इस सारे क्रिया-कलाप को बन्द कर अपने अन्तर की ओर मुड़ जाते है, अन्तर से जब भक्ति करते है, उसका आनन्द अलग ही होता है। हमने जब अपने आगमो मे देखा, तो उनमे देवताओ का वर्णन तो है कि वे द्रव्यपूजा करते है, लेकिन श्रावक या गृहस्थ ऐसी पूजा करते हो, इसका कही उल्लेख नहीं है।

ने.: क्या आराधना और पूजा मे कोई अन्तर है ?

के.: पूजा को हम जिस रूप मे लेते है, उसमें और आराधना मे थोड़ा अन्तर हो जाता है। आराधना मे तल्लीनता आती है। पूजा मे वहिर्मुखता वनी रहती है। एकाग्रता वहाँ नही बन पाती है। आराधना का मतलव है, हम तल्लीन हो गये, आराध्य मे मग्न हो गये। आराधना मे दूरी समाप्त हो जाती है।

ने.: सान्निध्य का अनुभव होता है, कोई दीवार नही रहती है। पूर्ण सान्निध्य; उत्तरोत्तर सान्निध्य है वह। पूजा की अपेक्षा आराधना अधिक सार्थक प्रक्रिया आपको लगती है। स्थानकवासी साध-साध्वी बड़ी संख्या मे है, पूजा का रूपान्तरण इनमे क्या है ? इनके लिए भावपूजा किस तरह की है ?

के.: वे सब (साधु-साध्वी) प्रतिक्रमण करते है, स्वाध्याय करते है, ध्यान करते है। प्रतिक्रमण का समय निश्चित है पिछली रात्रि और सूर्यास्त होने के बाद। उसके अलावा भी रखा है कि स्वाध्याय करो, चिन्तन करों, मनन करो। कोई करता है; कोई नही भी करता है, लेकिन समय तय है। स्वाध्याय करना चाहिये, इस तरह का विधान है।

ने.: साधु-साध्वी की चर्याओ मे कोई फर्क तो नही है ?

के.: विधान दोनो के लिए एक-जैसा है। यही पूजा है। पूजा का कोई रूप स्वीकृत है, तो यही है।

ने.: कहीं पढ रहा था कि वीतरागता मे परमानुराग ही भक्ति है। इसे थोडा-सा स्पष्ट करेगे।

के.: कोई भी वस्तु मे, किसी भी कार्य मे सिद्धि तभी मिल सकती है, जब उसमे तन्मयता हो; तल्लीनता हो, चाहे वह विद्याध्ययन हो, चाहे व्यापार; चाहे सयम का मार्ग हो; जब तक तल्लीनता नही आयेगी, तब तक काम बनेगा नहीं। परमानुराग यानी उदात्त भक्ति मे भी तीव्रता आये बिना तल्लीनता नही आती और तल्लीनता आये बिना सिद्धि सभव नहीं होती।

ने.: जो मूर्तिपूजक है, वे तो वीतरागता की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करते है; उसे प्रतिनिधि मान कर पूजा करते है, लेकिन जो स्थानकवासी है, वे तो वीतरागता की एक तरह से भाववाचक (एब्स्ट्रेक्ट) पूजा करते है; यह तो कठिन कार्य है, एकदम सहज यह नही लगता।

मूर्ति : स्वरूप-स्मरण का सटीक आलम्बन

डॉ. नेमीचन्द जैन : पूजा की प्रतिष्ठा सारे जैन समाज मे है। आप एक प्रबुद्ध साध्वी है। पूज के संबन्ध मे मै आपका दृष्टिकोण समझना चाहता हूँ। सबमे पहले यह जानना चाहूँगा कि यदि हा एक सामान्य व्यक्ति को पूजा के विषय मे समझाना हो, कम-से-कम शब्दो मे, तो उसे वह कैर बतायेगे ?

साध्वीश्री मणिप्रभा : पूजा शब्द का अर्चना के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। पूज जैनधर्ममें विशेष रूप से तीर्थंकरों की ही होती आ रही है। उनकी प्रतिकृतिरूप प्रतिमा के माध्यम से श्रावक और साधु दोनो उनकी पूजा करते है। श्रावक के लिए द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा, औ साधुवर्ग के लिए मात्र भाव-पूजा का विधान है।

ने.: क्या पूजा के लिए मन्दिर जाना आवश्यक है ?

म.. मन्दिर जाने से भावना वनती है जैसे-यदि कोई व्यक्ति मन्दिर जाता है, तो वहाँ जाने पर उसके मुख से सहज ही 'नि सही' निकलता है।

ने.: सहज यानी सस्कारवश।

म.: सहज का अर्थ यहाँ ज्ञान से नही है।

ने.: जो भी उसे विरासत मे परिवार से मिला है।

म.: संस्कारवश ही निकलता है, क्योकि मन्दिर मे जाने वाले कुछ जैन ऐसे भी हैं, जिन्हे मूर्तिपूजा के सस्कार जन्म से नही मिले है।

ने.: इसका मतलव तो यह हुआ कि आज जो पूजा प्रचलित है, वह संस्कारमूलक है।

म.: आगम-सम्मत भी है।

ने.: आपने अभी द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो प्रकार वताये। इन दोनो मे अन्तर क्या है ?

म.: द्रव्यपूजा का अर्थ है, जिस पूजा मे द्रव्यो का उपयोग हो-पदार्थों की व्यवस्था हो, जैसे, जल, चन्दन, धूप, दीप आदि।

ने.: अष्टद्रव्य।

म.: हाँ, जिन्हे पूजा मे लिया जाता है। इनकी अपेक्षा वह द्रव्यपूजा है। इनके साथ अग और अग्र पूजाएँ है।

ने.· ये क्या हैं ?

म.. 'अग्र' का अर्थ है · मूर्ति के सम्मुख पदार्थों की स्थापना, जैसे दीप, धूप, नैवेद्य आदि।

ने.· इस पूजा मे वोलते है और द्रव्य चढाते है ?

म : हाँ, इसके साथ वोलने और चढ़ाने की व्यवस्था वरावर जुडी रहती है।

ने.: अग पूजा क्या है ?

म.: यह शरीर से सम्वन्धित है, जहाँ मूर्ति पर चन्दन का लेप भी करना है।

ने.· इनमे उत्कृष्ट किसे माने, अग्र को, या अग को ?

म.: पूजा मे दोनो का ही समावेश हो जाता है।

ने.· समावेश तो हो जाता है, लेकिन कोई एक करे, दूसरी न करे, तो ऐसा चल सकता है ?

म.: अंग पूजा के बाद अग्र पूजा करते है। इसका पूजा से सबन्ध है। और जो करते है, दोनो ही करते है। जिनकी द्रव्यपूजा मे आस्था नहीं है, विश्वास नही है, वे न अगपूजा करते है और न अग्रपूजा।

ने.: श्रावक जो द्रव्यपूजा और भावपूजा करता है, वह तो मिश्रित रहती है।

म.: उसका द्रव्य और भाव दोनो पूजाओ से सबन्ध रहता है।

ने.: कई बार द्रव्यपूजा कम, भावपूजा अधिक, कई बार भावपूजा कम, दव्यपूजा अधिक होती है।

म.: ऐसे श्रावक भी है, जो द्रव्यपूजा से निवृत्त हो कर मात्र भावपूजा करते है।

ने.: अच्छा।

म.: पहले द्रव्यपूजा करेगा; जैसे पहले अभिषेक की क्रिया, नैवेद्य चढाने की क्रिया, उसके बाद पाठ करता है जिसमे चैत्यवन्दन, नमोत्थुणं, भावस्तव है; यह गुणो की वन्दना है।

ने.: द्रव्य से हट कर वह भाव मे आएगा-गुणो की वन्दना करते हुए, और तब फिर भावपूजा ही रह जाएगी।

म.: द्रव्य को वह हटा देगा, 'नि सही' कह कर।

ने.: 'नि सही' का क्या अर्थ है ?

म.: निषेध।

ने.: क्या उसका कोई दूसरा अर्थ नही है ?

म.: श्वेताम्बर परम्परा मे 'नि सही' का जो प्रयोग किया जाता है वह ऐसा ही है। श्रावक मन्दिर जाने के लिए जब घर से निकलता है, तब वहीं से उसकी भावना बननी चाहिये, ताकि मन्दिर से सबन्धित स्थितियो को छोड़ अन्य सबका त्याग हो सके। गृहस्थी से सबन्धित पदार्थों के बारे में सोचना, बोलना वह बन्द कर देता है, उनका घर से निकल ते ही त्याग हो जाता है। (हो जाना चाहिये)। प्रथम 'नि सही' यही है। इसके बाद जब वह मन्दिर मे प्रवेश करता है, तब फिर 'नि सही' कहता है। यह है द्वितीय 'नि सही', और जब वह द्रव्यपूजा से निवृत्त होता है, तब तीसरी 'नि·सही' संपन्न होती है। इस तरह वह भाव-वन्दना के लिए पूरी तरह तैयार/तत्पर हो जाता है।

ने.: श्रावक के लिए तीन पीढियाँ है - 'नि सही' के रूप मे। पहली, जब वह घर से चलता है, दूसरी, जब वह मन्दिर मे प्रवेश करता है, और तीसरी जब उसकी द्रव्यपूजा समाप्त होती है। इस प्रकार तीन सीढियाँ जब वह (श्रावक) चढ़ लेता है, तब उसकी पूजा मे उत्तमता उत्तरोत्तर बढ जाती है। साधु द्वारा की जाने वाली और श्रावक द्वारा की जाने वाली पूजाओ मे क्या अन्तर है ?

म.: साधु केवल भावपूजा करते है।

ने.: भावपूजा, या भाववन्दना।

म.: साधु भाववन्दना करते है, क्योकि द्रव्य-व्यवस्था से तो वे अलग है।

ने.: यदि पूजा में-से भक्ति-तत्त्व को निकाल दे तो ?

म.: जैन भक्ति वीतरागता के प्रति राग है।

ने. राग तो है न ?

म.: वह आये बिना रहेगा नहीं। जब तक वीतरागता के प्रति राग नही होगा, तब तक सासारिक पदार्थों के प्रति मोह का घनत्व बना रहेगा। वीतरागता के प्रति राग होने पर ही जगत् के प्रति उदासीनता आयेगी। भक्ति बीच की भूमिका है।

ने.: प्रश्न उठता है कि जब हम मूर्ति मे कर्तृत्व नही मानते, नही मानते कि वह हमे कुछ दे सकती है, तो फिर उसकी जरूरत ही क्या है ?

म.: यहाँ तो वस्तु-स्वातन्त्र्य है। यहाँ लेन-देन की कोई व्यवस्था नहीं है। हम देखते है कि आगम-वेत्ता आचार्यों ने भक्ति के वशीभूत हो कर भी तत्त्व परिचायक शब्दो का प्रयोग किया है।

ने : यही तो विसगति है।

म.: हृदय मे जब भी भक्ति-तत्त्व का आविर्भाव हुआ है, आराध्य मे कर्तृत्व का आरोप किया गया है। जब कर्तृत्व का आरोप होता है, यथार्थ मे भक्ति का जन्म ही तब होता है; जैसे, भक्त कहता है भगवन्, मै वीतरागता प्रकट करूँगा, आपकी वीतराग मुद्रा मुझे वही देने वाली है।

ने.. जैन भक्ति तो वीतरागता ही दे सकती है।

म.· वीतरागता ही दे सकती है; वह मिलती भी है। वीतराग मूर्ति के दर्शन से भव्य आत्मा को, या कहें मुमुक्षु को, अपने स्वरूप का स्मरण हो आता है। वीतरागता का आगमिक बोध जिसे नहीं हो पाता, उसके स्वरूप-बोध के लिए भी मूर्ति एक महत्त्वपूर्ण आलम्बन है।

ने.: माने कि हम मूर्ति की नही मूर्तिमान की पूजा करते है ?

म · मूर्ति के माध्यम से हम मूर्तिमान की ही पूजा करते हैं। नाम के साथ भाव किसके आते है ? पत्थर की पूजा पत्थर समझ कर तो शायद ही कोई करेगा।

ने.. मूर्तिमान की पूजा मुख्य है। इससे व्यक्ति मे व्यक्तित्व-विकास की एक सूक्ष्म प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

ने.: पूजा का अध्यात्म से शायद बहुत घनिष्ठ संबन्ध नहीं है। अध्यात्म तो आत्म-केन्द्रित शास्त्र है, जब कि पूजा में क्रिया-काण्ड इत्यादि सम्मिलित हैं।

म.: क्रिया-काण्ड के माध्यम से वीतराग की वन्दना का जो विधान है; द्रव्य-वन्दन ही वह है; क्योंकि पूजक जब तक गुण-स्वरूप को नहीं जानता, तब तक भाव-वन्दना तो वह कर ही नहीं सकता। द्रव्य-वन्दना को भाव-वन्दना का कारण कहा गया है; अत. ऐसे क्षणों मे परिणाम तो शुभ्र-शुद्ध बनते ही है।

पूजा है आत्म-शोधन की अपूर्व प्रक्रिया

डॉ. नेमीचन्द जैन : आज पूजा की सार्थकता को समझाने की आवश्यकता है। वह कितनी प्रासंगिक है आज, कितनी नही है, इस पर भी उन्मुक्त विचार किया जाना चाहिये। इसका सरलीकरण भी जरूरी है, साथ ही इसे अधिक-से-अधिक समृद्ध करना भी आवश्यक है। हम यह भी चाहेगे कि उसमे हमारी दार्शनिक दृष्टि प्रतिबिम्बित हो, और इस तरह वह एक पाठशाला का भी काम करे, अत सबसे पहला प्रश्न यह करूँगा कि पूजा क्या है और इसकी आध्यात्मिक प्रक्रिया क्या हो सकती है ?

आर्यिकाश्री ज्ञानमती : जो महापुरुष संसार के बन्धन से छूट कर मुक्त हो गये हैं, उनकी उपासना का नाम पूजा है। आपने पूजा के सरलीकरण की बात कही है। यो देखा जाए तो पूजा की पद्धति बहुत सरल है वस्तुत उसे सही रूप मे न समझ पाने के कारण ही कठिनाई होती है।

ने.: यह समझ कैसे विकसित हो ?

ज्ञा.: जैसे बालको को पढाते समय बारहखडी सिखायी जाती थी, वैसे परम्परागत पूजा-विधि सिखायी जाती थी, मै समझती हूँ कही-कहीं मगलाचरण के साथ आज भी पूजा-विधि सिखाने की परम्परा है।

ने.: आप चाहती है कि पूजा का कोई प्रशिक्षण हो ?

ज्ञा.: *प्रशिक्षण तो आगे की बात है, प्रारंभिक अवस्था मे बच्चो को पूजा का शिक्षण ही दिया जाए तो काफी है।*

ने.: यानी उनमे इस तरह का कोई संस्कार डाला जाए।

ज्ञा.: अवश्य डाला जाए। हमारे यहाँ जब भी मेरे सान्निध्य मे प्रशिक्षण/शिक्षण शिविर लं तब मैने उनमें प्रात:कालीन प्रार्थना के अनन्तर पूजा को एक अनिवार्य शर्त रखा।

ने.: चूँकि पूजा श्रद्धा और भक्ति से संबन्धित है, तो क्या श्रद्धा और भक्ति का कोई शिक्षण अथवा प्रशिक्षण हो सकता है ?

ज्ञा.: बिलकुल हो सकता है। बात यह है, भारतीय संस्कृति में श्रद्धा-भक्ति विशेष रूप से है ही। जहाँ तक मैंने सुना है, प्रत्येक सम्प्रदाय मे या यो कहिये प्रत्येक देश मे किसी-न-किसी रूप मे पूजा है। विदेशो मे भी पूजा को भक्ति, प्रार्थना, उपासना, आराधना आदि-आदि के रूप मे स्वीकार किया गया है।

ने.: श्रद्धा-भक्ति तो स्फूर्ति है, तो क्या स्फूर्ति का शिक्षण हो सकता है ?

ज्ञा.· हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे कोई-न-कोई ऐसा क्षण ज़रूर आता है जब उसे घबराहट होती है, शारीरिक या मानसिक संताप होता है, क्लेश होता है, ऐसे मौको पर वह शान्ति खोजता है। उस समय यह कहना पडता है कि तुम अपने श्रद्धेय/आराध्य की भक्ति करो, उसकी उपासना करो। ईसाइयो ने भी प्रार्थना को महत्त्व दिया है। श्रद्धा हो तभी तो महत्त्व दिया है। जैनदर्शन मे 'श्रद्धा' का आशय सम्यग्दर्शन से है। आम तौर पर श्रद्धा का अर्थ यह विश्वास है कि मै अमुक कार्य करूँगा, तो उसका अमुक परिणाम निकलेगा, या फल मिलेगा, प्रार्थना करूँगा, तो कुछ शान्ति मिलेगी।

ने.· मुझे लगता है, पूजा को आप 'शान्ति-की-खोज' मानती हैं। क्या पूजा को शान्ति की खोज कहते है ?

ज्ञा.· बिलकुल कह सकते है। देखा जाए तो आत्मा पर अनादि काल से जो अच्छे-बुरे सस्कार पडे हुए है, उन्हे दूर करने के लिए प्रयत्न चलता रहता है। भगवान्-की-भक्ति अथवा पूजा के सिवाय ऐसा कोई साधन नही है जो आत्मा को सस्कारित कर सके। देवपूजा के बिना सामायिक दूर बनी रहती है, जब कि आप जानते है कि सामायिक को साधु-जीवन मे समताभाव के लिए कितना महत्त्वपूर्ण माना गया है। श्रावको के लिए भी दो बार सामायिक करने का नियम है।

ने.· आप कहना यह चाहती है कि पूजा सामायिक के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करती है ?

ज्ञा.: बिलकुल ठीक, पृष्ठभूमि ही नही, उसके बिना सामायिक सभव ही नहीं।

ने.. यानी पूजा सामायिक की रीढ है। क्या इसे हम एक आध्यात्मिक कर्त्तव्य के रूप मे ले ?

ज्ञा.· पूजा आध्यात्मिकता से तो जुडी ही है। जैनाचार्यो ने श्रावक के दैनिक कर्त्तव्यो मे पूजा को सबसे पहले लिया है। भक्ति, या उपासना मे पूजा स्वयमेव आ जाती है।

ने. आपने पूजा और उपासना दोनो शब्दो का प्रयोग किया है, क्या इन दोनो में कोई अन्तर नहीं है ?

ज्ञा.. पूजा मे उपासना तो है ही, उपासना मे वह है भी और नही भी।

ने.: 'अर्चना' से क्या अर्थ लेती है और आराधना से क्या ?

ज्ञा.: सब शब्द अलग-अलग है। 'आराधना' व्यवहार मे आश्रय-का-वाचक शब्द है; क्योकि भगवान् के निकट ही उनकी आराधना संभव है। राध्यते इति आराधना। गुणो की सिद्धि या उन तक पहुँच। जैन सिद्धान्त मे चार प्रकार की आराधना है।

ने.: दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप।

ज्ञा.: हाँ; 'पूजा' साधु पर लागू नही होती; क्योकि इनमे अष्टद्रव्य आते हैं।

ने.: यदि भावपूजा हो तो, वह साधु पर लागू क्यो नही होगी ?

ज्ञा.: भावपूजा तो लागू हो जाती है; लेकिन यदि सामान्यतया देखा जाए, तो पूजा, स्तुति, वन्दना आदि श्रावको के लिए ही हैं।

ने.: द्रव्यपूजा धीरे-धीरे भावपूजा मे विकसित हो, ऐसी कोई प्रक्रिया अपनाये तो वह साधु के लिए उपयोगी नही होगी क्या ?

ज्ञा.: हो सकती है। जब वे गुणो-का-गान और स्तुति करते-करते भगवान् के गुणो से ओतप्रोत हो जाते है, तो उनकी वह क्रिया भावपूजा हो जाती है।

ने.: प्रश्न तल्लीनता का है। तल्लीन होने पर ही कोई घटना घटित हो सकती है।

ज्ञा.: तल्लीनता तो श्रावक के लिए भी आवश्यक है। बिना इसके पूजा का जो फल मिलना चाहिये, वह नही मिलता। पूजा मे चार बाते जानना ज़रूरी है।

ने.: कौन-सी ?

ज्ञा.: पूज्य, पूजक, पूजा और उसका फल।

ने.: क्या फलाशा मे पूजा करनी चाहिये ?

ज्ञा.: बिलकुल करनी चाहिये। कहा भी है कि बिना फल / परिणाम के कोई आलसी प्रवृत्ति नहीं करेगा।

ने.: मोक्ष की कामना करना ठीक तो नही है।

ज्ञा.: वह जब है, तब है। जब निर्विकल्प दशा बनती है साधुओ की, तब वह कामना स्वय छूट जाती है। स्वयं छोड़ी नही जाती।

ने.: पूजा मे-से श्रद्धा का हटा दे तो ?

ज्ञा.: तो पूजा पूजा नहीं रहेगी।

ने.: तो क्या हम पूजा को श्रद्धा कह सकते है ?

ज्ञा.: श्रद्धा से ओत-प्रोत -श्रद्धा से अनुस्यूत यानी उसमे पूरी तरह निमग्न है पूजा। पूजा के कण-कण मे श्रद्धा व्याप्त है।

ने.: क्या पूजा का कोई वैचारिक पक्ष है ? जहाँ विचार होगा, तर्क होगा, दर्शन होगा, वहाँ श्रद्धा को टिकने मे कठिनाई होगी ?

ज्ञा.: दार्शनिक शुष्कता मे श्रद्धा को टिकने मे कठिनाई भले ही हो, फिर भी यदि तर्कणापूर्ण शब्दो मे कहा जाए, तो पूजा मानसिक शान्ति के लिए है, आध्यात्मिक उन्नति के लिए और एक स्वस्थ आध्यात्मिकता को विकसित करने के लिए वह है।

ने.: मेरा आशय यह है कि पूजा मे कही हम जैनदर्शन को प्रतिबिम्बित करते है, या हमें वैसा करना चाहिये।

ज्ञा.· करना चाहिये, और करते भी हैं। देखा जाए तो जैनदर्शन और सिद्धान्त मे कोई विशेष अन्तर नही है। दर्शन मे खण्डन-मण्डन की विशेषता मुख्यतया रहती है, उसमें दार्शनिक पक्ष लिया जाता है। सिद्धि के बाद उसे मानना, स्वीकार करना, वैसे स्वीकार करना, और विश्वास करना लगभग एक ही चीज है। जिसे आपने स्वीकार कर लिया, मतलब उस पर आपको विश्वास हो गया, विश्वास कर लिया मतलब आपने उस पर श्रद्धा कर ली।

ने.: हमारे यहाँ ईश्वर मे कर्तृत्व नहीं माना गया है।

ज्ञा.. बिलकुल भी नहीं माना गया है।

ने.: लेकिन हमारी स्तुतियो और पूजाओ मे तो याचना का स्वर सुनायी देता है।

ज्ञा.: यह तो भक्ति का एक प्रकार है। आचार्य वट्टकेर ने अपने 'मूलाचार' मे बोधि-समाधि प्रदान करने की भगवान् से प्रार्थना की है। उन्होंने कह दिया, यह तो भक्ति का प्रकार हे, यह तो निदान है, क्योकि इस प्रकार से भक्ति करते-करते वह चीज हममे स्वयं उपलब्ध हो जाती है।

ने.: जैसे, पार्श्वनाथ की स्तुति . 'नरेन्द्र फणीन्द्र' मे।

ज्ञा.· इसमे कोई बाधा नही है। इसमे कर्तृत्ववाद का पोषण नही है।

ने.: कोई भी अच्छा काम पूजा हे, ऐसा लोग कहते है, आप क्या सोचती है ?

ज्ञा.: वह तो सत्कार या आदर की दृष्टि से है।

ने.: कर्तव्य ही पूजा है - ऐसा माना जाता है।

ज्ञा.: यह तो बहुमानता का सूचक है। पूजा तो पूज्य की ही की जाती है।

ने.: पूजा मे मूर्ति का क्या सदर्भ है ?

ज्ञा.: मूर्ति प्रतीक है, वीतरागता की, उसमे तल्लीनता/तन्मयता आवश्यक है।

ने.· मूर्ति तो शिल्पी बनाता है, वीतरागता की सपूर्णता उसमें कहाँ ?

ज्ञा.: आदर्श हमारे सामने ज्यो-का-त्यों नही होता । मूर्ति आलम्बन है । वीतरागता के मूर्तिमन्त स्वरूप को देखने से तन्मयता आ सकती है। फिर वही मूर्ति पूज्य मानी जाती है, जिसकी पचकल्याणक प्रतिष्ठा हो जाती है। मंत्रो का भी महत्त्व है। मन्त्रो मे एक चुम्बकीय शक्ति रहती है, जो मन को बीधे रहती है, अशुभ वर्गणाओ को रोक सकती है और पुण्य वर्गणाओ को अपनी ओर खींच सकती है।

ने.: शेष विशेष हो, वह वताइये।

ज्ञा.: पूज्य, पूजा, पूजक और अन्त मे पूजा का फल है। पूजा का फल पूजा की विधि से सबन्धित है। पूजा की विधि पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने पूजा-विधि बतायी है, अगर उस विधि के अनुकूल पूजा नहीं होती है, तो अपेक्षित फल नही मिलेगा। मै प्राय एक उदाहरण दिया करती हूँ। घडी मे एक-एक पुर्जे को ठीक तरह से जोड़ा गया है, तभी वह सही समय बताती है, अगर उसमे कोई खराबी या कमी आयी या उसके पुर्जे उल्टे-सुल्टे जुड गये तो घड़ी ठीक तरह से चल नही सकेगी, सही समय बता नही पायेगी। इसे ही पूजा-विधि पर चरितार्थ कीजिये।

ने.: पूजा आत्मशोधन, आत्मोत्थान की प्रक्रिया है ?

ज्ञा.: बहुत बडी प्रक्रिया है। उससे लौकिक अभ्युदय प्राप्त होते है, शुभ, शान्ति, समृद्धि के रूप मे। पारमार्थिक उपलब्धि भी निश्चित ही है। यदि आपका लक्ष्य/ध्येय सही है, तो परमार्थ की सिद्धि भी होती है।

पूजा का लक्ष्य : पूज्य से तादात्म्य

डॉ. नेमीचन्द जैन : 'पूजा' के क्षेत्र मे काफी वैविध्य है, उसमे विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हो गयी है; अत. एक सामान्य आदमी को यह बताना आवश्यक है कि पूजा का उद्देश्य क्या है, पूजा का स्वरूप क्या है ? जिस तरह की पूजा आज प्रचलित है, उसमे क्या किसी परिवर्तन की आवश्यकता है ? सबसे पहले मै यह पूछना चाहूँगा कि पूजा के परम्परित होते हुए भी क्या उसकी कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि है ?

पं. (डॉ.) पन्नालाल साहित्याचार्य : पूजा का उद्देश्य यदि हम समझ ले, तो पूजा की विधि और उसकी आवश्यकता सहसा समझ मे आ सकती है।

ने.: पूज्य का उद्देश्य क्या है ?

पं.: पूज्य के साथ तादात्म्य। जैनधर्म मे पंचपरमेष्ठी पूज्य माने गये है उनके साथ हमारा तादात्म्य वने, इसी उद्देश्य से पूजा की जाती है।

ने.: यह 'तादात्म्य' क्या होता है ?

पं.: इसका अर्थ मै यह करता हूँ कि भगवान् का जो स्वरूप है, उसे मै प्राप्त हो जाऊँ। पूजा इसका एक मार्ग है। भगवान् की मुद्रा के समक्ष ही यह हो सकती है, क्योकि साक्षात् भगवान् तो आज है नही, उनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ ही है। इन प्रतिमाओ के सामने भक्त खडा हो कर पूजा करता है और अपना लक्ष्य बताता है और अनुचिन्तन करता कि जैसी शान्त/सौम्य मुद्रा इनकी है, ऐसा ही शान्त/सौम्य स्वरूप मेरा है। यही मुझे प्राप्त करना है। इस तरह वह भगवान् के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

ने.: इसे थोडा और स्पष्ट कीजिये।

पं.: भगवान् के दर्शन से वीतरागता की ओर लक्ष्य बनता है कि मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, आज मै भटक रहा हूँ, कल सुस्थिर हो सकूँगा।

ने.: एक आत्मबोध होता है।

पं.· हाँ, स्व-रूप की ओर उसकी दृष्टि जाती है।

ने.: पूजा को साधन मानना चाहिये।

पं.. जैसे-जैसे व्यक्ति का विवेक जागृत होता जाता है, उसकी दृष्टि मे यह अन्तर आता जाता है। उसका चिन्तन पं दौलतराम-कृत स्तुति 'सकल ज्ञेय' की तरह विकसित होने लगता है ·

'मुझ कारज के कारण सु आप,
शिव करहु हरहु मम मोह-ताप'।

हे भगवन्, मेरे कार्य के आप कारण है। कार्य तो मुझमे होता है और उसे मै ही करूँगा, आप सिर्फ कारण है। आपका निमित्त पा कर मै अपनी क्षमता उद्घाटित कर सकता हूँ।

ने.: जैनधर्म मे ईश्वर मे कर्तृत्व नहीं माना गया है, लेकिन ऐसा लगता है, पूजा मे, स्तुति आदि मे कर्तृत्व का स्वर प्रधान है। माँगने या याचना करने की सगति कहाँ बैठती है ?

पं.: भक्तिवाद की बात जुदा है। उसमे इस प्रकार याचना/प्रार्थना होती है कि आप ही ऐसा काम/उपकार कर सकते है। यह तो भक्तिवाद है।

ने.. लेकिन क्या इसकी जैन अध्यात्म से कोई सगति है ?

पं.: प्रारंभिक अवस्था मे है।

ने.: प्रारभिक अवस्था यानी ?

पं.· जब तक जीव अध्यात्म मे दृढ नही हुआ है तब तक यथा

"तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वयेलीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्रतावद्यावन्निर्वाण-संप्राप्ति. ॥

(तुम पद मेरे हिय मे, मम हिय तेरे पुनीत चरणो मे ।
तब लौ लीन रहौ प्रभु, जब लौ पाया न मुक्तिपद मैने ॥)

हे भगवन् ! आपके दोनो चरण मेरे हृदय मे, मेरा हृदय आपके चरणो मे रहे, तब तक ? जब तक मुझे निर्वाण की प्राप्ति न हो जाए।

बारहवे गुणस्थान में शुक्ल ध्यान की निर्विकल्प दशा आती है, वहाँ अपने आप आ जाता है-मै ही साध्य-साधक हूँ, यानी मै ही साध्य हूँ,अपने-आप आ जाता है-मै ही साध्य-साधक हूँ, यानी मै ही साध्य हूँ, मै ही साधक हूँ, मै ही पूज्य हूँ, मैं ही पूजक हूँ, और पूजा का फल भी मुझे ही प्राप्त होना है । इस तरह अद्वैत-जैसी स्थिति उभर आती है।

ने.: पूजा का जो उत्तरार्ध है, वह अद्वैत ही हो गया है, भले ही पूर्वार्ध उसका भक्ति हो।

ने.· होना ही चाहिये । नही होगा तो उसका जो परिणाम हम चाहते है, वह निकलेगा नही ।

पं.: सही है।

ने.· भक्ति रागात्मक वृत्ति है, क्या वीतरागता से इसकी कोई संगति है ?

पं.: भक्ति रागात्मक है, सो तो ठीक है, भक्ति या भगवान की पूजा मै करूँ, या ये हमारे आराध्य हैं, इनकी पूजा हमे करनी चाहिये । यह राग है । इस राग से पुण्य-बन्ध होगा, लेकिन भगवान् की पूजा करते समय इस जीव का लक्ष्य अपने वीतराग स्वभाव की ओर झुक जाता है, अत वह मात्र पुण्यबन्ध का कारण न हो कर निर्जरा का कारण भी बन जाता है।

ने.. यानी भक्ति के माध्यम से पुण्यबन्ध भी हो सकता है, और कर्म निर्जरा भी हो सकती है।

पं.: कर्म-निर्जरा भी हो सकती है, यदि लक्ष्य आत्मस्वरूप की ओर हो तो।

ने.: सूक्ष्म घटना है यह ?

पं.: हाँ, और यदि यही रहा कि भगवन्, आप चाँदी के है, सोने के हैं, हीरे-जवाहरात के है, आप कुशानकालीन है, गुप्तकालीन है, यही लक्ष्य रहा, तो इससे सिर्फ भक्ति होगी, लेकिन निर्जरा का योग उपस्थित नही होगा।

ने.· क्या आप यह नही मानते कि प्रवचन भी एक तरह की पूजा है ?

पं.· पूजा नही स्वाध्याय है।

ने.: यह मैने इसलिए पूछा कि प्रवचन के कारण आप पूजा को सक्षिप्त कर देते है, तो लगा कि सभव है वह पूजा का ही एक हिस्सा होगा।

पं.: पूजा तो व्यक्तिगत चलती है। स्वाध्याय मे चार-छह व्यक्ति बैठे होते है। उनको बाधा न हो, असुविधा न हो, वे व्यर्थ प्रतीक्षा न करे।

ने.: उनका ध्यान रख कर आप पूजा को सक्षिप्त कर देते है ?

पं.: हाँ।

ने.. मूर्ति का क्या स्थान है पूजा मे ?

पं.: आलम्बन चाहिये प्रारभिक अवस्था मे, इसलिए मूर्ति को सामने रखते है।

ने.: क्या मूर्ति को अनुपस्थित कर दे, तव भी पूजा बनी रह सकती है।

पं.: नही, यह वात जुदा है, पूजा परोक्ष मे भी होती है, लेकिन सामने मूर्ति मौजूद होती है, तो उपयोग ज्यादा लगता है।

ने.: मूर्ति की उपस्थिति उत्तरोत्तर कम हो सकती है, यानी आलम्बन से मुक्त हो कर पूजा करना धीरे-धीरे यह अधिक श्रेष्ठ होगा।

पं : यह ठीक है, लेकिन प्रारभिक अवस्था मे तो आलम्बन आवश्यक है। आलम्बन है कि मूर्ति सामने है, उनके गुणो का स्मरण होता है-जैसा मेरा स्वरूप है, भगवान् का भी वैसा ही है। यह लक्ष्य वनता है।

ने.: यानी मूर्ति हमारे लिए आदर्श है।

पं.: है ही।

ने.: वैसे गुण हममें भी आये-'तद्गुण लब्धये'।

पं.: वरावर।

ने.: पूजा मे भापा और शैली की क्या महत्ता है ?

पं.: भापा तो साधन है, जो जिस भाषा मे समझता हो वह उसमें पूजा करे।

ने.: आपको हिन्दी की पूजाओ मे-से कौन-सी सवसे अच्छी लगती है ?

पं.: सभी पूजाएँ अच्छी हैं।

ने.: मै ऐसा नही कह रहा हूँ कि किसी को अच्छी वता देंगे, तो दूसरी बुरी हो जाएगी। ऐसा सोच कर प्रश्न मै नही कर रहा हूँ।

पं.: देव-शास्त्र-गुरु की जो सस्कृत पूजा है, वह वेजोड है।

ने.· क्यो है वजोड़ ?

पं.: इसलिए कि उसमे भाव अच्छे भरे हैं।

ने.: उसमे हमारे जो मौलिक सिद्धान्त हैं, उनकी स्पष्ट झलक मिल जाती है।

पं.: उसी का सार हिन्दी मे कवि द्यानतरायजी (१७ वी सदी) ने लिया है। उन्होंने भी पूजा के क्षेत्र में बहुत काम किया है। तमाम पूजाओ को हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया है। बहुत बड़ा काम है यह।

ने.: उन्होने हिन्दी मे पूजाओ की सर्वाधिक रचना की है ?

पं.: हाँ, हिन्दी में उन्होंने सबसे ज्यादा पूजा लिखी है।

ने.: मध्यकाल मे भैया भगवतीदास, आनन्दघन, भूधरदास, वृन्दावन, बुधजन आदि कवियो ने पूजाओ की रचना की है, उनमें द्यानतराय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पूजा से तिरे तन; तिरे मन

डॉ. नेमीचन्द जैन : आप तीनथुई (त्रिस्तुतिक) समाज के प्रधान आचार्य है, इसलिए मै जानना चाहूँगा कि इस समाज मे पूजा का क्या स्वरूप है ?

आचार्यश्री जयन्तसेनसूरि : परमात्मा के प्रति समर्पण-भाव से, परमात्मा-स्वरूप की प्राप्ति के लिए लगन से उनकी अष्टप्रकारी पूजा, उनकी अर्चना, और उनके सारे आदेशो का परिपालन-पूजा का यही महत्त्वपूर्ण स्वरूप है।

ने.: इस उत्तर मे-से एक प्रश्न आया कि यह अष्टप्रकारी पूजा क्या है ?

ज.: इस के अन्तर्गत प्रात प्रतिमा का जल-से-जो-प्रक्षालन करते है, वह जल-पूजा है। फिर केशर-चन्दन से पूजा करते है, वह चन्दन-पूजा है। उनके सामने धूप दी जाती है, वह धूप-पूजा है। दीपक किया जाता है, वह दीप-पूजा है। उनके समक्ष जो अक्षत चढ़ाये जाते है, वह उनकी अक्षत-पूजा है। फिर फल नैवेद्य-पुष्प चढ़ाया जाता है, वह फल और नैवेद्य-पूजा है। इस प्रकार अष्टद्रव्य से अष्टप्रकारी पूजा संपन्न करते है।

ने.: अष्टद्रव्य से पूजा करते समय समर्पित होना चाहिये।

ज.: जल-पूजन के पीछे भाव यह है कि जिस प्रकार जल शरीर का मल दूर करता है, ठीक उसी प्रकार हे परमात्मन्, मैंने निर्मल जल से आपकी पूजा की है; अत मेरे अन्तर का मैल समाप्त हो, वह धुल जाए।

ने.: सारी विषमताएँ दूर हो जाएँ।

ज.: हाँ, आपके द्वारा प्रदर्शित उपदिष्ट समानता, समता और निर्मलता की भावना मुझ मे प्रवेश करे और मै उससे समृद्ध बनूँ। चन्दन-पूजा करते समय, चन्दन जैसा शीतल है, सुगन्धित है, हे प्रभो, मेरे क्रिया-कलापो मे, व्यावहारिक प्रवृत्तियो मे उस-सी शीतलता और सुगन्धि उत्पन्न हो।

ने.· 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्' वाली वात है। जो क्लेश मे है, मै उनके कष्ट दूर करूँ।

ज.· हाँ, ताकि मुझे भी शान्ति मिले और अन्यो को शान्ति पहुँचाने की शक्ति मुझ मे पैदा हो।

ने.: पूजा के विषय मे और बताइये।

ज.: पूजाएँ विविध है, लेकिन इनके पीछे आशय, भावना, लक्ष्य, उद्देश्य एक ही है · हम मुक्त हो; भव-बन्धन से मुक्त हो। आत्म-स्वरूप को प्राप्त करे।

ने.: पूजा का मुख्य प्रयोजन है यह।

ज.: भगवान् की पूजा के पीछे इसे छोड कोई और प्रयोजन नही है। हमारा मूल लक्ष्य स्वय को परम पवित्र बनाना और आत्मशुद्धि को निरन्तर आगे बढाना है।

ने.: पूजक की पात्रता क्या होनी चाहिये ? पूजक कैसा हो ?

ज.: वह आहार-शुद्धि वाला हो, व्यवहार-शुद्धि वाला हो, विचार-शुद्धि वाला हो, निर्भीक हो, सम्यक्त्व मे अविचल हो।

ने.: आहार-शुद्धि का क्या महत्त्व है ?

ज.. आहार जितना शुद्ध और सात्त्विक होगा, पूजा से प्रभावित होने के अवसर उतने ही अधिक मिल सकेगे।

ने.: और व्यवहार-शुद्धि ?

ज.: इसके अन्तर्गत पूजक का समूचा आदान-प्रदान, उसकी बोलचाल लोगो से उसका स्नेह-सपर्क, सौजन्य-सद्भाव आदि आयेगे।

ने.· और विचार-शुद्धि ?

ज.: विचार-शुद्धि की कसौटी निष्काम वृत्ति है। यही पूजक हो पूजा का पात्र बनाती है। जब उसके आहार, व्यवहार, और विचार मे शुद्धि जाएगी, तब ही वह स्वयं मे परमात्मा के सान्निध्य की पात्रता विकसित कर सकेगा। ऐसा पूजक आत्महित और परहित दोनो कर सकता है।

ने.: यानी वह अपना उपकार करते हुए परोपकार भी कर सकता है।

ज.: हाँ।

ने.: दोनो उपकार साथ-साथ सध जाते है। पूजा की वस्तुत एक ऐसा उपाय है जो व्यक्ति और समाज को एक साथ ऊँचा उठा सकता है।

ज.· सही है।

(तीर्थंकर, वर्ष १५ पूजा विशेषांक अक ४-५, अगस्त-सितम्बर, १९८५ की बातचीतों के चयनित अंश)

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी • चाहते हैं कि भक्ति और पूजा का एक आडम्बर-रहित रूप सामने आना चाहिये। इसके लिए पूजा-पद्धति पर व्यापक विचार-विमर्श हो और जैनधर्म तथा दर्शन की मौलिकताओं को ध्यान में रखते हुए उसका एक नूतन संस्करण लाया जाए-ऐसा संस्करण जो जैनधर्म का प्रतिनिधित्व तो करे ही, किन्तु इस युग के संदर्भों की अनदेखी भी न करे।

श्री केवलमुनिजी ने क्रान्ति को जिस तरह न्योता है, वह मननीय है। स्थानकवासियों में पूजा की क्या शक्ल है, इस पर उनके विचार न केवल पठनीय हैं; अपितु आचरणीय भी हैं।

साध्वीश्री मणिप्रभाजी ने जिस बारीकी और भव्यता से पूजा-संबन्धी परम्पराओ की जानकारी दी है, वह न सिर्फ लोकोपयोगी है, अपितु आत्मोपकारक भी है। उनमे क्रान्ति के बीज कहाँ हैं, इसे ढूँढ़ पाना मुश्किल जरूर है, किन्तु असंभव नहीं है।

आर्यिकाश्री ज्ञानमती माताजी से हुई बातचीत पूजा-के-स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डालने वाली होने के साथ-ही-साथ भीतर से जगाने वाली और पूजा के यथार्थ में अवगाहन करवाने वाली भी है।

पं. (डॉ.) पन्नालालजी साहित्याचार्य के पूजा-विषयक विचार अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है, उनके व्यक्तित्व की तरह सरल और सौम्य भी हैं।

आचार्यश्री जयन्तसेनसूरिजी ने पूजा पर कई मौलिक तथ्य उजागर किये हैं, जिन में पूजा-संबन्धी अलभ्य जानकारियाँ हैं। इनमें एक ऐसी व्याख्या भी है, जिस ओर जैन-मात्र कदम उठा सकता है।

बातचीत : भक्ति और पूजा . डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन . हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नई दुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म प्र.), टाईप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र), प्रथम सस्करण : फरवरी, १९९८ ; मूल्य छह रुपये।

बातचीत : सामायिक

डॉ. नेमीचन्द जैन

★ सामायिक : क्या, क्यों, कब, कौन, कैसे

- पं फूलचन्द शास्त्री, पं. नाथूलाल शास्त्री

★ सामायिक : आत्मशुद्धि/आत्मान्वेषण की प्रक्रिया

- एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द

★ सामायिक के लिए प्रतिक्रमण

- आचार्यश्री विद्यासागर

★ सामायिक : समता की साधना/आराधना

- आचार्यश्री तुलसी

★ सामायिक की अन्तिम परिणिति

- आचार्यश्री नानालाल

★ सामायिक : योग का चरमोत्कर्ष

- ब्र कुमारी कौशल

★ सामायिक : उत्तम सिद्धि के लिए उत्तम साधना

- डॉ. सोनेजी (आत्मानन्द)

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

सामायिक : क्या, क्यों, कब, कौन, कैसे

डॉ. नेमीचन्द जैन : अंग्रेजी मे पाँच 'डब्ल्यू' (हिन्दी मे पाँच 'क') बहुत प्रसिद्ध है व्हाट (क्या), व्हाय (क्यो), व्हेन (कब), हू (कौन), और हाउ (कैसे)। 'सामायिक' पर इन्हीं शब्दो को उठाये और विचार करे। सबसे पहले बताइये कि सामायिक क्या है ?

पं.: फूलचन्द शास्त्री : समता-परिणाम का नाम सामायिक है।

ने.: सरल शब्दो मे समझाये कि यह समता-परिणाम क्या है ?

फू.: 'प्रवचनसार' की ७ वी गाथा है . 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो णिद्दिट्ठो। मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥' निश्चय से चारित्र धर्म को कहते है शम अथवा साम्यभाव को धर्म कहते है और मोह (मिथ्या दर्शन) तथा क्षोभ (राग-द्वेष) रहि आत्मा का परिणाम शम, अथवा साम्यभाव कहलाता है।

इस गाथा मे धर्म का लक्षण बताया है चारित्र को, और चारित्र को समता-परिणाम कहा है अहकार और ममकार-इन दो से रहित आत्मा का जो परिणाम है, उसे 'सम' कहा है। ऐ परिणाम जहाँ है, वहाँ सामायिक है।

पं. नाथूलाल शास्त्री : पापो के निराकरण और राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए जो समता भाव बनता है, वह सामायिक है। दूसरे शब्दो में, हम प्राय हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्र करते रहते है; ये है हमारे धार्मिक/सामाजिक अपराध। इन अपराधो/पापो को दूर करने के लि हममे जो राग-द्वेष-रहित प्रवृत्ति होती है, उसका नाम समता है, इस समता का भीतर टिका रह सामायिक है।

ने.: 'क्या' के बाद बारी है क्यो की; तो बतलाइये हम सामायिक क्यो करते है ?

फू.: अपने जीवन को सुचारु बनाने के लिए और आत्मा-की-प्राप्ति के लिए। स्वभाव-रू आत्मा की प्राप्ति हमें किस प्रकार से हो, इसके लिए हमे अपने मे ममकार/अहंकार से भिन्न आत्मा का स्वरूप अनुभव करना चाहिये। सामायिक का मुख्य प्रयोजन यही है।

ने.: सामायिक करने की परम्परा कब से चली आ रही है ?

ना.: जब से धर्म की तरफ मनुष्य का लक्ष्य हुआ तब से।

ने.: यह तो आपने बड़ी अनिश्चित बात कह दी। सन्-सवत् वाली बात कीजिये।

ना.: इसमे सन्-सवत् जैसी बात कुछ भी नही है।

ने.: भगवान् महावीर के जन्म का जैसे सन्-सवत् है, क्या उसी प्रकार सामायिक के आविर्भाव की कोई निश्चित तिथि नहीं है ?

ना.: यह तो आदिनाथ भगवान् के पहले से चली आ रही है। उनके माता-पिता भी सामायिक करते थे।

ने.: प्राकृत का आविर्भाव तो उस समय नही हुआ था।

ना.· यहाँ भाषा से मतलव नही है। आपका प्रश्न है सामायिक कब से है, चूँकि पाप अनादिकालीन है, तो पाप का निरोध भी अनादिकालीन है। शान्ति की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति/प्रक्रिया सामायिक-मूलक है।

फू.: जैनधर्म विश्व को अनादि मानता है। जैसी रचना हम आज देखते है, वह पहले भी थी, इसलिए यह तय है कि जव से पाप है, अधर्म है, या दुष्प्रवृत्तियाँ है, तव से उनका निराकरण भी है। ये दोनो साथ-साथ चलते है। एक चीज पहले हो और दूसरी वाद मे ऐसा नही है। इन दोनों को हमेशा से साथ-साथ ही मानना चाहिये।

ने.: अव वतलाइये कि सामायिक कौन करे ? इसका अधिकारी कौन है ? इसके लिए कोई सहनन, या पात्रता जैसी कुछ है क्या ?

फू.. सहनन का विचार तो है, उत्तम संहनन वाले के लिए उत्तम प्राप्ति होती है, परन्तु जो जघन्य सहनन वाला है, वह सामायिक न करे, ऐसा विधान नही है। सामायिक सवके लिए है, विशेपण व्रती के लिए।

ने.· और जो व्रती नही है वह

फू.: उसे भी समता के अभ्यास के लिए सामायिक करनी चाहिये।

ने.: जो व्रती नही है, क्या उसके लिए सामायिक का स्वरूप कुछ भिन्न है ?

फू.: भिन्न नही है। व्यवस्था तो एक ही है। विधि भी लगभग एक ही है। कोई खास फर्क नही है। सामायिक की दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक है सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण, चतुर्विंशति स्तव, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग-इसमे सामायिक सर्वप्रथम है। सामायिकपूर्वक की गयी वन्दना ही धर्म की (धर्म के लिए) वन्दना कहलाती है। सामायिक के विना की गयी जो वन्दना है अथवा देवपूजा है वह लौकिक है, पारमार्थिक नही है। समता-परिणाम आये विना भगवान् की कोई पूजा-भक्ति करे, तो वह परमार्थ नही कहलायेगी। सारे विकल्पो को छोड़ कर भगवान् की जो भूमिका है, उसमे पहुँचना परमार्थ है।

ने.: निर्विकल्प/निराकुल।

फू.: निराकुलता की भूमिका मे आना/रहना सामायिक मे आना/रहना है, क्योंकि विकल्पों के साथ यदि हम मन्दिर मे भगवान् की पूजा करते है, तो वह भगवान् की पूजा नही है, वह तो लौकिक पूजा ही है।

ने.: क्या सामायिक के लिए कोई विशिष्ट वातावरण की आवश्यकता है ?

फू.: वैसे तो एकान्त श्रेष्ठ है। निर्जन्तुक स्थान होना चाहिये। शान्ति होनी चाहिये।

ना.: सामायिक के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। उन सबकी योग्यता बतायी गयी है। सामायिक करने वाला इन सबका समझ-सोच कर विवेकपूर्व चयन करता है। फिर भी यदि कोई उपद्रव होता है-चाहे वह शोरगुल-कोलाहल हो या कुछ अन्य; तो वह सब सहन करता है और सामायिक मे सुस्थिर होता है।

ने.: प्रयत्न यह होना चाहिये कि सामायिक करने वाले को एकान्त मिले। उसे कोई विकल्प न हो। वह शोरगुल में भी सामायिक करेगा।

ना.: फिर भी यदि शोरगुल होता है, तो वह उसे सहन करता है।

ने.: सहन करता है, या उसे पता ही नही चलता ?

ना.: पता तो चलता है, लेकिन वह सहन करता है। सामायिक करने वाले तीन तरह के होते है। पहले सहन करते है। दूसरे ऐसी स्थिति मे भी अपनी आत्मा की ओर झुकने के लिए प्रयत्नशील रहते है, और तीसरे वे जिन्हे पता ही नही चलता, वे इतने तल्लीन/मगन हो जाते है ध्यान करने मे यही बात है।

ने.: क्या सामायिक के लिए कोई स्थान-विशेष ज़रूरी है ?

फू.: वन हो, या घर , एकान्त होना चाहिये। परिस्थितिवश स्थान मे परिवर्तन भी करना पड़ सकता है।

ने.: क्या सामायिक मे स्थान को गौण माने ?

फू.: स्थान है तो मुख्य, परन्तु परिस्थितिवश उसे गौण करना पडता है।

ने.: मुख्य क्यो है ?

फू.: मुख्य इसलिए है कि हमारे चित्त मे व्याक्षेप न हो, किसी तरह की आकुलता न आने पाये। इसके लिए जरूरी है कि हम सामायिक के लिए एकान्त स्थान ही चुनें।

ने.: क्या सामायिक के लिए कोई समय निश्चित है ?

ना.: प्रात ; मध्याह्न, सध्या। दो , चार या छह घडी का समय है। जो प्रतिमाधारी होते है, वे समायिक छह घडी करते है।

ने.: आप कब तक करते हैं ?

ना.: दो घडी (४८ मिनिट), यह तो सामान्य बात है। एक घण्टा भी लग जाता है।

फू.: व्यवस्था बनाते हैं कि सामायिक अधिक-से-अधिक समय चले, लेकिन अवधि न्यूनाधिक होती है, क्योकि मेरा मुख्य काम तो साहित्यिक है, अत उसमे जो भी समय देता हूँ, वह भी सामायिक है।

ने.: यानी साहित्यावलोकन/लेखन ही आपकी सामायिक है, क्या ऐसा मान लें ?

फू.: है तो नही। सामायिक के लिए चित्त को अलग से एकाग्र करना चाहिये।

ना.. आपका जो स्वाध्याय है, वह भी तो सामायिक ही है।

फू.: सामायिक मे आता तो है। देवपूजा भी सामायिक है।

ना.· जिसमे चित्त की एकाग्रता हो, ऐसी देवपूजा भी सामायिक के अन्तर्गत आती है।

ने.: गृहस्थ सामायिक दो बार करे या तीन बार ?

फू.: तीन बार। त्रिकाल सधि का नियम है प्रात , मध्याह्न, सध्या।

ने.: और साधु ?

फू.: वह भी तीन बार करे।

ने.: दोनो तीन बार ? क्या सामायिक मे आलम्वन लेना चाहिये ?

फू.: गृहस्थो के लिए आलम्वन है, साधुओ के लिए नहीं।

ने.· आलम्वन क्या ले ?

फू.· देव-शास्त्र, या मन्त्र का आलम्वन ले सकते है।

ने.: क्या सामायिक का कोई मनोवैज्ञानिक पक्ष भी है ?

ना. हमारा मन स्थिर रहे और हम सब तरह की बाधाओ को सहन कर सके, सामायिक का मनोवैज्ञानिक पक्ष तो यही है।

ने.: मन की चचलता पर अकुश, या लगाम देने का खास अभ्यास सामायिक है।

ना.: जव आत्मोपलब्धि हो, आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो तव है शुद्धिमूलक सामायिक। तत्त्वार्थलब्धिमूलक सामायिक हमेशा करनी चाहिये।

ने.: सामायिक का दिगम्बरो मे अधिक प्रचलन क्यों है ?

फू.: वात यह कि वहाँ/उनमे प्रतिक्रमण का स्थान सामायिक ने ले लिया है।

ने.: मतलव यह कि प्रतिक्रमण सामायिक का पूर्वज है।

फू.: प्रतिक्रमण भी था, सामायिक भी थी।

ने.: आपने कहा है कि स्थान ले लिया।

फू.: यह इसलिए कह रहा हूँ कि पहले दोनो क्रियाएँ थी। अव प्रतिक्रमण गौण हो गया है, अत· हम सामायिक मे सत्र कर लेते है।

ने.: सामायिक/प्रतिक्रमण मे आखिर भेद है क्या?

फू.: भेद तो है। हमारे जो भूतकालीन अपराध है, इनकी जो आलोचना है, वह प्रतिक्रमण है, और वर्तमान मे समता का अभ्यास सामायिक है।

ने.: यानी प्रतिक्रमण का संबन्ध भूत से है और सामायिक का वर्तमान से है।

फू.: सदैव वर्तमान से।

ने.: यह तो हुआ समयगत भेद।

फू.: प्रत्याख्यान भविष्य से सबन्धित है।

ने.: सामायिक का पाठमूलक रूप ही है, या इसकी कोई चिन्तनात्मक/भावमूलक शक्ल भी है ? लोग तो 'सामायिक पाठ' भर पढ़ते हैं। क्या पढ-भर लेना सामायिक है, या वह और कुछ भी है ?

ना.: दोनो बाते है।

ने.: समझौते वाली बात मत कहिये। स्पष्ट रूप से बताइये कि अगर हम सामायिक पाठ कर ले, तो क्या सामायिक हो गयी ?

ना.. नहीं, लेकिन दोनो की अपनी-अपनी भूमिकाएँ है। पहले वातावरण बनाना पडता है, पाठ उसका अग है, ताकि जो भीतर है, उसका ज्ञान हो, हमारा लक्ष्य कुछ बँधे, इसके बाद हम सामायिक करे।

ने.: ज्यादातर लोग 'सामायिक पाठ' करते है, लेकिन उसका अर्थ नही जानते, तो क्या इसे हम सामायिक कहेगे ?

ना.: सामायिक-की-विधि है यह।

फू.: उसने अपने को अन्य विकल्पो से हटा कर सामायिक-के-एकमात्र विकल्प मे रोके रखा है, इस अर्थ मे यह सामायिक है।

ने.. लेकिन वह अर्थ नही जान रहा है।

फू.: इतना तो वह जान ही रहा है कि सामायिक मे राग-द्वेप से ऊपर उठने/हटने का अभ्यास करना है।

ने.: ऐसे लोगो को आगे ले जाने के लिए क्या किया जाए ?

फू.: उन्हे स्वाध्याय के लिए प्रेरित करे।

ने.: 'सामायिक' का मात्र पठन करने वाले को यह वोध कैसे दिया जाए कि वह कितना सही कर रहा है और कितना गलत ?

फू.: गलत तो वह कर ही नहीं रहा है, जो कर रहा है, सही ही है।

ने. कैसे ?

फू.: यो भले ही कहिये कि जो क्रिया उसे बुद्धिपूर्वक करनी चाहिये थी, उसमे उसका थोडा भाव है।

ने.· विवेक का।

फू.. उसमे विवेक नही आ पा रहा है। पाठ तो वह कर रहा है; अत उनसे वह अच्छा है, जो कुछ कर ही नही रहे है।

ने.. ज्यादातर लोग 'सामायिक पाठ' ही कर रहे है, सामायिक नही।

फू.: 'सामायिक पाठ' भी 'सामायिक' का ही अंग है।

ने.. लेकिन उसका बहुत छोटा प्रतिशत वह है।

फू. देखिये, मूल सामायिक तो वहुत बडी वात है। यदि हम सिर्फ णमोकार-मन्त्र का स्मरण करते है, या उसकी माला फेरते हैं, तो वह सामायिक कहाँ हुई ? असल मे जहाँ समता का अभ्यास नही है, वहाँ सामायिक नही है, लेकिन सामायिक का मार्ग यह अवश्य है, जो उसने पकड़ लिया है, कदाचित् वह उपयुक्त परिणाम मे आ जाए।

ने. यह मजिल नहीं है, रास्ता-भर है। कभी तो पहुँचेगा।

फू.· पहुँच सकता है।

ने.· सभावना बन गयी है।

फू.: जो करता है, वह पहुँच सकता है, किन्तु जो कर ही नही रहा है, उसके पहुँचने का प्रश्न कहाँ है ?

ने.. क्या ध्यान और सामायिक का कोई सबन्ध है ?

फू.: इनमे भेद है भी, और नही भी है।

ने.· ऐसा कह कर तो आपने उलझन मे डाल दिया। आप तो साफ-साफ बताइये कि 'सामायिक' और 'ध्यान' मे कोई भेद है, या नहीं ?

फू.: उलझन मे डालने का प्रयोजन नही है।

ने.: यद्यपि प्रयोजन नही है, फिर भी उलझन तो है।

फू.: इतना ध्यान रखे कि ध्यान मे एकाग्रता मुख्य है।

ने.: उसमे आलम्बन गौण है।

फू.· कदाचित् आत्मा आलम्बन है।

ने.: ध्यान का एक प्रकार रूपातीत भी तो है।

फू.: कदाचित् आत्मा आलम्बन बने।

ने.: जहाँ आत्मा आलम्बन है, वहाँ उसे हम ध्यान कहेंगे या सामायिक ?

फू.: सामायिक वास्तव मे ध्यान का ही भेद है।

ने.: ध्यान व्याप्य है, सामायिक व्याप्त है। ध्यान तो किसी का भी हो सकता है, जबकि सामायिक का संबन्ध केवल आत्मा से ही है। सामायिक आत्मप्रधान है, जबकि ध्यान मे ध्येय इतर भी हो सकता है -आत्मा के अलावा भी।

फू.: जो ध्यान सविकल्प है, वह सामायिक है। निर्विकल्प ध्यान यानी शुद्ध ध्यान। गृहस्थो की सामायिक को हम सविकल्प ध्यान कहेगे और साधुओ की सामायिक को निर्विकल्प।

ने.: सामायिक को ले कर तीन शब्द आते है व्रत, प्रतिमा और आवश्यक। सामायिक एक व्रत है, शिक्षाव्रत के रूप मे। ग्यारह प्रतिमाओ मे-से वह एक है। षडावश्यको मे भी है। इसकी इन तीनो स्थितियों मे क्या भेद है ?

फू.· आवश्यक मे जो सामायिक है, वह सामान्य है। यदि हम गृहस्थ है, मन्दिर जाते है, तो घर-के-तमाम विकल्प छोड कर जाना चाहिये, यह सामायिक है। व्रत के रूप मे सामायिक सातिचार है, और जो प्रतिमा है, वह निरतिचार है।

ने.. यानी यह इस तरह हुआ कि सामान्य सामायिक षडावश्यक, सातिचार सामायिक व्रत, और निरतिचार सामायिक प्रतिमा। थोडा और समझाइये।

फू.: जैसे, जो सामायिक प्रतिमाधारी है, उसकी सामायिक निरतिचारपूर्वक है, क्योकि वह निर्धारित समय को टालेगा नही, मन में अनादर नही लायेगा।

ने.: जो प्रचलित विधि है सामायिक की, क्या इसे और अधिक सरल करे या वह जैसी है, वैसी उपयुक्त है ?

फू.: अधिक कुछ यदि करेगे, तो वह नही के बराबर हो जाएगा।

ने.: तो क्या इसका जटिलीकरण कर दे, उसे अधिक जटिल बना दे ?

फू.: गृहस्थ से जितना बन सके उतना उसे करने देना, यही इसका सरलीकरण है। समय और आवश्यकता के अनुसार जो जितनी देर सामायिक पाठ पढता है, या सामायिक करता है, उसे उतनी देर करने दीजिये। स्वाध्याय की ओर उसे प्रेरित कीजिये, तो वह स्वय सामायिक के सरल/सहज रूप मे आ जाएगा।

ने.· प्रतिक्रमण शायद जटिलता के कारण, या अधिक समय लगने के कारण मुट्ठी से खिसक गया है।

फू.: पापवृत्ति के कारण इसका ध्यान ही नही रहा।

ने.: तो फिर आगे चल कर सामायिक के बारे मे भी यही होने वाला है; वह भी छूटने वाली है।

फू.· वह प्राय छूट चुकी है।

ने.: इसे पुनरुज्जीवित करने का क्या कोई उपाय है ?

फू.: है।

ने.· क्या है ?

फू.: इस दृष्टि से गोष्ठियो की योजना करे। इनमे उच्च तत्त्वज्ञान की अपेक्षा जीवन की यथार्थता (समीचीनता) पर चर्चा करे, सामायिक आदि के लिए समाज को सहचर्चा के लिए तैयार करे। इससे लोकमानस जागृत होगा।

ने.· यानी इन गोष्ठियो मे उन बातो की चर्चा होनी चाहिये, जो जीवन, या चरित्र को उत्थान देती हो।

फू.· दिनचर्या मे समावेश कर सके, ऐसा कार्यक्रम हमे गोष्ठियो या शास्त्रसभाओ के माध्यम से लोगो को देना चाहिये।

ने.. पहला कार्यक्रम क्या देना चाहेगे ?

फू.· मन्दिर जाने का। यदि हम धर्मस्थान से किसी तरह बँधे रहते है, प्रतिदिन मन्दिर जाते हैं, तो मै मानता हूँ कि हममे जैनत्व अभी जीवित है।

ने.· या उसके जीवित बने रहने की सभावना है।

फू.. प मदनमोहन मालवीय जैसे राजनेता और सुधारवादी भी हमारे मन्दिर जाने की प्रशसा करते रहते थे, लेकिन आज हम अपनी इस परिपाटी को भूलते जा रहे हैं। लम्वी-लम्बी गोष्ठियाँ चला करती हैं, लेकिन मन्दिर जाने का न कोई कार्यक्रम नही रहता, उसके कार्यक्रमो मे मन्दिर की आवश्यकता, उपयोगिता का कही उल्लेख ही नहीं होता। आशय यह है कि सामायिक को पुनरुज्जीवित करने मे मन्दिर की अपनी एक अत्यन्त महत्त्व की भूमिका है। सामायिक की प्रेरणा धर्मस्थलो से सहज ही मिल सकती है।

ना.: हर जैन जो मन्दिर जाता है, भगवान् की पूजा करता है। यदि वह पूजन नही करता है, तो दर्शन करता है। दर्शन के बाद मन्दिर मे ही माला फेरता है। यह चाहे सामायिक का वहुत ऊँचा रूप न भी हो, लेकिन सामायिक का पूर्व रूप से जरूर है। इस प्रकार मन्दिरो के माध्यम से भी सामायिक की परम्परा बरावर चल सकती है, हम उसे अटूट वनाये रख सकते है।

ने.: माला-रूप मे तो सामायिक अस्तित्व मे है, लेकिन इससे और आगे उसे बढाना चाहिये।

फू.: यदि मन्दिर (कोई भी धर्मस्थल) जाना बराबर बना रहे, तो उसके आगे बढ़ने की सभावना है। दर्शन और स्वाध्याय यदि बरकरार रहे तो सभावनाएँ ही संभावनाएँ हैं।

ने.: आज चारो ओर हिसा है, तनाव है, मासाहार है, ऐसे मे आपको सामायिक की कोई प्रासंगिकता दीख पडती है।

फू.: खान-पान में दोष का आना तो हमारी कमजोरी का फल है। इसमे सुधार हो सकता है। यदि हम थोडे समय के लिए आत्मा, उसके ज्ञायक स्वभाव आदि के उच्च तत्त्वज्ञान को गौण कर जीवन की रोजमर्रा की बातो पर ध्यान दे, तो काफी सुधार हो सकता है, क्योकि जैन ही एक ऐसी कौम है जहाँ मासाहार पूर्णतया निषिद्ध है। पूरी-की-पूरी कौम मे शाकाहार स्वीकृत है।

ने.: हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है। इस पर सुदृढ रहने की आवश्यकता है; कैसे रहे ?

फू.: सबसे बड़ा अपराध हो रहा है, पैसे वालो की तरफ से, हमने उन्हे ऊँचा स्थान दे रखा है। जब तक नैतिकता को सर्वोपरि स्थान नही दिया जाएगा, तब तक वाछित सुधार नहीं हो पायेगा। हमे सामाजिक महत्त्व तो अब नैतिकता को ही देना होगा।

ने.: सामाजिक मूल्यो के बदल जाने से शायद यह गडबडी हुई है ?

फू.: वास्तव मे सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हे ही मिलनी चाहिये जो सदाचारी हो।

ने.: सो तो है। मै यह जानता चाहूँगा कि इस समय सामायिक की क्या भूमिका हो सकती है ?

फू.: यही कि मन्दिर जाने की परम्परा को बराबर बनाये रखे। अपने जीवन का निरीक्षण करे। 'णमोकार-मन्त्र, 'अरहत-सिद्ध', असिआउसा', 'ॐ' आदि है; इनमे किसी एक को अपना ले। इतना तो हम करे ही।

ने.: यानी हमे सामायिक का कोई लघु सस्करण विकसित कर लेना चाहिये।

फू.: जब हम ग्यारहवीं शताब्दीके इतिहास को देखते हैं, तब पता चलता है कि उस समय काफी शिथिलता आ गयी थी। जब उसे बदलने या दूर करने की कोशिश हम आज करते है, तब अध्यात्म आडे आ जाता है, इसने हमे अधिक शिथिल कर दिया है। हम नही चाहते कि अध्यात्म कुछ कम हो, कम करने का प्रयोजन नही है, प्रयोजन प्रारंभिक/प्राथमिक क्रियाओ को मुख्यता देने का है। उसके बाद अध्यात्म आपोआप चलेगा।

ना.: पं. जी (फूलचन्दजी) ने 'ज्ञानपीठ-पूजांजलि' की भूमिका में त्रिकाल वन्दना को सामायिक कहा है। त्रिकाल वन्दना मे पूजा-पाठ इत्यादि सब आ जाता है। आज देश मे/समाज

मे अशान्ति बढ रही है, पापाचार बढ रहा है, लोग दु खी है, अनेक आपत्तियाँ है। अत प्रश्न है, शान्ति कैसे हो ? मुझ तक ऐसे बहुत सारे प्रश्न आते है। लोग भी आते है। रास्ता एक ही है सामायिक। उत्तम तरीका यह है कि उनसे साकांक्ष बात कही जाए, इसका असर अवश्य होता है।

ने.· साकाक्ष यानी ?

ना.: यह कि यदि तुम माला फेरोगे, जाप करोगे, तो तुम्हारे दु ख दूर होगे, यह आकाक्षा भीतर रखने से वह उधर झुकता है। कई लोगो को इससे लाभ हुआ है।

ने.: यानी जो धर्म निर्लोभ की ओर ले जाता है, उसे लोभ से शुरू करे।

ना.: यह लोभ नही है, साकाक्ष यानी भगवान् की माला फेरने से, जप करने से (जो एक तरह से सामायिक का रूप ही है) शान्ति मिलती है, दु ख दूर होते है। यह ऊँचा रूप नहीं है, क्योकि साकाक्ष है, लेकिन सामायिक के जो आरभिक रूप प्रचलित है उनसे सामाजिक शान्ति लौट सकती है।

ने. क्या 'मेरी भावना' को हम छोटी सामायिक कहे ? क्योकि इसमे सामायिक से सबन्धित लगभग सब कुछ आ गया है, वह भी बडी सरल-सुगम भाषा मे। एक बडे पण्डित के हस्ताक्षर करवा रहा हूँ मेरे इस कथन पर कि 'मेरी भावना छोटी सामायिक है'।

फू.: 'मेरी भावना' सामायिक का अग हो सकती है, स्वय मे सामायिक तो नही। अग वह हो सकती है, उसे भी पढ़े।

ने.· आलोचना पाठ ?

फू.· अच्छी बात है।

ने.: आचार्य अमतिगति का सामायिक पाठ ? क्या इन तीनो से कोई पूरी सामायिक बनती है ?

फू.· बडी सामायिक हो जाती है, मात्र 'आलोचना पाठ' पढना भी सामायिक है।

ने.: मै तीनो के एक साथ पाठ की अनुशसा करना चाह रहा हूँ।

फू.· जीवन-की-सर्वांग समीक्षा की दृष्टि से 'आलोचना पाठ' सबमे बड़ी सामायिक है।

ने.: आलोचना पाठ, यह किसका लिखा हुआ है ?

ना.: जौहरीलाल का। 'जौहरी आप जिनन्द' पाठ के अन्त मे आया है।

फू.: 'अलोचना पाठ' पढ लिया तो मै कहता हूँ सबसे बड़ा काम कर लिया, क्योकि जो भी इसे पढेगा, बुरे काम कम करेगा।

ने.: हम एक त्रिकोण वना रहे है 'सामायिक' का। आचार्य अमितगति का 'सामायिक पाठ' हुई आधार भुजा। जुगलकिशोर मुख्तार की 'मेरी भावना' बायी भुजा, जौहरीलाल का

'आलोचना पाठ' दायी भुजा, इस तरह इन तीनो से एक त्रिकोण बन जाता है जिसके बीचो- बीच आ बैठती है सामायिक। आप क्या सोचते है, यह ठीक है ?

फू.: बहुत सुन्दर है।

ने.: क्या इसे लोगो मे प्रचारित किया जाए ?

फू.: अवश्य।

सामायिक : आत्मशुद्धि/आत्मान्वेषण की प्रक्रिया

डॉ. नेमीचन्द जैन : क्या सामायिक और प्रतिक्रमण दोनो मे कोई विशेष भेद है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : ये एक-दूसरे से सबद्ध हैं। पर्यायवाची नही हैं। ये आत्म-शुद्धि की विक्रियाएँ (विशेष क्रियाएँ) हैं।

ने.: वैसे समय का अर्थ आत्मा होता है।

वि.. हाँ, एक बात और, हमारे यहाँ नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, और भाव सामायिक-ऐसे भी भेद किये है। धवला मे ये चार भेद बताये है।

ने.· क्षेत्र-काल सामायिक भी है क्या ?

वि.: हाँ।

ने.: नाम सामायिक यानी ?

वि.: किसी अशुभ नाम का लेना छोड देना, शुभ नाम का लेना।

ने.: उन शब्दो को छोड देना जो शरीर मे आसक्ति बढाते हो ?

वि.: हाँ, और स्थापना सामायिक मे अपने अन्दर जो अनन्त विषयो को स्थापित कर रख है, उन्हें निकाल कर उसमे वीतरागता स्थापित कर देना ।

ने.: अशुभ/अशुद्ध को विस्थापित करना और वीतरागता को स्थापित करना।

वि.: द्रव्य सामायिक मे भगवान् की वीतराग मुद्रा का आलम्बन के रूप मे चिन्तवन करना।

ने.: भावोत्कीर्ण करना।

वि.: भाव सामायिक अर्थात् समता भाव मे शुद्धोपयोग मे रमण करना।

ने.: उसमे कोई स्थूल आलम्बन नही रहता।

वि.: मात्र आत्मा ही बच रहता है।

ने.· अर्थात् आत्मा-ही-आत्मा-का आलम्बन हो जाता है।

वि.. हाँ, यही सामायिक है। इसमे आप क्षण-प्रति-क्षण स्थिर होते हुए एकाग्र हो सकते है। इस समय कोई भी द्वन्द्व नही होना चाहिये।

ने.: क्या भाव सामायिक नियतकालिक है ?

वि.: भाव सामायिक जब भी आप एकाग्र हो जाते है, समताभाव मे बैठ जाते है, आत्मारूढ हो जाते हैं, तभी वह हो जाती है।

ने.: जब तक निर्विकल्पता बनी रहती है तब तक वह भाव सामायिक है।

वि.: अपने भीतर समस्त रागात्मक विषयो को छोड़ देना, विकल्पो को बुद्धिपूर्वक छोड देना भाव सामायिक है।

ने.· क्या सामायिक की कोई निश्चित विधि है ?

वि.· है।

ने.: थोड़े मे बताइये।

वि. दिशा नाम का कोई तत्त्व नही बताया गया है, फिर भी उन्होंने कहा है दिशाएँ चार हैं।

ने.: दिशाओं का महत्त्व है।

वि.: जैसे पूर्व दिशा है, सूर्योदय के कारण इसे पवित्र और परम श्रेष्ठ माना गया है। इसे यामान्तक कहा गया है। मृत्यु (अन्धकार) को जीतने के लिए पूर्व दिशा को श्रेष्ठ कहा है।

ने.· मृत्युजया दिशा।

वि.: इसके बाद पश्चिम है। यह पद्यान्तक है। इसमे मन छोटा हो जाता है।

ने.. शक्तियाँ अस्त हो जाती हैं।

वि.. उत्तर को विघ्नान्तक माना गया है। इसमे कोई विशिष्ट शक्ति, या ऊर्जा का समावेश है, ऐसा वैज्ञानिक कहते है, शास्त्रो ने भी कहा है।

ने.. ध्रुवतारा है।

वि.: हाँ, 'ध्रुव' शब्द आत्मवाची भी है।

ने.: शायद 'उत्तर' मिल जाते हो।

वि.· वस्तुत उत्तर दिशा विघ्नो के दूर होने मे सहायक है।

ने.: यदि साधना मे कोई विघ्न हो, तो वह उत्तरोन्मुख होने से दूर हो जाता है।

वि.: साधना का समझिये, या मन का, वात एक ही है।

ने.: किसी भी प्रकार का विघ्न हो, वह दूर हो जाता है; अत यह विघ्नान्तक दिशा है।

वि.: दक्षिण प्रज्ञान्तक कहा है। इधर का जो वायुमण्डल है, उससे बुद्धिभ्रम सभव है।

ने.: वैसे सामायिक तो चारो दिशाओं मे होती है।

वि.: हाँ।

ने.: यदि मैं सामायिक करना चाहूँ, तो शुरू कहाँ से करूँ ?

वि.: पूर्व से करे, तो बहुत अच्छा है।

ने.: कैसे करेगे पूर्व से ?

वि.: सुखासन, या पद्मासन से पूर्व मे बैठ जाएँ और बैठने के बाद दिशावन्दन कर ले कि इस गुफा (स्थान) से बाहर नही जाऊँगा, इस आसन से नही उठेगा। इसके बाद गृहस्थो को यह भी बताया है कि एकान्त मे वे कपडे उतार ले, या गाँठ बाँध लें।

ने.: कुछ मर्यादा निश्चित की है।

वि.: हाँ, तब तक यहाँ से नही उठूँगा।

ने.: क्षेत्र की मर्यादा।

वि.: समय की मर्यादा भी। एक मे दोनो आ जाते है। जैसे, पहले चोटी होती थी, तो उसमे गाँठ बाँध लेते थे। जब तक सामायिक करूँगा, इस क्षेत्र से नही उठूँगा। जब लघुशका आदि का अहसास हुआ, तब गाँठ खोल दी। गृहस्थों के लिए इस तरह के निर्देश है।

ने.: मुनियो के लिए भी हैं।

वि.: मुनियो के लिए छह घडी से अन्तर्मुहूर्त अर्थात् आधे घण्टे तक।

ने.: घडी के हिसाब से कब तक ?

वि.: कम-से-कम जैसे सूर्योदय और सूर्योस्त के पूर्व उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य है, अन्तर्मुहूर्त।

ने.: मिनिट के हिसाब से कितना ?

वि.: ४८ मिनिट, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

ने.: उतना करना चाहिये। एक दिशा मे करने के बाद दूसरी दिशा मे।

वि.: दिशा बदल सकते है

ने.: आवर्त करते है चारों ओर ?

वि.: चतुर्दिशि वन्दना है।

पूर्व दिशा मे जितने केवली हो गये, सिद्ध भगवान् मुक्त हो गये, उन सबको मै प्रणाम करता हूँ।

इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा मे नमन की विधि है। चारो दिशाओ मे नमस्कार करके थोडी देर सामायिक पाठ करे।

ने.: आचार्य अमितगति का सामायिक पाठ बहुत प्रसिद्ध है।

वि.: हाँ, सामायिक पाठ मे आचार्य अमितगति ने कितने चमत्कार के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से कथन किया है। वे श्रमण सस्कृति के अमर गायक थे।

उनकी दृष्टि बहुत व्यापक और वैज्ञानिक थी, इसीलिए हम सब परमात्मा की स्तुति करते है, उसके गीत गाते है और उसका स्मरण करते है। इससे सिद्ध हुआ कि जैनधर्म के सकीर्णताओ से बँधे न होने के कारण, उन्होंने उसे बहुत व्यापकता प्रदान की। इस व्यापकता-की-उदार चित्तवृत्ति मे उन्होंने कह दिया कि मै ऐसे परमात्मा का स्मरण और ध्यान कर रहा हूँ, जिसका दुनिया मे सभी स्मरण करते है। कितनी व्यापक दृष्टि से उन्होंने गीत गाया है उस निराकार, निरजन परमात्मा का, जिसकी स्तुति नरेन्द्र-सुरेन्द्र सभी करते है और जिसका स्मरण मुनीन्द्र भी करते है; वे कहते है ऐसे देवो-के-देव मेरे हृदय मे आसीन हो।

ने.. जब दिशाओ मे आवर्त करके बैठ जाएँगे पलथी मार कर तब सामायिक पाठ का मनन करेंगे।

वि.: हाँ।

ने.: अमितगति के अलावा औरो के सामायिक पाठ भी है ?

वि.· है।

ने.. लेकिन लोकप्रिय यही अधिक है।

वि.· हाँ।

ने.: सामायिक मे परमात्मा को आलम्बन-रूप लिया गया है ?

वि.: इस कलियुग मे मन विना आलम्बन के ज्यादा देर तक टिक नही सकता, आप प्रतिमा (मूर्ति) का आलम्बन ले सकते हैं।

ने.: सूत्र का आलम्बन भी ले सकते है ?

वि.. किसी का भी आलम्बन ले लीजिये। परमाणु का आलम्बन ले लीजिये।

ने.: वह तो गहन/दु साध्य आलम्बन होगा।

वि.: कोई कठिन नही है।

ने.: उसे देख नही सकेगे।

वि.: लेकिन भाव आप कर सकते हैं। जिसका दूसरा टुकड़ा नही हो सकता वह है परमाणु। जिस प्रकार परमाणु अभेद्य है, उसी प्रकार आत्मा भी अभेद्य है।

ने.: सादृश्य के द्वारा हम सहज ही उस चिरन्तन सत्य तक पहुँच सकते है।

वि.: भक्ति (रुचि) होनी चाहिये, फिर हम चाहे प्रतिमा का चिन्तवन करे, वीतरागता का चिन्तवन करे, सिद्ध भगवान् का करे या तुष-माष का चिन्तवन करें।

ने.: भेद-विज्ञान-पूर्वक किसी का भी चिन्तवन करे।

वि.: हाँ, भक्ति निरीह होनी चाहिये।

ने.: अनासक्त और निष्काम भक्ति होगी, तभी ध्यान होगा। अच्छा, यह वतलाइये कि सामायिक के वाद क्या करे ?

वि.: बार-बार सामायिक करें; जैसे सूत कातते समय धागा बार-बार टूटता है, तो कतवैया उसे जोड़ देता है। इसी तरह चिन्तवन करते-करते विचार टूटता है, तो उसे जोड़ना है।

ने.: किन्तु जोड बिलकुल दिखना नहीं चाहिये।

वि.: हाँ।

ने.: साधक की यह कुशलता वहुत सूक्ष्म होगी।

वि.: हाँ, सामायिक के पहले चारों दिशाओं मे नमस्कार किया, फिर उससे उल्टा किया यानी चारो दिशाओ मे पचाग नमस्कार किया तथा 'णमोकार-मन्त्र' की जाप के साथ सामायिक को सम्पन्न किया। 'णमोकार-मन्त्र' की जाप भी सामायिक मे आती है।

ने.: 'सामायिक पाठ' और 'प्रतिक्रमण सूत्र' प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी तीनो मे है; तो हम इन्हे प्राकृत मे करे, संस्कृत मे करे, या क्या करे ? लोग प्राकृत सस्कृत तो जानते नहीं हैं।

वि.: मूल में करे। आचार्यों ने जिस भाषा मे उन्हे लिखा है, उसमे करे; क्योकि मूल मे जो मिठास है, प्राकृत मे जो मिठास है, वह अन्यत्र नही है।

ने.: मूल का आनन्द अनुवाद मे नही मिलता ?

वि.: नहीं, कुछ-न-कुछ रह ही जाता है। प्राकृत मे सरलता है।

ने.: इसलिए मूल पाठ ही करना चाहिये।

वि.: हाँ, मूल से भटकना नही चाहिये।

ने.: अर्थ जान लेना ठीक होगा।

वि.: वह तो जान ही लेना चाहिये।

ने.: साधु तो मूल पाठ करते है, लेकिन गृहस्थ के लिए रास्ता है ?

वि.: गृहस्थ भी करते है, दूसरा उपाय नही है। गृहस्थो को भी वही करना होगा। गृहस्थ नही करेंगे, तो गाडी कैसे चलेगी, बताइये।

ने. गाड़ी तो चलाना ही होगी। आलोचना पाठ बहुत प्रसिद्ध है, वह हिन्दी मे ही है।

वि.: वह प्राकृत मे भी है, सस्कृत मे भी है।

ने.: हिन्दी का अधिक लोकप्रिय है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि मनुष्य के आत्मान्वेषण की प्रक्रियाएँ है।

वि.: जैनधर्म मे वस्तुत जो भी है, वह सब आत्मान्वेषण के लिए ही है।

ने. मनुष्य के व्यक्तित्व को संपूर्णता देने के लिए।

वि.: सही है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव - ये चारो प्रकार की सामायिक व्यक्ति को उत्कृष्टता की ओर ले जाती हैं।

ने.: क्रमशः उत्कृष्टता की ओर।

वि.: चित्त का निरोध करना द्रव्य सामायिक है। ग्राम-नगर-जनपद आदि स्थान का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है। किसी क्षेत्र के प्रति राग-द्वेष नही रखना और वर्षादि जो ऋतुएँ होती है (जैसे-वर्षा थम जाती तो अच्छा रहता, गरमी खराब है) उनमे द्वेष नही करना, समताभाव रखना-काल सामायिक है; और छह द्रव्यो मे समभाव रखना-अस्खलित भाव रखना, भाव सामायिक है।

ने.: अन्त मे, यह कथन कि जैसे 'मनुष्य रविवार के लिए है, या रविवार मनुष्य के लिए है'; वैसे ही यह कि 'प्रतिक्रमण साधना के लिए है, या साधना प्रतिक्रमण के लिए' -इसे स्पष्ट करे।

वि.: यह तो ऐसा ही हुआ, जैसे, मनुष्य पैसे के लिए है, या पैसा मनुष्य के लिए है।

ने. यही तो जानना चाहता हूँ मै।

वि.: जैसे मनुष्य के लिए पैसा साधन है, वैसे ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण या सामायिक है। वह तो साधन है, साध्य तो मनुष्य के उत्तम/निर्मल परिणाम है।

सामायिक के लिए प्रतिक्रमण

डॉ. नेमीचन्द जैन : अनियतकालिक सामायिक तो कभी भी हो सकती है। आप चल रहे है, तो भी हो सकती है; शयन कर रहे है, तो भी हो सकती है।

आचार्यश्री विद्यासागर : एक सामायिक 'चारित्र' अलग होता है, और एक सामायिक 'आवश्यक' अलग होता है, एक सामायिक 'प्रतिमा' अलग होती है, और एक सामायिक 'व्रत' अलग होता है।

ने.: इन्हे तनिक समझा दीजिये।

वि.. सामायिक व्रती जो होता है, वह पाँच पापो को अणुव्रत मे छोड़ देता है, फिर उसमे निष्ठा बनी रहे; इसलिए सामायिक व्रत अगीकार कर लेता है। यह तीन सन्ध्याओ मे किया जाता है, वह एक-दो सन्ध्याओ मे कर लेता है, इसलिए उसको सामायिक व्रत कहते है। सामायिक प्रतिभा मे वह तीन सन्ध्याओ मे मुनिवत् अपने आपको सामायिक में उतार लेता है।

ने.: गृहस्थ/श्रावक ?

वि.: गृहस्थ , इसलिए उसे सामयिक कहा है। समय की पाबन्दी को पालने वाला।

ने. सामायिक ?

वि.: 'सामायिक' नही, 'सामयिक'। सामयिक समय की पाबन्दी पर शर्त ले कर बैठता है कि मै एक घण्टा बैठ सकता हूँ। हम 'सामयिक' वाले नही, हम 'सामायिक' वाले है।

ने.: गृहस्थ/श्रावक सामयिक है।

वि सामायिक के समय वेश बदल लेते हैं। सामायिक के अनुसार। सामायिक व्रत और प्रतिमा-तीनो सन्ध्याओ मे निर्दोष मुनिवत् होती है, तदुपरान्त सामायिक चारित्र है। यह है आजीवन, पंच पापो का संपूर्ण त्याग।

ने.: आजीवन ?

वि.: सर्वप्रथम जब पापो से निवृत्ति हो जाती है, तो नियम से सामायिक चारित्र मे 'निष्ठ' हो जाते है मुनिराज। यह अभेद होता है। सामायिक का एक अर्थ है अभेद।

ने.: अभेद अर्थात् ?

वि.: विकल्प-रहित। मुक्त हो जाता है विकल्पो से - निर्विकल्प।

ने.: नि शल्य ?

वि.: इसका उदाहरण बाद मे दूँगा। सामायिक चारित्र हो गया यह। बाद मे सामायिक आवश्यक। जो सामायिक चारित्री है, वह अपनी चर्या मे जब कोई कमी/दोष लग जाते है, उन्हे दूर करने के लिए यह नियत सामायिक-तीन सन्ध्याओ मे कर लेता ह; इसे सामायिक आवश्यक कहते है। सामायिक चारित्र मे जो दोष लग गया, उसका सामायिक आवश्यक द्वारा परिहार किया जाता है।

ने.. यह तो एक प्रकार का प्रतिक्रमण ही है।

वि.: है ही, 'समता' मे जब दोष लग जाते है, तो 'सामायिक आवश्यक' बता कर उन दोषो का परिमार्जन किया जाता है।

ने.: आपने कहा था कि उदाहरण बाद मे दूँगा।

वि.: अभेद और भेद की कल्पना को ले। अभेद मे सर्वप्रथम समता आती है- पापो से मुक्त होने पर, फिर बाद मे उसमे भेद की कल्पना आने लगती है। तो सर्वप्रथम सामायिक चारित्र उत्पन्न होता है, बाद मे छेदोपस्थापना चारित्र होता है।

ने.: यह क्या है ?

वि.: छेदोपस्थापना का अर्थ यह है कि समता (सामायिक) ली थी, उसमे 'छेद' हो जाता है, अत उसमे पुन उपस्थिति, या उसे स्थापित करना होता है। पहले तो छेद होता नही, अखण्ड होता है। फिर दूषण लग जाता है। पहले अभेद आता है, बाद मे भेद आता है। पहले अखण्ड, बाद मे खण्ड। तो उसके लिए दृष्टान्त यह है कि सर्वप्रथम जब स्वाति-नक्षत्र मे बूँद गिरती है तो वह सीप मे ढलती है। ढलने के उपरान्त वह उसमे मोती के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। जब कभी लोग उसे देख लेते है, तो खोलने कर उसमें से मोती निकाल लेते है। वह मोती सुन्दर, अखण्ड, अभेद होता है। उसे गले मे पहिनने के लिए उसमे छेद होना जरूरी है, इसलिए उसे छेद देते है। इसी प्रकार भावो के द्वारा अभेद को भेद कर लेते है। भावो की सुई से छेद (भेद) होता है। हम अभेद/अछेद अवस्था मे रह ही कहाँ पाते हैं, इसलिए हम फिर बाँधने का प्रयत्न करते है। हम बन्धन के शौकीन है न ?

ने.· मोक्ष की ओर नही जाते।

वि.: बन्धन की ओर, फिर भी मोती मोती है। हार मे वह रहता है।

ने.: मोती के लिए मुक्ता शब्द है। इसका कही-न-कही मुक्ति से संवन्ध तो हुई है।

वि.: यही है, मुक्त वही है जो 'छेद' से मुक्त है।

ने.: आपने यह वढिया उदाहरण दिया है।

वि.: सामायिक की गहराई मे डूवने से ही यह उदाहरण मिला है।

ने. नही तो कैसे मिल सकता था ?

वि.: यह आचरण पत्रिकाओ में नही है।

ने.: वह हम कहाँ से ला सकेगे ?

वि.: एक विद्वान् ने कहा था छेदोपस्थापना और सामायिक मे क्या अन्तर है ? हमने कहा, आप मुनि वन जाइये, तो विदित हो जाएगा (हँसी)।

□

ने.: सामायिक में प्रतिक्रमण गर्भित है; प्रतिक्रमण मे सामायिक गर्भित नही है।

वि.: सामायिक तक पहुँचने के लिए प्रतिक्रमण एक रास्ता बनता है।

ने.: एक वीथि है।

वि.: इसलिए यह प्रवृत्ति है, किन्तु सामायिक मे प्रवृत्ति का अभाव है। यह बात अलग कि मोक्ष/स्वभाव की ओर जाने के लिए प्रवृत्ति भी आवश्यक है, लेकिन प्रवृत्ति तो अन्त प्रवृत्ति ही है।

ने.: प्रतिक्रमण निवृत्तिपरक है।

वि.: नही; प्रतिक्रमण करने के उपरान्त निवृत्ति होती है।

ने.: निवृत्तिमूलक कह सकते है क्या ?

वि.: निवृत्तिमूलक भी नही कह सकते। निवृत्ति-के-लिए कह सकते है।

ने.: निवृत्यर्थ है।

वि.: ऐसा कह दीजिये।

ने.: उसके बाद ही निवृत्ति का क्रम है। प्रतिक्रमण की समाप्ति पर माने; लेकिन प्रतिक्रमण कभी समाप्त होगा नही।

वि.: दोषो-का-अभाव यानी प्रतिक्रमण-का-अभाव।

ने.: सब दोष अनुपस्थित हो जाएँगे, तो फिर उसके बाद यह प्रवृत्ति अपने आप उस अनुसार हो जाएगी; उसका अनुगमन करेगी।

वि.: सामायिक नीरोग अवस्था है और प्रतिक्रमण रोग हटाने की प्रक्रिया है।

ने.: सामायिक नीरोग अवस्था है।

वि.: हाँ, और प्रतिक्रमण उस रोग को हटाने की प्रक्रिया है, यानी यह औषधि काम करता है।

ने.: प्रतिक्रमण औषधि है ?

वि.: प्रतिक्रमण औषधि तो है ही।

ने.: प्रतिक्रमण में भेद-विज्ञान की कोई भूमिका है ?

वि.: दोष और गुण दोनो का भेद-विज्ञान तो है ही।

ने.: मै पुद्गल और आत्मा के सदर्भ मे पूछ रहा हूँ।

वि.: वही तो पुद्गल है - दोष पुद्गल है, और गुण चेतना है। पुद्गल से दोष उत्पन्न हैं।

का पता लग जाएगा, तो आरोग्य अपने आप आ जाएगा। इसका उपाय कीजिये।

ने.. इससे रोग तन्दुरुस्त होगा। रोगी तन्दुरुस्त नही होगा। (हँसी)।

वि.: टॉनिक-द्वारा रोग का निष्कासन तीन काल मे असंभव है। सामायिक पानी है। प्रतिक्रमण गोली है; औषधि।

ने.· कुछ लोग सामायिक करते है, लेकिन दोषो का परिहार नही करते।

वि.: प्राय यही हो रहा है, होता आ रहा है, यह जीवन नही है, जीवन तो वह है, जिसके विना वह रहे नही।

ने. प्रतिक्रमण का अनुगामी यदि सामायिक है, तो वह फलप्रद होगा।

वि.· सामायिक के लिए प्रतिक्रमण है।

ने.· उसका अनुसरण करे, तो लक्ष्य क्या हो- सामायिक के लिए प्रतिक्रमण, या प्रतिक्रमण के लिए सामायिक है।

वि.. सामायिक के लिए प्रतिक्रमण।

ने. सामायिक के लिए यदि प्रतिक्रमण है, तो वह नीरोग की ओर ले जाएगा, नही तो रोग बढेगा।

वि. यहाँ सामायिक का अर्थ अभ्यन्तर ले सकते है-केप्सूल के अन्दर की जगह। केप्सूल का अर्थ है कव्हर, यानी वह मात्र कवच है। उसके बिना भी काम नही चलता, यह प्रतिक्रमण है। ऊपर का व्यवहार अतिक्रमण है। वह भीतर स्थित औषधि की सुरक्षा के लिए है।

ने. प्रतिक्रमण रक्षा-कवच, या आवरण है। इस प्रकार प्रतिक्रमण केप्सूल है और सामायिक औषधि।

वि.: वह भीतर जा कर प्रभावित करती है, लेकिन केप्सूल ऐसा होना चाहिये कि सरलता से अन्दर जा कर घुल सके। यदि वह अन्दर जा कर गलता नही है, तो औषधि का कोई प्रभाव नही होगा।

ने.. यह केप्सूल मिलता किस दुकान पर है ?

वि.· यह पहले नही बताते है। यदि पहले से ही वता देंगे, तो लोग चुरा कर ले जाएँगे। काम होगा नही। (हँसी)

ने.. ऐसा क्यो है कि दिगम्बरो मे सामायिक का प्रचलन अधिक है और श्वेताम्बरो मे प्रतिक्रमण का।

वि.. आवश्यक जितने भी होते है, सव अपने आप मे महत्त्व के है।

ने.: होते है; लेकिन ऐसा प्रचलन क्यो हो गया कि दिगम्बरो में सामायिक अधिक लोग करने लगे ? क्या सामायिक की कोई विधि है ?

वि.: प्रतिक्रमण की भी है।

ने.: सामायिक की विधि थोड़े मे जानना चाहूँगा।

वि.: सामायिक जीवन है, और प्रतिक्रमण उसके निमित्त सहायक है, साधक है।

ने.: सो तो ठीक है, लेकिन एक संप्रदाय मे सामायिक प्रचलित है, दूसरे मे प्रतिक्रमण, यह क्यो है ?

वि.: प्रचलन, वह तो अपनी-अपनी दृष्टि से हो जाता है। किसी के यहाँ योग है, किसी के यहाँ प्राणायाम।

ने.: क्या प्रतिक्रमण की प्रथा दिगम्बरो मे पुनरुज्जीवित हो ?

वि.: नही।

ने.: सामायिक ही चलनी चाहिये ?

वि.: छहो आवश्यक।

ने.: ज्यादातर लोग कहते है कि हम सामायिक कर रहे है, तो तब वे क्या कर रहे होते है, प्रतिक्रमण या सामायिक ?

वि.: वे दोनो ही नही कर रहे है।

ने.: यह तो आप का अवलोकन (ऑब्जर्वेशन) हुआ।

वि.: दोनो नही कर रहे है, यह इसलिए कि यदि वे समय पर अपने कर्त्तव्य कर रहे है, तो इसे करने की कोई आवश्यकता नहीं है। समय पर कर्त्तव्य कीजिये, फिर एक पर जोर क्यो ? यदि एक आवश्यक मे कोई कमी आ रही है, तो दूसरे को कीजिये।

ने.: मामायिक मे यदि हम आत्मचिन्तन के लिए बैठेंगे; तो उसका देह पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

वि.: देह पर, कर्म पर, चिन्तन पर-सर्वत्र पड़ेगा।

ने.: सामायिक हम किसी भी दिशा से शुरू कर सकते है विधि मे हम जहाँ खडे हो, वहाँ सर्वप्रथम क्या करे ? शिरोनति क्या है ?

वि.: सामायिक की पूर्वावस्था।

ने.: सामायिक मे आने की विधि का प्रश्न है।

वि.: शिरोनति यानी सिर झुका कर अंजलिवद्ध नमस्कार। इसका भावार्थ है ' नम्रता। पंचपरमेष्ठी के प्रति विनय।

ने.: उसके बाद चारो दिशाओ मे इसी तरह होगा।

वि. तीन आवर्तों के साथ।

ने.: इसका आदर्श समय क्या है ? सामायिक कितनी अवधि तक होनी चाहिये ?

वि.: ४८ मिनिट, एक मुहूर्त।

ने.: इससे अधिक भी हो सकती है। कम-से-कम यह है।

वि. क्योकि ध्यान जब भी होता है, वह ४८ मिनिट की सीमा मे ही होता है।

ने.: ४८ मिनिट के पीछे भी क्या कोई युक्ति है ?

वि.. छद्मस्थ का उपयोग इतने समय ही टिक पायेगा।

ने.. क्या णमोकार-मन्त्र की कोई भूमिका सामायिक मे है।

वि.: है, वन्दना के समय।

ने.. किस प्रकार ?

वि.. नौ बार णमोकार-मन्त्र कहे। जब कायोत्सर्ग करे चारो दिशाओ मे तब भी णमोकार-मन्त्र बोले।

ने.: कायोत्सर्ग से यहाँ मतलब ?

वि.: २७ श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार-मन्त्र।

ने. श्वासोच्छ्वास की यहाँ क्या सार्थकता है ?

वि.: जो अ-स्वस्थ होगा, उसे ही बता सकेगे।

ने.. मुझे अस्वस्थ मान लीजिये। हूँ तो स्वस्थ। (हँसी)।

वि.: वस्तुत णमोकार-मन्त्र परवर्ती सयोजना है। मूल मे ऐसा नहीं है। प्रत्येक दिशा मे २७ श्वासोच्छ्वास के ३ आवर्ता का विधान है।

ने.: इस तरह १०८ श्वासोच्छ्वास हो जाएँगे। यह तो १२-१४ मिनिट मे समाप्त हो जाएगा, फिर क्या करेगे ?

वि.. अपने जो श्वासोच्छ्वास हैं, तद्नुरूप ही इसे कर लेना चाहिये, क्या इसे आप पूरी-की-पूरी सामायिक मे कर नहीं रहे है, दिशाओ के कायोत्सर्ग मे २७ श्वासोच्छ्वास का विधान है।

ने.: और अधिक-मे-अधिक ?

वि.: ऐसा कुछ नहीं है। चारो दिशाओ मे जो वन्दना करते है। उसमे इतना पर्याप्त है।

ने.: शेप जो समय वचेगा, उसमे क्या होगा ?

वि.: पात्र के अनुरूप चिन्तन।

ने.: अर्थात् .

वि.: इसके बाद जो समय बचे, उसमे सोचे कि मैं शरीर से भिन्न हूँ, शरीर शरण-योग्य नहीं है। यह दु ख-रूप है। यह अनात्म है। अत यह भावना ही आत्मोत्थान देगी। शरीर से ऊपर ले जाएगी। हम सोचे कि इसमें क्या-कैसा भरा है ? सात धातुओ (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) के अलावा इसमे कुछ नही है। आश्चर्य है कि इस सात धातुओं का नाम लेते ही वैराग्य होता है, लेकिन सात धातुओ वाले का नाम लेते ही राग होता है!

ने.: इस गडबड का अनुचिन्तन करना चाहिये।

वि.: यह भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान के माध्यम से ही सम्यक्त्व सभव है।

ने.: स्थिरता भेद-विज्ञान से ही बनेगी। सामायिक समापन की कोई विधि है ?

वि.: जैसे आपने अगीकार किया था, ठीक वैसे ही समाप्त कर दीजिये। उसी तरह चारो दिशाओ में शिरोनति तथा आवर्तपूर्व।

सामायिक : समता की साधना / आराधना

डॉ. नेमीचन्द जैन : सामायिक भी आवश्यको मे-से एक है। सामायिक दिगम्बरो मे और प्रतिक्रमण श्वेताम्बरो मे अधिक चल पडा, ऐसा क्यो-कैसे हुआ ?

आचार्यश्री तुलसी : यह भ्रान्ति हुई- सामायिक और प्रतिक्रमण मे। प्रतिक्रमण छह आवश्यको मे-से एक है।

ने.: छह मे-से एक ?

तु. हमने सबको प्रतिक्रमण मान लिया। सामायिक, स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग-छहो स्वतन्त्र हैं। हमने इन सबको प्रतिक्रमण मान लिया, यह भ्रान्ति हुई है।

ने.: मै कुन्दकुन्दाचार्य का 'नियमसार' पढ़ रहा था। उसमे प्रतिक्रमण पर जो कुछ कहा गया है, इतना आश्चर्यजनक है कि उन्होंने 'प्रतिक्रमण-रत' साधु को ही 'प्रतिक्रमण' कह दिया है।

तु.. अच्छा! (प्रसन्नता-सूचक)।

ने.: साधु के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द काम मे लिया है। जब साधु प्रतिक्रमण कर रहा है, तब वह इस कदर प्रतिक्रमणमय है कि उसका सबोधन ही 'प्रतिक्रमण' हो गया है। दोनो पर्याय बन गये है। सामायिक और प्रतिक्रमण मे भ्रान्ति क्यो हुई ? इसका मूल कारण क्या है ?

तु.: यह कि इसे हमने प्रतिक्रमण का अग मान लिया। हम आवश्यक कर रहे है। तो हम कहते है कि हम प्रतिक्रमण कर रहे है।

ने.: पर्याय शब्द हो गया, पर्याय है नही।

तु.: आवश्यक कर रहे हैं, और कहते है प्रतिक्रमण कर रहे है । सामायिक तो समता की साधना/आराधना है। सामायिक का प्रतिक्रमण से कोई सीधा सबन्ध नही है। समता की साधना-आराधना सामायिक है। प्रतिक्रमण के पहले सामायिक, समता-का-अभ्यास, करना चाहिये।

ने.: उससे पृष्ठभूमि बन जाएगी प्रतिक्रमण की। सामायिक से प्रतिक्रमण की एक स्वस्थ पीठिका वन सकती है।

तु.· जहाँ तक मेरा खयाल है, दिगम्बरो मे जो सामायिक को प्राथमिकता दी गयी है, वह ध्यान की विशेष अपेक्षा से है। हमारे यहाँ सामायिक प्रतिक्रमण की ही प्रक्रिया है। हमारी सामायिक एक वक्त की है।

ने.: अडतालीस मिनिट की।

तु.. साधु के लिए निरन्तर सामायिक है । साधु-जीवन स्वयं सामायिक है। साधु-चर्या सामायिक है। सामायिक मे हमने एक परिवर्तन किया है। वह रूढ बन गयी थी। हमने उसे जागृत करने के लिए कुछ अभिनव प्रयोग शुरू किये है।

ने.. गतागुनत से अलग।

तु.: बिलकुल अलग, पढे-लिखे लोग मानते है कि सामायिक बेकार चीज है, अत मैंने उसे एक नया ही आयाम दे दिया है।

ने.: यह अभिनवता क्या है ?

तु.. बात वही है, किन्तु प्रयोग नया है।

ने.. आपने उसे सस्कार दिया है।

तु.· सामायिक मे तीन बाते है -पहली, अपने साथ आसन, चद्दर हो, दूसरी, वह ठीक समय पर हो, तीसरी, सामूहिक हो। सबको पक्तिबद्ध बैठना होगा। एक-दूसरे को कोई छू नही सकेगा। सब-के-सव अस्पृश्य वन जाएँगे। एक साथ पाँच-पाँच हजार आदमियो ने सामायिक की है। हज़ारो-हज़ार लोग एक साथ सामायिक करते है। मै वोलता हूँ, सव वोलते है। प्रत्याख्यान के वाद सामायिक को तीन भागो मे विभाजित कर देता हूँ। पहले सामायिक का भाव-यह जपयोग है। दस-पन्द्रह मिनिट जप करे- ***अ सि आ उ सा नमः*** जव यह सामूहिक होता है, तव इसकी एक पूर्वक लय बन जाती है।

ने.: निर्विकल्पता के लिए।

तु.: दूसरा करते है दीर्घ श्वास प्रेक्षा-प्रयोग। सब एक साथ दीर्घश्वास ले, फिर छोडे और उसकी प्रेक्षा करे।

ने.: आध्यात्मिक अभ्यास (स्पिरिच्युअल परैड)।

तु.: तीसरा प्रयोग है, त्रिगुप्ति-साधना - अच्छा सोचो, अच्छा बोलो, अच्छा चलो। यह भी हो सकता है, हम न सोचे, न बोले , न चले। इसका अभ्यास करो। वैसे न-सोचना, न-बोलना सरल नही है।

ने.: बहुत मुश्किल है।

तु.: पाँच मिनिट यह करवाते है। तीनो प्रयोग कराते-कराते सामायिक सपन्न हो जाती है। इसके बाद परमेष्ठि-वन्दन कराते हैं। उन्हे पता ही नही चलता बल्कि ऐसी प्रतीति होती है कि सामायिक जीवन का एक अविभाज्य अंग है, बडी हलकान महसूस होती है। इसे हम प्रबुद्ध-से-प्रबद्ध तथा युवा-से-युवा व्यक्ति सबसे करवाते है।

ने.: इसमे व्यक्ति समुदाय बन जाता है।

तु.: इसमे हमे बहुत आनन्द आता है। सामायिक का यह अभिनव सस्करण है।

ने.: अभी चल रहा है ?

तु.: यह, यहाँ (जोधपुर) आने के बाद शुरू किया है।

ने.: अच्छा प्रयोग है।

तु.: हमारा लक्ष्य रहता है कि पुरानी चीजो को थोड़ी-थोडी नवीनता दे कर स्वच्छ बनाया जाए। चीजे तो वही है।

ने.: नवीनता पर आपका ध्यान हमेशा रहा है, लेकिन मौलिकताओ को आप नही छोडते।

तु.: नही, उन्हे कैसे छोड सकते है ? फिर नवीनता क्या रही ? मौलिकताओ को कायम रखते हुए स्वच्छ रखते है।

ने.: लिफाफा बदल देते है, चिट्ठी वही रहती है।

तु.: बिलकुल ठीक।

ने.: यह बहुत मुश्किल काम है; लेकिन आप उसे सफलतापूर्वक कर रहे है। सामायिक पर और कोई बात बताना चाहे, तो अवश्य बताइये।

तु.: आपने कोई कमी तो रखी नही है। आप खोज़ी है। (हँसी)।

सामायिक की अन्तिम परिणिति

डॉ. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण के बारे मे आपके विचार जानने की उत्सुकता है।

आचार्यश्री नानालाल : शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रतिक्रमण यानी 'गति'। जो वृत्ति आत्मा से बाहर चली गयी है, स्वभाव-से-विभाव-मे चली गयी है, विभाव के कारण वह उलट गयी है, उसने स्व-रूप को विस्मृत कर दिया है।

ने.· स्व-भाव विस्मृत हो गया है।

ना.. इसलिए उसे वहाँ से लौटाना। विभाव-से-स्वभाव-मे लौटना, प्रतिक्रमण है।

ने.: यह जब आप करते है, तब उसमे आपको कैसी अनुभूति होती है ?

ना.: प्रतिज्ञा ले रखी है पाँच महाव्रतो की, पाँच समितियो की, तीन गुप्तियो की। ये प्रतिज्ञाएँ भावात्मक है, स्वभावगत है। ग्रहीत के बाहर जब व्यतिक्रमण-अतिक्रमण हो जाता है, वहाँ से लौटा करके इनमे (यहाँ) पुन स्थिर करना प्रतिक्रमण है।

ने.: यहाँ यह जो व्यतिक्रमण/अतिक्रमण हो गया है, वहाँ से प्रत्यावर्तन, इसी का नाम प्रतिक्रमण है।

ना.. जैसे, श्रमण/साधु ने अहिसा का परिज्ञान किया, यदि वह हिसा की ओर बढ़ गया, तो वहाँ से वापस लौटना और उसका प्रायश्चित्त करना। यह 'मिच्छामि दुक्कडं' है।

ने.· प्रायश्चित्त तो प्रत्याख्यान मे आ जाएगा ?

ना.: वह प्रत्याख्यान मे आयेगा ही, जो व्यतिकरण, अतिक्रमण, या अतिचार हुआ है, वह तो 'मिच्छामि दुक्कडं' कह कर मिथ्या हो गया, लेकिन जो अनाचार हो गया है अर्थात् व्रत-भग हुआ है, उसकी अलग से आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना होगा।

ने.: अनाचार की आलोचना अलग से होगी ?

ना.: जैसे मन मे अहिसा का संकल्प कर रखा है, फिर भी हिसा का विचार मन मे पैदा होता है तो वह अतिक्रमण है। हिसा का विचार-मात्र आ गया, तो वह अतिक्रमण हो गया। उसकी ओर बढना व्यतिकरण है, जब उसके नजदीक पहुँच गये, तो अतिचार हो गया, हिसा कर ही ली, तो वह अनाचार हो गया, इसलिए अतिचार तक की जो स्थिति है, उसके लिए यह प्रतिक्रमण और 'मिच्छामि दुक्कडं' है, किन्तु जब वह अनाचार की परिधि में चला गया है तो फिर आलोचना करके प्रायश्चित्त करना होगा।

ने.: यह साधु के लिए ज़रूरी है या श्रावक के लिए भी ?

ना.: श्रावक के लिए अणुव्रत है। अणुव्रत की जो प्रतिज्ञा ली है, यदि वह इस प्रतिज्ञा-के बाहर जाता है, उसका सकल्प तो है कि चलते-फिरते भी जीव को न मारना, यदि फिर भी मार का सकल्प मन में आ गया, तो अतिक्रमण हो गया, मारने की तैयारी की तो व्यतिकरण हो गया अतिचार हो गया।

ने.: यदि कर ही डाला तो ··

ना.: अनाचार हो गया।

ने.: वह उसका बड़ा रूप है, और यह उसका संक्षिप्त रूप है।

ना.: प्रारभिक रूप से जो मानसिक संकल्प होते है, उनमे परिवर्तन भी हो जाता है पश्चात्ताप/प्रायश्चित्त से वे निष्फल भी हो सकते है।

ने.: षडावश्यको मे सामायिक की भूमिका/विधि क्या है ?

ना.: षडावश्यको मे सबमे पहले सामायिक है। वैसे सामायिक का रूप विराट् है। य अन्तर्मुहूर्त से ले कर आजीवन तक जा सकती है। श्रावक प्रारंभ मे सामायिक को मुहूर्त मे ही लेत है, साधु आजीवन लेता है। सामायिक का मूल उद्देश्य है चित् स्वरूप मे लीन हो जाता।

ने.: सामायिक की अन्तिम परिणिति है, चित् स्वरूप मे पहुँचना, लेकिन इसके बीच त बहुत सारे सेतुबन्ध -पड़ाव आ सकते है।

ना.: आ सकते है। सामायिक प्रारंभ करने के साथ ही यह लक्ष्य मे रखना होगा कि हमार निर्धारित उद्देश्य कैसे पूरा होता है ?

सामायिक : योग का चरमोत्कर्ष

डॉ. नेमीचन्द जैन · सामायिक का परिणाम क्या निकलता है ? अगर हम किसी से कहे कि सामायिक करो, तो वह क्यो करे, उपयोगिता क्या है इसकी ?

ब्र. कुमारी कोशल : जब हम सामायिक के लिए बैठे तब सब मे पहले तनाव-रहितता करनी होगी - कायोत्सर्ग करना होगा। तनाव-रहितता से शारीरिक परिवर्तन आते है, भावो से भी परिवर्तन आता है। विकार भी शान्त होते है। हमारे शरीर को जो अतिरिक्त काम करना पडता है, उससे भी विश्राम मिलता है। हमारे शरीर मे जो हारमोन्स है, उनका स्राव भी शरीर के लिए जरूरी है, तनाव भी उस समय कम हो जाते है। हम चूँकि धार्मिक भावनाओं मे बैठते है- 'अरहन्त-सिद्ध' का जाप करते है - इन भावनाओ की भी तरंगे बनती है।

ने.: शरीर और मन का शिथिकरण होता है।

कौ.: हाँ, इससे सत्ता मे भी परिवर्तन आता है। शारीरिक और मानसिक परिवर्तन के कारण तनाव-रहितता बनती है। हम जो अवलम्ब प्रारभ मे अरहन्त-सिद्ध का, फिर मूर्ति का उससे रूपस्थ ध्यान सभव होता है। रगो का भी अपना महत्त्व है। शरीर मे जिस-जिस तत्त्व की कमी है, वृत्तियो मे तदनुरूप रगो का प्रयोग भी करते है। बीजाक्षर मन्त्रो की जाप भी उपयोगी है।

ने.. बीजाक्षर से आपका क्या आशय है।

कौ.: जैसे ॐ, ह्री, अर्हं-यह एकाक्षर मन्त्र भी है। इनका जप करके विशेष रूप से नाभि पर उसका कपन (वायब्रेशन) अनुभव करे, क्योकि नाभि से शब्दो की उत्पत्ति होती है।

ने.: नाभि शिराओ का केन्द्र भी है ?

कौ.· हाँ, सारे शरीर का केन्द्र है। नाभि से करे। समय की पाबन्दी रख सकते है-जितने समय सामायिक मे बैठना हो, उसमे उसे समायोजित कर ले। उसके बाद सहज बैठे, फिर करे प्रतिक्रमण, और सामायिक।

ने.: सामायिक ४८ मिनिट तक चलाये ?

कौ. इतने समय तो जरूर चलनी चाहिये। एक रिकॉर्ड प्लेयर है, उस पर कोई रिकॉर्ड लगाता है, कितनी स्पीड होनी चाहिये रिकॉर्ड की ? जिस स्पीड की रिकॉर्ड हो। कहते है ४५ की होती है, ७६ की होती है। उतनी गति तो होनी ही चाहिये। तब उससे अपेक्षित ध्वनि पैदा होगी। इसी तरह सामायिक मे इतना समय तो होना ही चाहिये, ताकि हमारी प्रत्येक स्नायु मे, प्रत्येक शिरा मे, प्रत्येक नाडी मे तनिक शिथिलीकरण संभव हो, उनमे कुछ परिवर्तन हो, उसके साथ कुछ भावनाओ मे भी परिवर्तन हो। उसमे कुछ शान्ति या सहजता का अनुभव हो। सामायिक से उठने के बाद लगे कि हाँ, कुछ तब्दीली हुई है।

ने.· आपने अनुभव किया कि ४८ मिनिट मे ऐसा होता है ?

कौ.: इतना हो, अधिक हो। जैसा कि एक रिकॉर्ड चलाया, उसने एक मिनिट मे दस राउण्ड लिये, उसका क्या प्रभाव होगा, इतनी ऊर्जा पैदा होगी कि हमे प्रभाव का पता नही लगेगा।

ने.: ४८ मिनिट के पीछे भी कोई-न-कोई उद्देश्य रहा ही होगा।

कौ.: इतने समय मे कुछ हो सकता है। ऐसे तो आचार्यों ने कहा कि छह महीनो तक साधना करो। छह महीनो के पहले भी कुछ हो सकता है और कुछ लोगो को छह महीनो के बाद भी नही होता है।

ने.: क्या सामाजिक प्रतिक्रमण भी हो सकता है ?

कौ.: हो सकता है; जैसे क्षमावणी को करते है; यह सामाजिक प्रतिक्रमण ही है।

ने.: लेकिन यह औपचारिक होता है ?

कौ.: कभी-कभी उपचार भी वास्तविक हो उठता है। ऐसा भी होता है कि हजारो आदमियो मे-से एक ने भी वास्तविक कर ली तो पूरा समारोह सार्थक हो उठता है। ऐसे उदाहरण देखने में आये है।

ने.: क्या सामाजिक सामायिक भी हो सकती है ?

कौ.: हो सकती है, इसके लिए 'योग-साधना केन्द्र' उपयोगी हैं। इस दिशा मे मेरी भी बहुत रुचि है।

ने.: कोई प्रयत्न किया है ?

कौ.: कैम्प (शिविर) लगाये है।

ने.: स्वरूप क्या होता है इन कैम्पो का ?

कौ.: इनमे कायोत्सर्ग का अभ्यास कराया जाता है, मन्त्र-ध्यान करवाया जाता है, धारणा-ध्यान भी करवाया जाता है। अन्तर्यात्रा का अध्यास भी होता है। शुरू मे सुझाव दिये जाते है। तदनुसार लोग विचार करते हैं। उसके पश्चात् सात दिन की साधना करवाते है। जो लोग इन शिविरो से लौटे है, उनमे परिवर्तन देखा गया है। उनके अनुभव शान्ति/प्रसन्नतामूलक होते हैं। उनके चेहरो से भी ऐसा आभास मिलता है।

सामायिक : उत्तम सिद्धि के लिए उत्तम साधना

डॉ. नेमीचन्द जैन : सबमे पहले बताइये कि 'सामायिक' क्या है।

डा.: सोनेजी : सामायिक का सही स्वरूप है - समभाव-की-साधना। यही सामायिक का लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो-जो भी प्रक्रियाएँ मन-वचन-काया की है, आत्मपरिणामो को निर्मल बनाने की, सामायिक मे हम इन सबका समावेश कर सकते है।

ने.: सामायिक आत्मा के निर्मलीकरण का उपाय है ?

सो.. उपाय है, साधन भी है। आचार्यों ने कहा है कि श्रावक सामायिक-व्रत को ग्रहण कर आगे बढता है। श्रावक और साधु दोनो के आचार मे सामायिक को समाविष्ट किया गया है।

श्रावकाचार मे प्रतिमा के रूप मे और मुनियो के आचार मे मूल गुणो के रूप मे यह सम्मिलित है। षडावश्यको मे यह है ही। यह भी विचारणीय है कि जो आत्मज्ञान-सहित धर्माराधना मे तल्लीन है, उन्हे उत्कृष्ट सामायिक सधती है।

ने.: क्या सामायिक सवर-निर्जरा का कारण है ?

सो.. हाँ; लेकिन संवर-निर्जरा के साथ पुण्य-बन्ध भी चलता रहेगा। ऐसा नही कि सामायिक सिर्फ सवर-निर्जरा का कारण है, क्योकि कर्म-बन्ध तो गुणस्थान की परिपाटी के अनुसार बँधता ही जाता है।

ने.. सामायिक चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया है ?

सो.. हाँ, अत्मशुद्धि की वैज्ञानिक, क्रमिक, ज्ञानयुक्त, एवं अनुभवसिद्ध प्रक्रिया है, योग-उपयोग की शुद्धि की भी, लेकिन उपयोग-की-शुद्धि की मुख्यतया।

ने.: सामायिक आत्मशुद्धि की ही एक विमल परिणति है, लेकिन सबसे पहले मन-वचन-काय की शुद्धि होनी चाहिये।

सो.· वह तो होनी ही चाहिये।

ने.. मन-को-शुद्ध करने के लिए सरलतम उपाय क्या हो सकता है ?

सो.. तीन उपाय है जिन्होने मन को शुद्ध किया है, उनका संपर्क, जो शुद्ध पुरुष हुए है, उनके जो शुद्धिकरण वचन है, उनसे अपने उपयोग का संस्पर्श, तथा तीर्थंकरो की प्रतिमा मे उपयोग का आकेन्द्रण।

ने.. अर्थात् जीवन्त सपर्क से मन शुद्ध वन सकता है।

सो.. आन्तरिक शुद्धि क्रमश होती है, तीसरा है। सत-समागम अर्थात् जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए सतत् साधनारत है, उनसे प्रत्यक्ष सपर्क, उनका सान्निध्य।

ने.. शब्द-शुद्धि, या वचन-शुद्धि के लिए क्या करना जरूरी है ?

सो. इसके लिए सहजानन्द वर्णी ने जो सूत्र मुझे दिया था, वह है धीरे से वोलो, प्रेम से वोलो, आदर दे कर वोलो, जरूरत होने पर बोलो। यदि इतना याद रखेंगे, तो भाषा का दुरुपयोग नही होगा, आत्मशुद्धि होगी, और वचन-शुद्धि तो होगी ही।

ने.: काया-शुद्धि कैसे करे ?

सो.· इसके दो माध्यम है, पाप-क्रिया मे काया को जोड़ना ही नहीं; आत्मबोध की प्रक्रिया मे काया को लगाये। सप्त व्यसनो से वचे। स्थूल-से-सूक्ष्म-की-ओर जाने की प्रक्रिया है यहाँ,

सामायिक में काया-शुद्धि के बिना नही चलेगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'मोक्ख पाहुड' मे इसका उल्लेख किया है कि आहार-जय करो, निद्रा-जय करो, इन्द्रिय-जय करो, आसन-जय करो, तब योग-जय होगा।

ने.: तब उपयोग-जय सहज हो जाएगा।

सो.: हाँ, आत्म-ज्ञान-सहित जिनकी प्रक्रिया चलेगी, उन्हे उपयोग की स्थिरता उपलब्ध होगी।

ने.: करेगा तो वह नही।

सो.: करेगा भी, लेकिन लक्ष्य नही होगा, तो नही होगा, दो बाते है-अभेद का लक्ष्य रहना चाहिये और उपयोग के निर्मल करने के साधन को बुद्धिपूर्वक अगीकार करना चाहिये। सक्षेप मे, जैसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने 'अपूर्व अवसर' मे कहा है कि स्वरूप-लक्ष्य और जिन-आज्ञा दोनो के समन्वय से सामायिक को संपूर्णता मिलती है।

ने.: क्या सामायिक विना किसी आलम्बन से सभव है ?

सो.: है, रूपातीत ध्यान का मतलब ही यह है।

ने.: क्या रूपातीत ध्यान को सामायिक कहेगे ?

सो.: वह तो परमसामायिक है, जिसमे मै ध्याता, मेरा आत्मा ध्येय और मै ध्यान की प्रक्रिया कर रहा हूँ। एक चैतन्य की सत्ता ही बस वहाँ रह जाती है, जो मोक्षोन्मुख है। साराशत सामायिक परमसाध्य की सिद्धि के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है।

(तीर्थंकर, वर्ष १४, प्रतिक्रमण/सामायिक विशेषाक (अक ७-८), अक्टूबर-नवम्बर१९८४ और सामायिक-विशेषाक (जनवरी- १९८५) मे-से चयनित अश)

बातचीत : सामायिक डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म प्र), टाइप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र); प्रथम संस्करण फरवरी, १९९८ ; मूल्य छह रुपये।

बातचीत : प्रतिक्रमण

डॉ. नेमीचन्द जैन

★ प्रतिक्रमण : अतिक्रमण रोकने का उपाय

- एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द

★ प्रतिक्रमण . जीवन-शोधन की प्रक्रिया

- आचार्यश्री विद्यासागर

★ प्रतिक्रमण का मुख्य लक्ष्य
अपने मूल स्थान पर लौटना

- आचार्यश्री तुलसी

★ प्रतिक्रमण . ग्रन्थि-शोधन की
आधार-भूमिका

- युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

★ प्रतिक्रमण : होना स्वयं-का, स्वय-मे

- साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा

★ प्रतिक्रमण से आत्मावलोकन/आत्मपरिमार्जन

- मुनिश्री नगराज

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

प्रतिक्रमण : अतिक्रमण रोकने का उपाय

डॉ.: नेमीचन्द जैन : सामायिक और प्रतिक्रमण साधुओ और श्रावको-दोनो की दिनचर्या के आवश्यक अग हैं। ये जीवन-शोधन की प्रक्रियाएँ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से, जिन्हें हम रत्नत्रय कहते है, यदि हम शुरू करे, तो कैसा रहेगा ? क्या इन्हे हम सामायिक/प्रतिक्रमण का आधार बना सकते हैं ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' यह सूत्र कहा गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र के बिना कोई भी विधि-विधान, नेम-नियम, अथवा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान हम शुरू नही कर सकते, क्योकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र-संपन्न व्यक्ति के लिए ही बाकी की प्रक्रियाएँ बतायी गयी है।

ने.: यानी यह सूत्र हमारे आध्यात्मिक जीवन की धुरी है ?

वि.: है, क्योकि उसे प्राप्त करने के बाद ही प्रतिक्रमण हो सकता है। मिथ्यादृष्टि-का-प्रतिक्रमण प्रतिक्रमण नहीं है। जैसा कि धवला मे एक स्थान पर बताया गया है कि मिथ्यादृष्टि यदि मंगलाचरण करेगा, तो उसे पुण्य का बध तो होगा, किन्तु उसके पाप का प्रक्षालन नही होगा। सम्यग्दृष्टि यदि सामायिक/प्रतिक्रमण, जप-जाप, देवदर्शन करेगा, तो उसकी क्रियाओं से पापों-का-क्षय भी होगा और पुण्य-का-बंध भी।

ने.: मतलब यह कि किसी भी काम के लिए सम्यक्त्व जरूरी है।

वि.: हाँ।

ने.: चाहे वह चारित्र्य हो, दर्शन हो, या ज्ञान।

वि.: सम्यक्त्व तो अनिवार्य ही है। सम्यग्दर्शन आत्मप्रतीति अथवा आत्मविश्वास की चीज़ है। आप प्रतिक्रमण कर किस लिए रहे हैं ? क्या प्राप्त करना चाह रहे है ? ध्येय यदि मुक्ति है, तो उसकी आधारशिला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र है। तीनो जब अभिन्न हो जाते है, तब मुक्ति है। 'अभेद' के लिए ही इन सारी प्रक्रियाओ और क्रियाओ का करना ज़रूरी है।

ने.: अभी आप समझा रहे थे कि सम्यक् चारित्र ऐसा है, जैसे सफाई स्वच्छता के लिए झाड़ना-बुहारना; सम्यग्ज्ञान द्वारपाल है, जो किसी को अन्दर नही आने देता, और सेनापति की तरह है सम्यग्दर्शन, इन उपमाओ को तनिक स्पष्ट कीजिए।

वि.: भव्यजन कण्ठाभरणम् नामक संस्कृत ग्रन्थ है, जिसमे बताया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र का क्या उपयोग है। मन्द बुद्धिवालो को भी समझ मे आ जाए, इसलिए आचार्यो ने अनेक दृष्टान्तो से इसे समझाने की कोशिश की है। उन्होने कहा सम्यग्ज्ञान प्रत्याख्यान का काम करता है यानी वह आने वाले कर्मों को रोक देता है और सम्यक् चारित्र प्रतिक्रमण का काम करता है यानी वह पुराने कर्मो को बाहर फेक देता है।

ने.: सम्यग्ज्ञान प्रत्याख्यान का काम करता है ?

वि.. हाँ।

ने.. और चारित्र्य ?

वि.· प्रतिक्रमण का। सम्यग्दर्शन इन दोनो को मजबूत बनाता है

ने.: दृढ़ करता है ?

वि.: हाँ, सेनापति यदि दृढ हो, तो सेना घबराती नहीं है, वह निरन्तर आगे बढती रहती है।

ने.: वह स्थितिकरण का काम करता है ?

वि.: हाँ, यह स्थितिकरण का उपाय है, जैसे, मल्लाह के हाथ मे सुकान (डाँड) होता है। जब नाव प्रवाह के साथ जाने लगती है, तब वह उसे घुमा देता है, तो नाव सही किनारा पकडने लगती है।

ने.: यह नियन्त्रक है ?

वि.: हाँ, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ठीक तरह से चले, इसके लिए सम्यग्दर्शन है।

ने.: इसे दिशा-दर्शक भी कहते है ?

वि.: हाँ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का जो मार्ग है, उससे विचलित नहीं होने देता। वह सीधा मोक्षमार्ग है।

ने.: ऐसा कहे कि एक दो-घोड़ो वाला रथ है, जिसे 'दर्शन' नाम का सारथी हाँक रहा है।

वि.. बिलकुल सही है। इधर जाए तो गड्ढा, उधर जाए तो गड्ढा, इस सारथी का काम भी कठिन है।

ने.: 'घोडे' की जगह 'वृषभ' जोतना अधिक अच्छा होगा।

वि.. जैसे घोड़े को लगाम लगाते है, जिसकी दोनो ओर रस्सियाँ होती है, उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् रूपी लगाम अपने हाथ मे रखता है।

ने.: वह सारथी है ?

वि.: हाँ, वह सीधे आगे बढने के लिए उन्हे चलाता है।

ने.: प्रतिक्रमण से इसका गहरा सबन्ध है, तो बताइये कि प्रतिक्रमण कैसी प्रक्रिया है ? उसके माध्यम से हम क्या करते है, भीतर-भीतर ?

वि.: प्रतिक्रमण सात है। सात की संख्या को हमारे यहाँ 'फुल बैंच' (न्यायालय के सदर्भ मे) माना गया है। संख्या का भी बहुत महत्त्व होता है। जैसे, सप्तभगी है, सप्त तत्त्व है, सप्त नरक है, सप्त परमस्थान है, सप्त ज्योतियाँ है, सप्ताह है, सप्त स्वर है, व्यसन भी सात है, आदि-आदि।

ने.: अच्छाई-बुराई सबके लिए हमने सात संख्या रख ली है।

वि.: हाँ, और उसे 'फुल बैच' मान लिया। मनुष्य को शंकाएँ भी सात ही होती हैं।

ने.: ज्योतिष मे भी 'सप्तर्षि है।

वि.: स्वप्न भी सात पडते है। तो इस तरह सात की यह संख्या महत्त्वपूर्ण है। प्रति मे भी सात ही बाते रखी है। ऐर्यापथिक मे नौ बार णमोकार मन्त्र बोलना होता है। दै प्रतिक्रमण मे दिन मे जो दोष लगे हो उन्हे दूर करने के लिए छत्तीस बार णमोकार का जाप करना होता है।

ने.: दैवसिक मे ?

वि.: हाँ, रात्रिक-रात्रि मे स्वप्न आदि मे जब दोष लग जाते है, तब अठारह बार णमो मन्त्र का जाप करना होता है। पाक्षिक मे पन्द्रह दिन मे जो दोष लगे तब सौ बार णमोकार बोलते है, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण मे एक सौ छत्तीस बार णमोकार-मन्त्र का जाप करते हैं सावत्सारिक प्रतिक्रमण मे एक सौ बहत्तर बार णमोकार-मन्त्र बोलते है, किन्तु औत्तम प्रतिक्रमण मे मात्र आत्मा मे मग्न रहना होता है। वहाँ वाचनिक क्रिया शान्त हो जाती है।

ने.· यह तो क्रमश शिखर चढना हुआ।

वि.: हाँ, ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक अ सावत्सरिक-ये छह तो व्यावहारिक प्रतिक्रमण है और औत्तमार्थिक निश्चय प्रतिक्रमण है। इ प्राप्ति के पश्चात् व्यावहारिक प्रतिक्रमणो की कोई ज़रूरत नही रह जाती। ऐर्यापथिक प्रति मे २७ श्वासोच्छ्‌वास द्वारा णमोकार-मन्त्र, दैवसिक मे १०८ श्वासोच्छ्‌वास के साथ णमो मन्त्र रात्रिक मे ५४ श्वासोच्छ्‌वास के साथ णमोकार-मन्त्र, पाक्षिक मे ३०० श्वासोच्छ्‌वा द्वारा णमोकार-मन्त्र पूर्ण करना होता है चातुर्मासिक मे ४०० श्वासोच्छ्‌वास के द्वारा णमो मन्त्र पूरा करना होता है तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण मे ५०० श्वासोच्छ्‌वास के द्वारा णमो मन्त्र बोलना होता है। जो सातवाँ प्रतिक्रमण है औत्तमार्थिक, उसमे निर्विकल्प दशा मे आत्म करना होता है।

ने.. आत्मनिष्ठ हो जाना।

वि.. बाकी के जो प्रतिक्रमण है, वे मिश्रित है।

ने.· ये सीढियाँ है ताकि हम मजिल तक पहुँच सके।

वि.: ये बहुत आवश्यक है।

ने. मुझे लगता है, जब हम ***'णमो अरहताणं'*** और फिर ***'णमो सिद्धाण'*** बोलते है, जो मध्यान्तर आता है, वह निर्विकल्पता की स्थिति है।

वि.· हाँ, बात यह है कि णमोकार-मन्त्र को धवला ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। उसमे बताया है, कि जब हम 'णमो अरहंताण' और फिर 'णमो सिद्धाण' बोलते है, तब 'णमो अरहताण' बोलते समय जो ऊर्जा बढती है, 'णमो अरहताण' और 'णमो सिद्धाणं' बोलते समय-जो सधि आती है, वह निर्विकल्पता की शब्दातीत अवधि है। या रखिये १० वे गुणस्थान तक तो अ-बुद्धिपूर्वक विकल्प होते है। इतना और ध्यान मे रखिये कि एक विकल्प नष्ट हो गया और नया विकल्प अभी उदय मे नहीं आया, तो जो बीच का काल है वह निर्विकल्प दशा है -वही निर्जरा का कारण है, वही संवर का कारण है।

ने.· मै सोच रहा था कि व्यावहारिक प्रतिक्रमणो मे णमोकार-मन्त्र की सख्या मे जो वृद्धि की गयी है, वह निर्विकल्पता को समृद्ध करने के लिए ही संभवत है। जैसे, ऐर्यापथिक मे आपने क्या बताया है ·

वि.: ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण मे २७ श्वासोच्छ्वास द्वारा ९ बार णमोकार-मन्त्र बोलना होता है।

ने.· दैवसिक मे ?

वि.: ३६ बार णमोकार-मन्त्र और १०९ श्वासोच्छ्वास होते है।

ने.: यह जो सख्या बढायी गयी है, वह निर्विकल्पता को बढाने के लिए है।

वि.: बिलकुल सही है।

ने.: ताकि हम औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण मे आ सके। यह एक अद्भुत संयोजन है कि हम क्रमश ऐर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक प्रतिक्रमणो मे-से गुजर कर औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण मे पहुँचते है, और इनमे क्रमश हमारी निर्विकल्पता विस्तृत होती जाती है।

वि.: ध्येय ही हमारा निर्विकल्पता का है। बिना इसके निर्जरा नही होगी।

ने.: प्रतिक्रमण का जो गणित आपने समझाया, उसके पीछे निर्विकल्पता का लक्ष्य है, यही न ?

वि.: हाँ, उसी के लिए इतने सब प्रयास है। समझिये कि जितने भी व्यावहारिक प्रतिक्रमण है, वे सब मॉंटेसरी स्कूल के हैं (शिशु-शिक्षा के संदर्भ मे), किन्तु जब हम औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण मे पहुँचेगे, तब शेष आपोआप छूट जाएँगे।

ने.. यह तो पीएच डी , डी लिट् है।

वि.: हाँ; आप कुछ भी कहिये (हँसी)। *श्लोकवार्तिक* मे कहा तर्हि सकृद्रूपादि ज्ञानपंचकम् मनुष्य को पापड खाते समय रूपादि पाँचो ज्ञान एक साथ होते है। जेसे, जब वह

पापड को पकडे हुए है, तो स्पर्श है; उसे मुँह मे रखे है, तो स्वाद है, वही से नाक को खुश
रही है, वहीं से वह देख रहा है कि उसका रंग कैसा है (सफेद, गीला आदि), वही वह उरे
रहा है, तो कट-कट की आवाज आ रही है। इस तरह एक ही समय पाँचो इन्द्रियो का ज्ञा
होता है। यह स्थूल रूप मे कहा गया है। सूक्ष्म रूप से कहा है **उत्पन्नः शतपत्रवत्**। खाने
सौ पान है, उन्हे सुई से छेद दिया, एक ही समय मे उन्हे छेद दिया, परन्तु इन पानो को छे
कितना सूक्ष्म समय लगा और दो पानो के बीच मे जो खाली जगह है, उस समय सुई ने कि
छेदा नही। ऐसा ही बुद्धिपूर्वक विकल्प होता है, जैसा जब स्पर्श का ज्ञान हो रहा है, तो इ
ज्ञान भी सूक्ष्म समय मे हो रहा है। जैसे मोटर गाडी या स्कूटर के जो 'गेयर' होते है, उन्हे
सूक्ष्म रीति से बदलते है, इसमे कितना समय लग रहा है; इसका अनुमान या पता लगाना मु
होता है। 'गेयर' बदलने के बीच का जो काल है, वह अबुद्धिपूर्वक होने वाली निर्विकल्प

ने.: इसे समझाने के लिए आपने अभी यह भी कहा था कि भूत, भविष्य और वर्तम

वि.: वर्तमान की जो सूक्ष्मता है, वह निर्विकल्प दशा है।

ने.: भविष्य वर्तमान मे आ कर किस तरह भूत हो जाता है, इसका पता लगाना बहुत मु
है। जो सधि है, उसे ही पकड सकते है कि हमारी इन्द्रियो को कैसे स्वाद आता है, किस तरह
इन्द्रियो व्यस्त हैं, किन्तु कौन कितने समय तक है, यह पता लगाना मुश्किल है।

वि.. इसी तरह सूक्ष्म रूप मे **तर्हि सकृद्रूपादि ज्ञानपंचम्** - *'श्लोकवार्तिक'* ने क
पापड खाते समय पाँचो इन्द्रियों का ज्ञान होता है।

ने.. निष्कर्ष यह कि 'णमो अरहताण', 'णमो सिद्धाणं' बोलने के बीच जो सधि है
सूक्ष्मतम है। यही निर्विकल्प दशा है। इसी को बढाते रहने के लिए प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान इ
की व्यवस्था है।

वि.: सारी प्रक्रिया उसी के लिए है। अब देखिये! किसी श्लोक का अर्थ लगाते समय
किसी 'शब्द' का अर्थ नही आया, किन्तु इसे जानना जरूरी है, तो ऐसे मे आपके तमाम वि
नष्ट हो जाते है और एक ही विकल्प रहता है कि उस 'शब्द' का अर्थ क्या हो सकता है? य
एक ध्यान है - श्रुतज्ञान। ध्यान कहे, या ज्ञान- एक बात मे मन को टिका दिया, तो अ
विकल्प हट गये, एक ही विकल्प रह गया। जब आप किसी नये अर्थ को सोचने (खोजने
लिए शान्तिपूर्वक बैठते है, तब उससे भी सवर-निर्जरा की स्थिति बनती है।

ने.: जैसे गदा पानी है, उसमे फिटकरी या अन्य शोधक पदार्थ डाल दिया, तो सारा
नीचे बैठ जाता है। एक चीज पर हमारा ध्यान चला गया, तो ध्यान के इस बिन्दु के कारण हमा
अन्य कर्म हैं, वे शान्त हो जाते है। क्या प्रतिक्रमण को आप थोडे सरल शब्दो मे समझाये
'प्रतिक्रमण' के लिए मैने पढा था- 'प्रतिगमन'। 'गम' मे 'म्' हलन्त कर दे तो यह एक धा

जिसका अर्थ है 'जाना'। वैसे भी प्रतिक्रमण का जैनाचार्यों ने जो अर्थ दिया है, वह है 'बाहर से सिमिट कर भीतर की ओर जाना'।

वि.: सही है।

ने.: इस तरह से भीतर जाना कि जो भी कूडा-कचरा है, उसे बाहर फेका जा सके।

वि.: बात यह है, जैसे कुछ आगन्तुक आपके घर मे आठ-दस दिनो के लिए ठहरने के लिए आने वाले है। उनकी बहुत सेवा करनी पडेगी। आपको बहुत काम-धन्धे है। अब उन्हे 'मत आओ' कहो तो भी मुसीबत है और उनके आने पर तो है ही, इसलिए आप ताला लगा कर कही बाहर चले जाएँ, तो आने वाला आ कर देखेगा कि आप है नही, इसलिए वह धर्मशाला मे कही जा कर ठहरेगा। इसी प्रकार आप अपने अन्दर मगन हो गये, तो संवर आपोआप हो गया, निर्जरा भी हो गयी।

ने.. 'प्रतिक्रमण' ताला है। अब तो अतिथि को लौटना ही पडेगा। चूँकि वह ऐसा अतिथि है, जिसे हम चाहते नही है, इसलिए हमने उसके लिए शालीन ढग से ताला लगा दिया।

वि.: शालीन ढंग से (हँसी), मार्के की बात कही आपने!

ने.: यह जो 'प्रतिक्रमण' है, वह 'अतिक्रमण' को रोकने का उपाय है।

वि. अत्यन्त सरल शब्द मे जो 'प्रमत्त' है, उससे बचने के लिए इसे 'अप्रमत्त' दशा समझिये।

ने.. यानी प्रतिक्रमण अप्रमत्त दशा मे आने का मार्ग है।

वि.· व्यवहाररूप मे छद्मस्थो के लिए अप्रमत्त रहने के लिए कोई साधन स्थूल रूप मे यदि है, तो वह प्रतिक्रमण है, क्योकि हर समय 'अप्रमत्त' रहना ही हमारा ध्येय है।

ने.. 'प्रमत्त' की मुक्ति नही है।

वि.· वास्तव मे अप्रमत्त दशा ही आत्मा-का-स्वभाव है। भाव कर्मों के कारण अनादि काल से वह प्रमत्त बना हुआ है। इस प्रमत्त अवस्था को कैसे रोकना, 'प्रमाद' से कैसे बचना, यही प्रतिक्रमण है।

□□

ने.: आषाढ मे ही सारी बाते क्यो होती है ? चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी तो आषाढ मे ही होता है।

वि.: पाणिनी ने अष्टाध्यायी मे कहा है कि देश का जो हिसाब था वह आषाढ मे ही पूर्ण होता था।

ने.: उत्तर, या दक्षिण भारत मे ?

वि.: सारे देश मे । आषाढ वदी प्रतिपदा को नया वर्ष मानते थे, ऐसा शास्त्रो
लिखा है । आदिनाथ भगवान् द्वारा 'असि, मसि, कृषि' के रूप मे कृत-युग का आरभ :
समय माना गया । सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के लिए भी वर्ष का अन्त आषाढ पूर्णिमा को
उपयुक्त माना है ।

ने.. सावत्सरिक प्रतिक्रमण ?

वि.: यह सावत्सरिक भी है और चातुर्मासिक भी है । चातुर्मासिक प्रत्येक चार महीने
होता है ।

ने.: इसे श्रावक करते है, या साधु; या दोनो ?

वि.: व्रती श्रावक भी करते है ।

ने.: व्रती श्रावक कौन ?

वि.: जो ग्यारह प्रतिमाधारी है, क्षुल्लक (प्रथमोत्कृष्ट श्रावक) है, यह कर सकता है ।

ने.: यह शास्त्रीय दृष्टि से कुछ है ।

वि.. शास्त्रीय दृष्टि से ही मुख्यरूप से मुनियो के लिए सात प्रतिक्रमण बताये गये है ।

ने.: चातुर्मासिक प्रतिक्रमण वर्ष मे तीन बार होता है ?

वि.: हाँ ।

ने.: रात्रिक – रात्रि की समाप्ति पर होता है ।

वि.· रात्रि की समाप्ति पर प्रात काल ।

ने.: और दैवसिक ?

वि.· सूर्यास्त से पहले ।

ने.: और पाक्षिक ?

वि.· पाक्षिक चतुर्दशी के दिन होगा । अपराह्न तीन-चार बजे के लगभग इसे करते है ।

ने.: और चातुर्मासिक ?

वि.· आषाढ सुदी पूर्णिमा, कार्तिक सुदी पूर्णिमा और फाल्गुन सुदी पूर्णिमा । वर्ष मे
तीन बार ।

ने.. सांवत्सरिक ?

वि.: आषाढ वदी प्रतिपदा को ।

ने.: औत्तमार्थिक ?

वि.· औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण का कोई समय नही है। इसमे खाद्य, अन्न, लेह्य - ये तीन छोड़ कर केवल जल रखते है। इस बृहत् प्रतिक्रमण के बाद किसी चीज का सेवन न करते हुए केवल जल पर ही रह सकते है।

ने.· औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण के बाद जल ही शरीर का आधार होता है, बाकी सबका त्याग।

वि.· औत्तमार्थिक ही वृहत् प्रतिक्रमण है, अर्थात् जहाँ-जहाँ विकल्प आये, वहाँ-वहाँ उन्हे छोडना। अन्न में दाल-रोटी, खाद्य मे लड्डू आदि, लेह्य मे चाटने वाली वस्तुएँ - इन तीनो को वृहत् प्रतिक्रमण करके ही छोडा जाता है।

ने.. पेय मे जल रहता है ?

वि. हाँ, दूध भी रह सकता है और छाछ भी रह सकती है।

ने.· प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मे क्या फर्क़ करेगे ? दोनो मे क्या रिश्तेदारी है और दोनो मे भेद क्या है ?

वि.: प्रतिक्रमण भूतकाल मे जितने भी दोष लगे है, उनकी आलोचना है, और भविष्य मे न लगे, इसके लिए सतर्कता है, जैसे, यदि पहले किसी वस्त्र पर दाग लग जाए, तो दोबारा वह न लगे, इसके लिए सतर्क है। 'यहाँ बैठने से लग गया' भविष्य मे नही लगे, इसलिए वह सतर्क रहता है।

ने. यह क्या हुआ ?

वि.· यह प्रत्याख्यान हो गया, सवर हो गया।

ने.. प्रत्याख्यान को क्या माने ?

वि.: प्रत्याख्यान को सवर माने। ज्ञानी ध्यान कर रहा है, उधर से धूल आ रही है, तो वह अपनी आँखे वन्द करेगा।

ने.: प्रत्याख्यान आँख की पलक का झँपना है। इस तरह से यह सूक्ष्म भेद हम कर सकते है।

वि.: हाँ, आँख मे धूल हो, तो उसे पानी से साफ करना, धोना, यह प्रतिक्रमण है और आँख मे धूल न जाए, यह प्रत्याख्यान है।

ने.: और आलोचना ?

वि.: आलोचना तत्काल उसी समय देखना है, किसी से कोई गलती हो गयी और वह नाराज होने जा रहा है, तव आप तत्काल उसे अपनी गलती बता कर क्षमा माँग लेते है, यह आलोचना हो गयी। यदि आप चार-छह महीनो के वाद अपनी गलती के लिए क्षमा माँगते है, तो फिर प्रतिक्रमण करना होगा।

ने.: आलोचना मे क्षमा मॉग कर साफ हो जाते है।

वि.: तत्काल उपाय, अनवरत सतर्क रहना। एक तरह से आलोचना का अर्थ है अप्रमत्त रहना।

ने.: फिर 'प्रायश्चित्त' का क्या अर्थ हुआ ? 'प्राय ' का क्या अर्थ हुआ ?

वि.: 'प्राय ' शब्द का अर्थ है 'शोधन'। किस का शोधन ? चित्त-का-शोधन। प्रायश्चि मे चित्त-का-शोधन करना होता है। भगवती आराधना के अनुसार 'प्राय ' शब्द का एक अ संन्यास भी है।

ने.: तो प्रायश्चित्त का अर्थ हुआ, चित्त-शोधन, शल्य-शोधन, विकल्प-शोधन। चित्त मे- से शल्य निकालना, विकल्प निकालना। यह संपूर्ण जीवन की प्रक्रिया है।

वि.: बिलकुल ठीक।

ने.: जब कोई वस्त्र मलिन हो जाता है, और हम उसे धोते है, तो क्या इसे भी प्रतिक्रमण कहेगे ?

वि.: कहेगे। यह प्रतिक्रमण ही है।

ने.· जब-जब वस्त्र मैला होगा, तब-तब उसे धोयेगे।

वि.· यह कपडे का प्रतिक्रमण हुआ।

ने.. ऐसा कोई उपाय कर ले कि वह मैला ही न हो।

वि.: कहा है न, महाकवि बनारसीदास ने 'धोयें निजगुण चीर'-मलिन हुए आत्मा को ध्यान मे रख कर उन्होंने कहा है कि अपने आत्मरूपी वस्त्र को धोना है।

ने.: क्या प्रतिक्रमण आदि मे गुरु की कोई भूमिका है ?

वि.: प्रतिक्रमण की जो विधि है उसे अनुभवी गुरूओ से ही प्राप्त करना चाहिये, क्योकि यदि आप स्वय ही आगमो को पढना शुरू कर देंगे, तो आप मनमाने अर्थ भी कर सकते है, मनमानी क्रिया भी कर सकते है। जैसे, सीधे यानी खारे समुद्र से पानी ले ले, तो वह खारा ही होगा और यदि वह मेघो द्वारा आनीत होगा, तो मधुर होगा, मीठा होगा, इसलिए अनुभवी गुरूओ से ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ने.: पूछना चाहूँगा कि प्रतिक्रमण, या सामायिक का अधिकारी कौन है ?

वि.. प्रतिक्रमण या सामायिक का अधिकारी वही माना गया है, जो व्रती है। गृहस्थ अभ्यास करता है, लेकिन उसे व्रती होना चाहिये। जो बन्धन मे होगा, वही करेगा। जिस पर कोई बन्धन (अनुशासन) नहीं है, वह भला क्या करेगा ?

ने.: उसे मर्यादाओ का पालन करना होगा ?

वि.: हाँ।

ने.: 'सल्लेखन' शब्द आता है, 'प्रतिलेखन' भी आता है। क्या 'प्रतिलेखन' और 'सल्लेखन' दो अलग-अलग प्रक्रियाएँ हैं ?

वि.. 'सम्यक्' काय कषाय, 'सल्लेखना' कषाय और काय को क्रमश सम्यक्पूर्वक कृश करना सल्लेखना है।

ने.. और प्रतिलेखन ?

वि.: अपनी वस्तुओ को सभाल कर रखना - प्रतिलेखन है। जैसे आसन है, हम उस पर वैठते है, तो पिच्छि से सूक्ष्म कृति आदि को साफ करके बैठे, क्योकि कोई भी दोष आ सकते है आजकल प्रदूषण (पाल्यूशन) मे रूप मे कोई भी विकृति जन्म सकती है।

प्रतिक्रमण : जीवन-शोधन की प्रक्रिया

डॉ. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण का सामान्य अर्थ क्या है ?

आचार्यश्री विद्यासागर : क्रम कहते है वेग को।

ने.: क्रम यानी गति ?

वि.: गति नही, वैसे गति तो ऊर्ध्वग भी होती है, लेकिन उसमे क्रम छूट जाता है।

ने.· ऊर्ध्वगता मे आचरण काम देता है।

वि.: आक्रमण मे भी क्रम आवश्यक होता है, लौटने मे भी क्रम आवश्यक होता है, और जहाँ क्रम न रहे, वहाँ अतिक्रमण है।

ने.. क्रम न रहे, यानी पैर न रहे ?

वि.: क्योकि पैर होने की वजह से ही तो वह आक्रमण करता है।

ने.: जव शब्द कम हो जाते है, तव अर्थ तनिक गंभीर हो जाता है।

वि.· है ही, अर्थ प्राय गंभीर ही रहता है।

ने.· जव शब्द कम होते है, तो विपत्ति आ जाती है।

वि.: विपत्ति इसलिए कि अर्थ के साथ तनिक गहरे जाने की समस्या सदैव है।

ने.: मै निवेदन करूँगा कि थोडी शव्द-संख्या वढा दीजिये, ताकि अर्थ अपने पाँव पसार सके। (हँसी)।

वि.· अर्थ-का-अर्थ ही अपने आप मे यह है कि ***ज्ञायते ज्ञानेन इति अर्थ***- अर्थ वह है जो ज्ञान का विषय बने।

ने.· आपने अभी कहा है कि क्रम यानी पाँव फिर यह ज्ञान का विषय कैसे हुआ ?

वि.: क्रम के टूटने पर।

ने.: क्रम को तोडे कैसे ?

वि.: दोषो का निवारण ही प्रतिक्रम है।

ने.: दोष क्या है ?

वि.: होश का अभाव।

ने.: जैसे -

वि.: जैसे, ज्ञान, प्रति समय हम कुछ-न-कुछ आकलिन ही करते है। समझने के लिए जो सहजता चाहिये, हम प्राय उससे दूर हट जाते है।

ने.: सहजता से फासला वन जाता है।

वि.: परिणाम यह होता है कि जब फासला बढ जाता है, तव हम उससे वहुत दूर चले जाते हैं, तथा और-और काम करने लगते है। महसूस भी होता है कि हम कुछ गलत कर रहे है। आक्रामक समझता है कि वह आक्रमण कर रहा है, लेकिन जव उसकी समझ, या ज्ञान सघन होता है, तब वह रुक जाता है और लौटना प्रारंभ कर देता है। लौटते समय पैर वहुत मद चलते है। जैसे, मेले मे हम जाते है, जव तक पास मे पैसा रहता है, तव तक खूब उत्साह के साथ चलते है, लेकिन जव पैसा समाप्त हो जाता है, तव धीरे-धीरे घर लौट आते है।

ने.: सुनते है कि जव आदमी घर लौटता है, तव उसके पाँव अधिक तेज पडते है।

वि.: नही, वह तो पुन. उस ओर जाने की तैयारी के लिए आता है, इसलिए तेजी से आता है, लेकिन जिसे आ कर जाना ही नही है, वह वहुत आहिस्ता-आहिस्ता ही आता है।

ने.: मतलव, जिसका लक्ष्य ही अभी निर्धारित नही है, उसकी गति का कोई प्रश्न ही नहीं है।

वि.: हाँ, लौटते समय उसे नियम से अपने किये हुए के प्रति घृणा होने लगती है।

ने.: यह 'घृणा' होना, किस घटना की शुरूआत है।

वि.: ज्ञान की।

ने.: यदि ज्ञान की शुरूआत है, तो फिर लक्ष्य स्पष्ट हुआ है।

वि.: लेकिन जव वह आ रहा है, तव उसके प्रति घृणा-ही-घृणा वनी रहेगी, किन्तु जव आना वन्द हो जाएगा, तव वह रुक जाएगी।

ने.: 'घृणा' होती है, या 'ग्लानि' ?

वि.: 'घृणा' और 'ग्लानि'। 'घृणा' का अर्थ 'दया' भी है, लेकिन वह यहाँ नही है।

ने.: आत्मग्लानि शायद कल्याणकारी हो सकती है ?

वि.: आत्मग्लानि नही, आत्मा ने जो किया था, उसके प्रति ग्लानि।

ने.: यह हितकारक हो सकती है।

वि.. हितकारक भी है।

ने.· प्रतिक्रमण और इसका क्या सबन्ध हुआ ?

वि.: यही कि मैंने जो आक्रमण किया था, वह ग़लत था।

ने.: वैसा अनुभव ?

वि.. हाँ।

ने.: और अनुभव के बाद ?

वि.: अनुभव के बाद 'भव'।

ने.: भव से बचने के लिए।

वि. नही, भव का अर्थ आप क्या समझ रहे है (हँसी)। यहाँ भव का अर्थ ससार नही है। जो हुआ था, उसका अनुभव हुआ, अनुभव के उपरान्त उसका त्याग होता है। 'भव' अर्थात् 'होना', और 'होना' हमारा 'स्वभाव' है।

ने.: अस्तित्व यानी सत्ता हमारा स्वभाव है, तो क्या माने कि प्रतिक्रमण यानी सत्ता मे लौटना है ?

वि.: लौटने का नाम ही प्रतिक्रमण है।

ने.· कहाँ लौटने का ?

वि.· जिधर गया था, उससे विपरीत आने का।

ने.· किसके प्रति ?

वि.· पूर्व मे था, उसके प्रति।

ने.· पूर्व मे क्या था ?

वि.: पूर्व में न आक्रमण था, न क्रम।

ने.: जो लौट रहा है, उसका गन्तव्य क्या है ?

वि.. अभी उसका गन्तव्य गलत है। गन्तव्य है ही नही असल मे उसके पास।

ने.: अगर गन्तव्य उसका सस्कारित हो, सही हो, तो ऐसा होने पर उसका गन्तव्य क्या होगा।

वि.: 'स्व'।

ने.: अब हम स्थिति बदलते है। हम ऐसे साधक की तलाश में हैं, जिसने प्रतिक्रमण के बाद अपना गन्तव्य स्पष्ट कर लिया है। यह गन्तव्य क्या होगा, इस पर हमे तनिक सोचना चाहिये।

वि.: जब तक गति है तब तक क्रिया है, तब तक कर्म है। जो इन सबका एक सामूहिक कार्य है, अत.संबन्ध है। प्रतिक्रमण के 'क्रमण' एक क्रिया है। आक्रमण को छोड़ना और 'प्रति' को विराम देना, सम्यक् प्रतिक्रमण है।

ने.: जब साधक इस स्थिति मे आ जाए, तब उसका गन्तव्य क्या होगा ?

वि.: ऊर्ध्व। तब उसकी अधोगति संभव नही है।

ने.: यानी वह अधोगति से बच जाएगा।

वि.: इसीलिए आक्रमण होता है और इसीलिए प्रतिक्रमण। ऊर्ध्व के लिए प्रतिक्रमण नही है। ऊर्ध्वग होने के बाद वह नीचे नही आयेगा।

ने.: वह तो ऊपर जाएगा। इस ऊर्ध्वगता का लाभ क्या है ?

वि.: स्वभाव है। जाता नही है, वह स्वभाव है।

ने.: तो प्रतिक्रमण यानी वह जिसका गन्तव्य 'स्वभाव' है।

वि.: स्वभाव है। जब प्रतिक्रमण मे गति होगी, तब वह ऊपर को उठता जाएगा।

ने.: निरन्तर उठता जाएगा।

वि.: ऊपर उठना उसका स्वभाव है।

ने.: यह तो आपने प्रतिक्रमण को परिभाषित किया। जब साधु प्रतिक्रमण मे बैठता है; (आप तो स्वयं योगी हैं, है मुश्किल तथापि आप शब्द दे) प्रतिक्रमण मे जब व्यक्ति होता है, तो उसे क्या अनुभव होता है, कैसा अनुभव होता है ? क्या उसकी तत्क्षणवर्ती अनुभूति को शब्द देना संभव है ?

वि.: नही; ऐसा है न, प्रतिक्रमण कब होता है, इसे पहले निश्चित करे, फिर मालूम पड जाएगा।

ने.: आपने कहा न कि दोषो का बोध हो जाएगा।

वि.: बस, दो ही कार्य हो रहे हैं, होश थोडा रहा है, मूर्च्छा आ रही है; और आक्रमण हो रहा है।

ने.: ऐसे मे मूर्च्छा से बचना चाहिये और दोषो का बोध होना चाहिये।

वि.: बोध नहीं, निराकरण।

ने.: यदि बोध नही होगा, तो निराकरण कैसे होगा ?

वि.: बोध तो होगा, बोध सब को है। चोर को भी चोरी का बोध होता है, लेकिन वह प्रतिक्रमण नही करता।

ने.: अगर चोर को चोरी का बोध हो, तो शायद वह चोरी न करे।

वि.: लेकिन करता है, वह प्रतिक्रमण नही कर रहा है। चोरी कर रहा है, इसीलिए ही आक्रमण कर रहा है।

ने.: जब वह यह सोच रहा है कि उसे चोरी नही करनी थी, तो क्या वह प्रतिक्रमण की प्रक्रिया मे है।

वि.: नही, नही, चोरी करने का संकल्प अलग बात है और जो किया है उसका ··

ने.: · · उसका प्रत्याख्यान अलग बात है।

वि.: हाँ।

ने.: यदि वह चोरी न करने का संकल्प करे, तो वह प्रत्याख्यान है।

वि.: लेकिन वह जो कर चुका है, उसका क्या होगा ?

ने.: उसी के लिए प्रतिक्रमण है। जो 'कृत' है, उसके लिए प्रतिक्रमण है।

वि.: प्रतिक्रमण के बाद प्रत्याख्यान अनिवार्य है।

ने.: यह तो अनागत से सबन्धित हो गया। लगता है, दुष्कृत्यो की समीक्षा को आप प्रतिक्रमण कह रहे है।

वि.: लेकिन वैसा हम करते कहाँ हैं ?

ने.: यह तो आप बताये, मै तो करता नही हूँ।

वि.: लेकिन करते कब है ? जब भी वह किया जाएगा, वर्तमान मे ही किया जाएगा।

ने.: वर्तमान तो धोखा देने वाला है।

वि.: नही, धोखा नही है। उसको 'धोक' दीजिये आप (हँसी)।

ने.: धोक तो देता ही हूँ, किन्तु वर्तमान मे ठहरना बहुत कठिन है। भविष्य वर्तमान मे आते ही इस तरह पलटी खाता है कि तुरन्त अतीत हो जाता है।

वि.: लगता है, खाता नहीं है।

ने.: वर्तमान की लकीर पर पलटा खाया जा सकता है।

वि.: उस पर वह पलटा खाता ही नही है, इधर-उधर भटकता है, तो पलट जाता है। वर्तमान की लकीर पर कोई भी पलटा नही खाता।

ने.: यह बात बहुत अच्छी है। क्या वर्तमान-की-रेखा पर खडे होना सभव है ?

वि.: वर्तमान मे तो खडे ही है आप।

ने.: झोक आ जाती है।

वि.: आती नही है, लगता है वैसा। वर्तमान 'है', भविष्य है ही नहीं, भूत भी नही है। प्रत्येक के साथ आप अंग्रेजी मे 'इन' लगा देते है, क्या बोलते है इन्हे ?

ने.: परसर्ग (पोस्ट-पोजीशन्स) लगा देते है।

वि.: वर्तमान के लिए लगा दीजिये - 'इन दी मॉनिग'; 'इन दी इवनिग'।

ने.: इसे क्षण तो कहेगे।

वि.: इसे क्षण कहेंगे; क्योकि वर्तमान सदैव है, रहता है। 'होगा' और 'था' के साथ अलग परसर्ग (विभक्ति) लगायेगे, किन्तु जो वर्तमान है, उसके साथ वही लगता है। 'है' अब मॉनिग मे भी आप कहेगे, तो 'एट ए टाइम' कहेगे। यानी उसी समय। उसके लिए 'इन' नही लगायेगे। इस प्रकार वर्तमान कभी धोखा नही देता। जो भी कार्य होता है, वह वर्तमान मे ही होता है।

ने.: वर्तमान धोखा नही देता - इस बात को थोडा स्पष्ट कीजिये।

वि.: वर्तमान तो 'है' के रूप मे रहता है, इसलिए धोखा नहीं देता। इसे अग्रेजी मे 'प्रजेट' बोलते है। हम सब 'प्रज़ेट' के बहुत भूखे हैं। 'प्रज़ेट' का दूसरा अर्थ क्या है ?

ने.: उपहार/भेट।

वि.: उपहार आपको मिलेगा, तो प्रजेट मे ही मिलेगा। वर्तमान मे ही वह मिलेगा।

ने.: और अतीत मे ?

वि.: अतीत मे क्या ?

ने.: मृत मिलेगा कुछ।

वि.: बासी।

ने.: ताज़गी के लिए वर्तमान है।

वि.: हमेशा ताज़ा।

ने.: ध्रुव है।

वि.: बिलकुल सत्य।

ने.: तो प्रतिक्रमण का मतलब हुआ ताज़गी।

वि.: ताज़गी-मे-आना, उसमे लौटना।

ने.: ताजगी तो आदमी के भीतर है, उसे पता नही है कि उसके भीतर वह है।

वि. 'एक ताज़गी' यानी 'एकता जगी'। (हँसी)।

ने.. क्या प्रतिक्रमण को जीवन-शोधन की प्रक्रिया कह सकते है ?

वि.: औषधि के द्वारा शोधन तो होता ही है।

ने.· प्रक्रिया कहे तो आपत्ति है ? - जीवन-शोधन की प्रक्रिया।

ने.: कह सकते है।

ने.: या आत्मशोधन की प्रक्रिया कहे या आत्मानुशासन लाने की प्रक्रिया कहे ?

वि.: कुछ भी कहे, दोषो का निवारण होना चाहिये - उनका विरेचन जरूरी है।

ने.. इससे दोषो का निष्कासन होना चाहिये। पढते-पढते 'नि शल्यीकरण' शब्द पढने मे आया। इसका सबन्ध भी प्रतिक्रमण से होगा।

वि.· नही, प्रतिक्रमण बाद मे होता है। शल्य पहले होती है। शल्य का विमोचन व्रत के साथ होता है और दोषो के विमोचन के लिए प्रतिक्रमण आता है।

ने.: शल्य का विमोचन दोषो के पूर्व होगा।

वि.· जब व्रत लेते है, तब पापो का त्याग करते-करते कुछ शल्ये रह जाती है।

ने.: शल्य और दोष मे कोई अन्तर है ?

वि.: शल्य हमेशा चुभती रहती है।

ने.. चुभेगा तो दोष भी।

वि.: दोष अलग है। नि.शल्य होने के उपरान्त भी दोष लग सकते है, लेकिन शल्य है, वह अपने आप मे दोष है, इसलिए शल्य को पहले निकाल दीजिये अर्थात् निर्विकल्प हो कर बता दीजिये कि व्रत चाहिये या नही ?

ने.: स्पष्ट बताइये कि शल्य और दोप मे क्या फर्क है ?

वि.: बहुत फर्क है। जब व्रत लेते है, तब नि शल्य हो कर लेते है। शल्य थोडी पीडाजनक होती है।

ने.: दोप नही होता।

वि.: दोप अज्ञात भी हो सकता है। शल्य ज्ञात अवस्था मे होती है। जान-बूझ कर रट रहे है। शल्य मे सघनता भी हो सकती है, किन्तु वह वाद की घटना है।

ने.· वाद मे पता लगता है कि दोष है। दोष शल्य वन सकता है।

वि.· दोप वाद मे वनेगा।

प्रतिक्रमण का मुख्य लक्ष्य : अपने मूल स्थान पर लौटना

डॉ. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण का लक्ष्य क्या है ?

आचार्यश्री तुलसी : लक्ष्य है कि 'चले, वापस चलें'। दिन मे, रात मे जब भी हम अपनी सीमा से बाहर चले आये हो, तब वापस लौट आये, यह वापसी ही प्रतिक्रमण है। दिन-भर, या रात-भर के आचार की आलोचना करना, उसका चिन्तन करना, तथा ऐसा करते हुए अपने मूल स्थान पर लौटना, प्रतिक्रमण का मुख्य लक्ष्य है।

ने.: प्रश्न उठता है कि मूल का बोध हमे सतत् रह भी पाता है, या नही ?

तु.: रहना चाहिये। प्राय हम भूल जाते है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम भ जाएँगे। भटकाव हो सकता है। मेरा विश्वास है, जब तक हम छद्मस्थ है, तब तक भटकाव स है। कभी-कभी आदमी अपनी आचरणिक परिधि से बाहर चला आता है।

ने.: प्रतिक्रमण इस भटकाव से बचने का उपाय है ?

तु.: है, भटकाव से वापस होने का अचूक उपाय है। शास्त्रो ने तो यहाँ तक कहा है यदि प्रतिक्रमण विधिवत् किया जाए, तो उत्कृष्ट क्रम मे तीर्थंकर-गोत्र का बन्ध होता है मै मानता हूँ कि यह एक बहुत वड़ा कारण है। तीर्थंकर-गौत्र का बन्ध इतना महत्त्व नही है, महत्त्वपूर्ण है उसके साथ होने वाली निर्जरा। इसमे मात्र पुण्य-का-बन्ध ही नही है; व बडी निर्जरा भी है, तब पुण्य-वन्ध है। इस निर्जरा के कारण ही मै कहता हूँ कि यह ए बहुत महत्त्व की स्थिति है।

ने.: प्रतिक्रमण से संवर होगा, या निर्जरा होगी ?

तु.: मुख्यतया निर्जरा होगी।

ने.: तव संवर का उपाय क्या है ?

तु.. प्रत्याख्यान। छोडना। जहाँ शुभ योग का मानसिक-वाचिक-कायिक त्याग होगा, वह निर्जरा ही मुख्यतया होगी।

ने.: इसका मतलव यह हुआ कि प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान की पूर्वक्रिया है ?

तु.: हम संकल्प करते है कि ऐसा प्रयत्न करेंगे। यह संवर हुआ। वाद को जव शोधन की प्रक्रिया चलेगी, तव वहाँ निर्जरा होगी।

ने.: कुल मिला कर इसका उद्देश्य क्या है ?

तु.: अपनी आत्मा को 'स्नात' करना, जो इधर-उधर से मलिनता आ गयी है, उस मल को हटा कर शुद्ध करना।

ने.: प्रतिक्रमण व्यक्ति के लिए ही अधिक उपयोगी है। एक शब्द आया है 'सामूहिक प्रतिक्रमण'। प्रतिक्रमण जब व्यक्ति करता है, तब वह प्रक्रिया मेरे हिसाब से बहुत समीचीन और उपयोगी है, किन्तु क्या सामूहिक प्रतिक्रमण भी हो सकता है ?

तु.: होता तो वह व्यक्तिगत ही है। ध्यान व्यक्तिगत है, किन्तु सामूहिक ध्यान भी हो सकता है। एक साथ बैठ गये और ध्यान शुरू कर दिया। सामूहिकता का अपना महत्त्व है। प्रतिक्रमण भी सामूहिक हो सकता है। समूह मे व्यक्ति सावधान रहता है, अधिक प्रमाद नहीं कर पाता।

ने.: नियमितता भी बन जाती है।

तु.: सब साधु बैठ कर लेते है। सामूहिक प्रतिक्रमण मे भी आनन्द आता है।

ने.: अधिक उपयोगी व्यक्ति-प्रतिक्रमण है, लेकिन सामूहिक प्रतिक्रमण करने पर एक आध्यात्मिक लय, या तर्ज बन जाती है।

तु.: उसमे जल्दीबाजी नही होती।

ने.: समत्व की भावना भी आती है।

तु.: हाँ।

ने.. प्रतिक्रमण की फलश्रुति क्या है, परिणाम क्या निकलता है ?

तु.. यही कि जिस समय हम प्रतिक्रमण करते हैं, उस समय हमारे ध्यान मे आता है कि आज हमने क्या गलतियाँ की, क्या अनुचित किया, आगे क्या नही करना है, यह सब स्वयमेव अन्तर्ध्वनित होता है। इस दिशा मे चिन्तन चलता है। कई बार ऐसा होता है कि आँसू आ जाते है अरे, कहाँ चला गया था ?' करुणा के भाव आ जाते है। प्रतिक्रमण मे हम बहुत हलके हो जाते है। इसे मै महत्त्व की फलश्रुति मानता हूँ। इससे हम उत्तरोत्तर बढते जाते है। आप तो जानते ही है कि आज का युग मिश्रण का युग है; इस मिश्रण से हम बिलकुल बचे रहना चाहते हैं।

ने.. आपने 'मिश्रण' कहा है। मै 'अपमिश्रण' कहूँगा।

तु.: बिलकुल ठीक है। हम उससे अलग रहना चाहते है। इस बचाव मे प्रतिक्रमण हमारा बहुत बड़ा सहयोगी बनता है।

ने.: एक रासायनिक प्रयोगशाला है, उसमे तीन-चार चीजो से मिश्रण (कम्पाउण्ड) बन जाता है। फिर हम उस मिश्रण को अलग-अलग करते है। क्या प्रतिक्रमण भी पृथक्कीकरण की वैसी ही प्रक्रिया है ?

तु.: है; प्रतिक्रमण शोधन-की-प्रक्रिया है।

ने.: जीवन-शोधन की, आत्मशोधन की।

तु.· हम अनुभव करते है कि प्रतिक्रमण किया और एकदम शान्त हो गये। हमेशा नह कभी-कभी ऐसा होता है। हमे इसमे से शान्ति और आनन्द मिलता है, इसीलिए हम इसे ब महत्त्व देते हैं।

ने.: जब कोई साधु अथवा श्रावक प्रतिक्रमण मे होता है, तब उसका भीतरी अनुभव व होता है ? इसे यदि शब्दो मे दिया जा सके, तो अवश्य दीजिये।

तु.: शब्द देना तो कठिन है। दूसरे यह कि प्रतिक्रमण प्राय पारम्परिक ही होता है, इर्स कई बार कोई अनुभव ही नही होता, लेकिन आत्मा जैसे-जैसे ऊपर उठती है, वैसे-वैसे वह ज्ञ प्रधान बनती जाती है।

ने.: ठीक है।

तु. जब प्रतिक्रमण मे आत्मा डूबती है, तब वह चिन्तन-प्रधान बन जाती है। ऐसे लोगो प्रतिक्रमण मूल्यवान् होता है। हमारे कई साधु प्रतिक्रमण को ध्यानावस्था मानते है। वे ध्या प्रतिक्रमण करते हैं। ध्यानावस्था मे अद्भुत प्रतिक्रमण होता है, शब्दातीत।

ने.: अद्भुत शब्द सुन कर मै बहुत प्रसन्न हूँ, लेकिन 'अद्भुत' यानी क्या ? एक-दो वा मे इसे बताइये।

तु.: 'अद्भुत' का अर्थ है 'असाधारण'। मैं बताता हूँ। इसे अह न समझें। मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, तब मुझे लगता है कि यदि सब-के-सब लोग प्रतिक्रमण करे, तो कि अच्छा हो। जब कोई साधु प्रतिक्रमण करे, तब पहले वह तल्लीन ('तत्' लीन) हो जाए। दोष दिमाग से निकाल फेके। अपनी सम्यक् आलोचना करे, यह कि उससे कौन-कौन- गलतियाँ हुई है। पर्दा बिलकुल न रखे। फिर देखे कि कौन-सी गलती वस्तुत हुई है। उस स्वतन्त्र प्रायश्चित्त करे। कभी-कभी प्रतिक्रमण मे विगत गलतियाँ भी याद आ जाती हैं। इ याद आने पर उनका अलग से प्रायश्चित्त करे।

ने.· प्रतिक्रमण एक तरह से गलतियो का परिष्कार है, एक दिशा-दर्शन भी है।

तु.. मै यह मानता हूँ कि प्रतिक्रमण केवल प्रात काल या सायकाल ही नही हो जीवन-पर्यन्त चलता रहता है।

ने.: वह अनियतकालिक होना चाहिये।

तु.: हाँ, हर समय, चलते समय भी, प्रतिक्रमण एक बार नही, दिन मे अनेक बार करना होता ै

ने.: दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण अभ्यास के लिए है।

तु.: हाँ।

ने.: जब स्थिति बदली हुई दिखायी देती है, तब कभी भी इसे किया जा सकता है। यह स्तुत साधु-जीवन का एक अभिन्न अग है।

तु.: बिल्कुल ठीक।

प्रतिक्रमण : ग्रन्थि-शोधन की आधार-भूमिका

डा. नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण का बहुत सरल शब्दो मे अर्थ दीजिये, इस तरह कुछ कि ौसतन आदमी भी उसे समझ सके।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ .· प्रतिक्रमण आत्मालोचन, या आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया है। व्यक्ति प्रमाद होता है। प्रमाद के कारण वह करणीय से हट कर अकरणीय करने लगता है।

ने.: वह करणीय और अकरणीय का भेद नही जानता।

म. हाँ, जब प्रमाद आता है, विवेक नही रह जाता, उस क्षण विवेक ठहरता नही। शारीरिक ठिनाइयो के कारण भी ऐसा होता है, कुछ मानसिक और भावनात्मक कठिनाइयो के कारण भी ोता है। इस तरह तीन प्रकार की समस्याएँ है, जिनसे अकरणीय हो जाता है। अब यदि अकरणीय ो जाए, तो उससे निपटने के लिए प्रतिक्रमण है।

ने.· व्यक्ति जो करना नही चाहता है, लेकिन यदि उससे वह हो जाता है, तो वह क्षम्य है।

म. क्षम्य नही है।

ने. वह करना नही चाहता है, उसका इरादा नही है।

म.. इरादा नही है, किन्तु प्रमाद के कारण तो इरादा बन गया है। वह है, तो न चाहते हुए भी ह उसे कर देता है।

ने. प्रमाद को, आप प्रतिक्रमण से जोड रहे हैं।

म.. प्रमाद के कारण जहाँ-जहाँ स्खलन होता है, व्यक्ति अकर्मण्यता मे जाता है,उसके लिए ह निर्धारण है। जब व्यक्ति जागरूक है, तब उसके लिए यह है कि जो उसने किया है उसकी वह आलोचना करे, निरीक्षण करे - फिर उसके लिए प्रायश्चित्त करे। जो भी उचित लगे, करे - यह ब इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रकार का स्खलन उससे हुआ है, किस प्रकार की प्रमाद वृत्ति उससे हुई है। वह उसका निरीक्षण और पर्यालोचन करे, तथा प्रायश्चित्त के जो भी प्रकार प्राप्त हो, उनका आसेवन करे। इन सारे अर्थों को अपने-आप मे समाये हुए है 'प्रतिक्रमण'।

ने.· प्रायश्चित्त का अर्थ क्या लेगे ?

म.: शाब्दिक दृष्टि से 'प्राय ' का एक अर्थ होता है, अवस्था। जिस अवस्था मे जो हुआ है, उसका चैतन्य-पूर्वक शोधन।

ने.: क्या 'प्राय ' का अर्थ शोधन नही है ?

म.: एक अर्थ शोधन भी है, अवस्था अथवा मृत्यु भी है।

ने.: 'प्रायोपवेशन' शब्द आया है।

म.: हाँ, मृत्यु भी इसका एक अर्थ है।

ने.: यहाँ कौन-सा अर्थ प्रासगिक है ?

म.: अमुक प्रकार की अवस्था मे अमुक प्रकार का शोधन।

ने.: प्रतिक्रमण को हम चित्तशद्धि का उपाय कहे क्या ?

म.: नही, चित्तशुद्धि के कई अर्थ है। एक है कि जो पुराने सस्कार जमे हुए है, उनका शोधन।

ने.: पुराने यानी रूढ, जन्मजन्मान्तर के।

म.· जन्मजन्मान्तर के या किसी भी काल के हो, जो जमे हुए हो। प्रतिक्रमण की जो मर्यादा है वह यह है कि आज प्रमाद के कारण जो 'अकरणीय' हुआ है, उसका आज ही सशोधन कर लेना, ताकि वह संस्कार बन कर ग्रन्थि न बन जाए, इसीलिए दैवासिक और रात्रिक प्रतिक्रमण हैं; यदि 'अकरणीय' दिन मे हुआ हो, तो प्रतिक्रमण सायंकाल कर लेना और यदि रात्रि मे हुआ हो, तो रात्रि के अन्त मे कर लेना। इससे कोई भी आचरण ग्रन्थि का रूप नही ले सकेगा। तत्काल उसका परिमार्जन सभव हो सकेगा।

ने.: जब दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण कोई कर रहा है, तो फिर उसे पाक्षिक की क्या आवश्यकता है ?

म.: उसकी उपयोगिता है। भगवान् महावीर ने इस रूप मे एक बहुत बडी मनौवैज्ञानिक प्रक्रिया दी है। इसे मानसिक दृष्टि से मैं एक दुर्लभ उपाय मानता है।

ने.: प्रतिक्रमण को ?

म.: हाँ, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। कपाय के कारण यदि कोई ग्रन्थि चाहे हलकी ही बन गयी हो, तो विधि यह हे कि मन मे जो भी कषाय या पाप हुआ है, आहार करने से पहले उसे धो डाले, उसकी सफाई कर ले - प्रतिक्रमण कर ले। प्रतिक्रमण का कोई नियत समय तो है नही, जब भी आवश्यक लगे, करे।

ने.: अनियतकालिक प्रतिक्रमण भी हो सकता है।

म.: हाँ, जब भी आवश्यक लगे 'मिच्छामि दुक्कड' - उससे क्षमा-याचना की और मैत्री का भाव प्रदर्शित किया - आहार से पहले, यानी जब तक उसका प्रतिक्रमण न हो, आहार न ले, साधु/साध्वी के लिए तो यही व्यवस्था है। किसी कारणवश कोई राग-द्वेष प्रबल था, अत

तत्काल वैसा नहीं कर सके, तो दैवसिक या रात्रिक करे, और यदि अधिक प्रबल कषाय हुई, वह रात्रि मे नहीं कर सके, तो उसे कम-से-कम पाक्षिक तो अवश्य ही करना है, पन्द्रह दिनो के वाद उसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिये।

ने.: फिर चातुर्मासिक की व्यवस्था भी है।

म.: हाँ, और फिर चातुर्मासिक भी न कर सके, तो सावत्सारिक करे - यह आखिरी मर्यादा है। अगर कोई साधु/साध्वी 'सावत्सारिक' भी नही करता है तो फिर उसके सम्यग्दर्शन की पात्रता समाप्त हो जाती है।

ने.: अर्थात् उसमे सम्यक्त्व की पात्रता नही रहती।

म.: इसका मतलब यह हुआ कि उसकी जो कषाये है, वे अनन्तानुवन्धी है। जब वे अनन्तानबन्धी हो गयी, फिर वह सम्यग्दर्शन का पात्र नही रहता। यह मन शोधन की वहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। आधुनिक मनोविज्ञान बहुत जागरूक है ग्रन्थियो के विषय मे। प्रतिक्रमण की सारी प्रक्रिया ग्रन्थि-शोधन की गहन प्रक्रिया है।

ने.: प्रतिक्रमण मन के लिए भी है। एक भ्रम हमारा बना हुआ है, परम्परा से शरीर मे आत्मबुद्धि वनी हुई है। तो क्या उसके बीच कोई दरार डालने के लिए प्रतिक्रमण है ? 'शरीर अलग, और आत्मा अलग' क्या इस प्रकार का कोई विशोधीकरण भी इसमे है ? हमारा संपूर्ण दर्शन इस स्थापना पर खडा हुआ शरीर अलग और आत्मा अलग।

म.: प्रतिक्रमण से आगे का कदम है कायोत्सर्ग। दस प्रकार के प्रायश्चित्त है, पहला आलोचना और दूसरा प्रायश्चित्त। अव प्रतिक्रमण मे जहाँ-जहाँ भूले हुईं, जहाँ-जहाँ प्रमाद है, वहाँ-वहाँ शोधन करना है। शोधन का एक प्रकार है आलोचन - गुरु के समक्ष यथार्थ निवेदन। जैसे, रोगी मनोचिकित्सक के सामने सब वताता है, वैसे ही वह गुरु के समक्ष जो भी कुछ हुआ हो, उसे रख दे, यह आलोचना है।

ने.· आलोचना प्रत्याख्यान के वाद की प्रक्रिया है ?

म.· नही, आलोचना प्रारभिक प्रक्रिया है - गुरु से निवेदित करना - यह आलोचना हुई - अपनी घटना को गुरु के समक्ष कह देना - यह प्रायश्चित्त हुआ। अव इससे आगे शोध करना है, तो प्रतिक्रमण करना है - 'मिच्छामि दुक्कडं' - यह प्रतिक्रमण है।

ने.: 'मिच्छामि दुक्कड' पर थोडा-सा प्रकाश डालिये।

म : वह इस प्रकार की अनुभूति मे चला जाता है कि जो मैंने किया, वह अकरणीय था, अव मै चाहता हूँ कि उस दुष्कृति को निष्फल कर दूँ - फलवान् न वनने दूँ। बीज वोया और फल तक पहुँच गया, तो परम्परा लम्वी चलेगी, उसे अनन्त कहा है।

ने.: यह निष्फल करने की प्रक्रिया है।

म.: उसे मै निष्फल करता हूँ। निष्फल करने की यह जो चेतना है, वह प्रतिक्रमण है। जो कुछ हो गया है, उसे फलवान् न होने दूँ।

ने.: वह फलीभूत न हो।

म.: बीज वो दिया, लेकिन वह बीज जड न पकड़े, वह मजबूत न बन जाए, उसका तन मजबूत न बन जाए, वह फल न दे।

ने.: इसका मतलव यह हुआ कि यदि प्रतिक्रमण न किया जाए, तो वह जड़ पकडेगा।

म.: पकडेगा ही, ग्रन्थियाँ होती क्या हैं ? मनोविज्ञान ने बहुत अच्छा पकड़ा कि ग्रन्थियाँ ही व्यक्ति को उलझाती है। 'काम्प्लेक्स' ही व्यक्ति को उलझाते हैं।

ने.· 'ग्रन्थि' का 'निर्ग्रन्थ' से कोई सबन्ध है ?

म.: है, जिसकी ग्रन्थियाँ खुल गयी वही निर्ग्रन्थ हुआ। जितनी मानसिक ग्रन्थियाँ होती है, घटनाएँ है, या कषाये है, उन सबके हमारे मस्तिष्क मे कोण बन जाते है। वहाँ सारा उलझता चला जाता है। उलझते-उलझते इतना उलझ जाता है कि फिर हमारे वश की बात नही रहती। इसलिए जिसे स्वस्थ रहना है, उसे बहुत जागरूक रहना होगा। कोई कार्य हो गया, कोई घटना घटित हो गयी, वह अपना बीज न बो जाए या फल-रूप न हो जाए। इसकी चौकसी, जागरूकता है। जब व्यक्ति इतना प्रमादी होता है कि 'हुआ-सो-हुआ', उसकी चिन्ता नहीं करता, तः ग्रन्थियाँ उसे पकड लेती है। जो जागरूक होता है, उससे भी भूल हो जाती है। तब ग्रन्थियाँ उसे जकड़ लेती है। जो जागरूक होता है, उससे भी भूल हो जाती है।

ने.: जागरूक से भी भूल सभव है ?

म.: वह जागरूक है कि घटना कही फलवान् न बन जाए। 'मिच्छामि दुक्कड' (यह मिथ्या हो जाए) इस तरह की जागरूकता प्रतिक्रमण है।

ने.: प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण मे क्या फर्क है ?

म.: प्रत्याख्यान मे साधक भविष्य के प्रति जागरूक होता है। अनागत के लिए प्रत्याख्यान, अतीत के लिए प्रतिक्रमण, और वर्तमान के लिए कायोत्सर्ग (सवर)।

ने.: अतीत, वर्तमान और भविष्य।

म.: अतीत के लिए प्रतिक्रमण, वर्तमान के लिए कायोत्सर्ग (संवर) और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान।

ने.: वर्तमान की रेखा तो बडी सूक्ष्म है। सवर की रेखा ठीक-से दृष्टव्य (ऑब्जर्वेबल) नहीं है।

म.: वर्तमान सूक्ष्म है, किन्तु जो कुछ है, वही है। अतीत ओर अनागत उसके साथ जाने हैं। अगर वह वर्तमान को नहीं पकड़ पाता है, तो प्रतिक्रमण होगा ही नही।

ने.: श्रमण वर्तमान की रेखा को किस तरह पकडता है, उसकी प्रक्रिया क्या है ?

म.: ध्यान इसीलिए किया जाता है ताकि वर्तमान को पकडा जा सके। जिसमे वर्तमान के प्रति जागरूकता नही है, वह ध्यान नही कर सकता। ध्यान का मतलब ही है 'वर्तमान' को पकड लेना। जब हम स्मृति और कल्पना - इन दोनो से हट जाते है, तब वर्तमान पकड मे आता है। ध्यान की सारी प्रक्रिया का मतलब है स्मृति और कल्पना से मुक्त होना।

ने.: प्रतिक्रमण भी ध्यान है ?

म.: एक ही बात है।

ने.· शब्दो मे थोडा-सा अन्तर है।

म.· यो प्रतिक्रमण भी ध्यान है और सामायिक भी, किन्तु ध्यान के कई प्रयोग बन जाते है।

ने.: प्रतिक्रमण एक प्रयोग है ?

म.. हाँ।

ने.· प्रतिक्रमण को शरीर-शुद्धि से कैसे जोडेगे ?

म.: प्रतिक्रमण के बाद का एक पडाव कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग शरीर का ममत्व छोडने की प्रक्रिया है। मुझे लगता है, हम कायोत्सर्ग का प्रयोग तो बहुत करते है, लेकिन इसकी प्रक्रिया को बिलकुल नही जानते।

ने. 'कायोत्सर्ग' का शब्दार्थ क्या है ?

म.· 'शरीर-का-उत्सर्ग'।

ने.. उत्सर्ग यानी ममत्व-विसर्जन।

म.: इसका जो एक पद्धतिगत अर्थ है, उसे भी समझ लेना ज़रूरी है। शरीर को छोडे कैसे ? जब तक श्वास का सयम नही किया जाता, तब तक शरीर को छोडा नही जा सकता। कायोत्सर्ग का अर्थ ही श्वास-सयम है। यह प्राणायाम से जुडा हुआ है।

ने. चंचलता कम होगी, तो कषाय भी कम होगी ?

म.. आपेआप होगी। कायोत्सर्ग का अर्थ ही है श्वास का मन्द होना, शरीर की क्रिया का मन्द होना - यानी प्रवृत्ति-शून्यता।

ने.: इसे निष्क्रियता नही कहेगे ?

म.: शरीर की प्रवृत्तियो को निष्क्रिय या मन्द कर देना कहेगे।

ने.: शरीर को 'रिलेक्स' करना, शिथिल करना ?

म.: हाँ, फिर सारे शरीर के प्रति जागरूक होना, एक-एक अवयव के प्रति जागरूक होना।

ने.: शरीर का सर्वेक्षण करना।

म.: जागरूकता शरीर के प्रति ही नही, भीतर कहाँ-क्या हो रहा है, कहाँ-क्या वायब्रेटेड (तरगायित) है उसे देखना। पूरे-के-पूरे नाडी-संस्थान को देखना।

ने.: नाडी-संस्थान, मॉस-पेशियाँ।

म.· सूक्ष्मता के साथ एक-एक अवयव पर ध्यान देते हुए।

ने.: इस सब को आप कायोत्सर्ग की प्रक्रिया मे सम्मिलित कर रहे है ?

म.: हॉ, जब यह होता है, तभी फिर ममत्व का विसर्जन हो सकता है। यह सब कायोत्सर्ग की प्रक्रिया है। हमने वहुत छोटा हिस्सा पकडा है कि ममत्व छोड देना। जब तक शरीर का शिथिलाव नही होगा, तनाव कम नही होगे, तब तक भला ममत्व कैसे छूटेगा ? कायोत्सर्ग कैसे होगा ?

ने.: आधुनिक शब्दावली का जो विकास हो गया है, आप उसे पारम्परिक 'कायोत्सर्ग' के साथ जोडना चाहते है ?

म.· मै तो प्रयोग करवा रहा हूँ। प्रयोग करवाने के पहले शब्दो के सारे अर्थ मैने समझे है।

ने.: ग्रन्थि शब्द है। लगता है, ग्लैण्ड का पर्याय शब्द है ग्रन्थि ?

म.· ग्रन्थि बहुत पुराना शब्द है।

ने.. ग्लैण्ड का पर्यायवाची नही ?

म.: ग्रन्थियाँ सारे शरीर मे होती है। शायद आयुर्वेद मे इसे नस कहते है, किन्तु ग्रन्थि उसके लिए सबसे ज्यादा उपयुक्त शब्द है, जैन साहित्य मे इस का उल्लेख वहुत मिलता है।

ने.: मिलता है, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान ने जिस अर्थ मे 'ग्रन्थि' का प्रयोग किया है, उस अर्थ मे, या उससे भिन्न ?

म.: शायद इस प्रकार भी मिल जाए। हम राग की ग्रन्थि मानते है, द्वेप की भी मानते है जब तक राग-द्वेष की ग्रन्थि का मोक्ष नहीं होता, तव तक सम्यग्दर्शन नही होता। सारा ग्रन्थि-मोचन मोक्ष-की-प्रक्रिया का कारण है। ग्रन्थि-मोक्ष की प्रक्रिया क्या है ? जहाँ ग्रन्थि है, वहाँ मनोविज्ञान की दृष्टिसे भी देखे। सारे जैन साहित्य मे 'ग्रन्थि' शव्द प्रयुक्त है, यह कोई छिपी हुई बात नही है।

ने.: प्रतिक्रमण की प्रक्रिया के विकास का क्या हम कोई काल निर्धारित कर सकते है कि यह कव प्रारंभ हुई , कह कहे कि यह भगवान् महावीर के युग से चली आ रही है, या प्रथम तीर्थंकर ने इसे प्रवर्तित किया ?

म.: विकास हुआ है। पहले प्रतिक्रमण शव्द नही था। हो सकता है, 'आवश्यक' शव्द रहा हो। इसका एक भाग है 'प्रतिक्रमण', आज मुख्य 'प्रतिक्रमण' हो गया, वैसे मुख्य है पडावश्यक।

ने.: क्या साधुओ और श्रावको के षडावश्यक अलग-अलग है ?

म.: जो साधुओ के षडावश्यक है, वे अशत. श्रावको के लिए भी है। छहो आवश्यक स्वतन्त्र हैं।

ने.: आप प्रतिक्रमण को रूढियो से ऊपर लाना चाहते है। क्या आप चाहते है कि प्रतिक्रमण को सागोपाग बदल दिया जाए, या कही-कही, बीच-बीच मे ? मौलिक रूप से शायद बदला नही जा सकता। वह है ही, फिर भी किस तरह बदलना चाहते हैं ?

म.: बदलना नही चाहते, जो धूल जम गयी है, उसे हटाना चाहते हैं। मूल मे यह पवित्र और प्रभावी है ही।

ने.: किस तरह की धूल जम गयी है ?

म.: विस्मृति की।

ने.: प्रतिक्रमण तो होता है।

म. किन्तु उसकी प्रक्रिया विस्मृत हो गयी है। जैसे, श्वास रहेगी, लेकिन श्वास कैसे लेना इस पर भी विचार कर लेना होगा। प्रतिक्रमण की जो मूल विधि थी कि उसे कैसे करे, उसकी जो आत्मा थी, वह आज विस्मृत हो गयी है।

ने.. प्रतिक्रमण की विधि क्या है ?

म.· प्रतिक्रमण दो प्रकार का है भाव और द्रव्य। भाव प्रतिक्रमण करते समय शब्द और अर्थ का तादात्म्य होता है। प्रतिक्रमण करने वाला निरन्तर उसके प्रति उपयुक्त तादात्म्य स्थापित करता है, वह विधिसम्मत है। जिस प्रतिक्रमण मे कोरे शब्दों का उच्चारण हो रहा है, मन चक्कर लगा रहा है, इधर-उधर दौड रहा है, वह द्रव्य प्रतिक्रमण है।

ने.: प्रतिक्रमण मे क्या समय की कोई बाध्यता नही है ?

म.: है।

ने.: क्या वह उपयोगी है ?

म.: जो कार्य समयबद्ध नही होता है, उसमे कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे छूट जाते है।

ने.: यदि मन की चंचलता बनी रहे और समय हो तो वह कोई मतलब नही रखता।

म.: चचलता तो समय और अ-समय दोनो मे रहेगी, किन्तु मूल बात यह है कि यदि समय निश्चित है, तो काम हो जाएगा, और यदि समय निश्चित नहीं है, तो कोई बात करने वाला यदि आ गया, तो 'गैप' आ सकता है, प्रमाद हो सकता है।

ने.: प्रश्न शायद अनुशासन का है।

जब गर्मी के मौसम मे व्यक्ति स्नान करता है तब उसे शारीरिक हलकापन महसूस होता है, यही स्थिति प्रतिक्रमण की है। प्रतिक्रमण के बाद व्यक्ति मानसिक रूप से हलका हो जाता है। जिस प्रकार आयुर्वेद मे कायाकल्प के प्रयोग से कायिक यौवन को लौटाते हैं।

ने.: मन-का-कायाकल्प ?

क.: हाँ, यह मन-का-कायाकल्प है। मानसिक उल्लास एकदम बढ जाता है। तीसरा उदाहरण उन्होंने दिया है, जब कोई पथिक पदयात्रा करता है, चलते-चलते थक जाता है, क्लान्त हो जाता है, और घर पहुँच कर अपनी थकान उतार देता है। यही स्थिति प्रतिक्रमण की है। प्रतिक्रमण करने वाला अपने आत्मविश्वास को, आत्मोल्लास को वृद्धिगत करता है।

ने.: ताजगी का अनुभव करता है।

क.: बिलकुल। आगमन मे प्रतिक्रमण की विधि सुनिर्दिष्ट है। सबसे बड़ी विधि है भावक्रिया। उठने-बैठने की क्रिया एकदम न भी हो, अस्वस्थता के कारण, वृद्धावस्था के कारण, लेकिन मूल विधि है कि भावक्रिया के साथ प्रतिक्रमण हो।

ने.: भावक्रिया क्या है ?

क.: भावक्रिया यह कि मन हमारा उसके साथ जुडा रहे। हम जो शब्द बोलते है, बोलते-बोलते उसका अर्थ आपोआप अन्दर उतर जाए। इस भावक्रिया के साथ जो सुविधा प्रतिक्रमण होता है, उसका सर्वोत्कृष्ट लाभ यह है कि उससे तीर्थंकर गौत्र का बन्ध हो सकता है। मै समझती हूँ कि प्रतिक्रमण के बारे मे यह एक समीचीन अनुभव है।

ने.: आपका अनुभव भी बताइये।

क. मेरा अनुभव भी इसमे जुड़ा हुआ समझिये।

ने.: जुडा हुआ है यह एक अलग बात है, किन्तु अलग से अनुभव वह दूसरी बात है।

क.: प्रतिक्रमण मे जब कभी हमारा मन इधर-उधर हो जाता है, तब मन में प्रसन्नता नही होती। जिस दिन हम पूरे स्वस्थ मन से, पूरी एकाग्रता के साथ भावक्रिया-पूर्वक प्रतिक्रमण कर पाते है, उस दिन हमारा अपना आत्मोल्लास भी बहुत अधिक वृद्धिगत होता है।

ने.: प्रतिक्रमण मन को सुस्थिर करने का ही प्रकार है, उपाय है।

क.: हमारे यहाँ स्वाध्याय तो मन को स्थिर करने के लिए है, किन्तु प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य शायद यह नहीं है। प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य यह है कि हमारे भीतर जो शल्य हैं, उन्हे काट कर हम नि शल्य बन जाएँ, हम आत्मशुद्धि के क्षेत्र मे आगे बढ़े।

ने.: यानी प्रतिक्रमण का उद्देश्य नि शल्यीकरण है ?

क.: यह एक भाग (पार्ट) है। उत्तरीकरण, प्रायश्चित्तकरण, विशोधीकरण, नि शल्यीकरण-शोधन की ये जो प्रक्रियाएँ है, वे प्रतिक्रमण के साथ ही अधिक जुड़ी हुई है।

प्रतिक्रमण से आत्मावलोकन / आत्मपरिमार्जन

डॉ.: नेमीचन्द जैन : प्रतिक्रमण का आप क्या अर्थ करते है ?

मुनिश्री नगराज : प्रतिक्रमण का तापर्त्य है प्रतिगमन - वापस आना, वापस मुडना। इसका मूल अर्थ हुआ आत्मशोधन। मैंने दिन-भर मे कौन-सी भूले कीं, कौन-कौन-सी त्रुटियाँ कीं, कौन-कौन-से दोष ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था मे मुझे लगे, उन सबको याद करके उनका प्रायश्चित्त करना।

ने.: वापस आना; कहाँ आना ?

न.: आत्मस्थिति मे, स्वभाव मे।

ने.: क्यो आना ?

न.: पहले अपनी मूल स्थिति मे थे, पर दोष लग गये, अब उन दोषो से वापस मुड कर अपने शुद्ध स्वरूप मे पहुँचना। हम प्रतिदिन प्रतिगमन करते है। प्रतिक्रमण करने पर आम आदमी स्वयं को शुद्ध करेगा/कर सकेगा।

ने.: दोष के पूर्व की स्थिति मे लौट आना ?

न.: हाँ।

ने.: उसमे वापस लौट आने को हम कहेगे प्रतिक्रमण। यह आत्मशोधन-की एक अचूक प्रक्रिया है।

न.· आपने बिलकुल सही बात कही है।

ने.: विज्ञान और मनोविज्ञान का जो विकास हुआ है, क्या प्रतिक्रमण पर उस सदर्भ मे विचार किया जा सकता है ?

न.· यह तो बहुत अच्छी बात है। मनोविज्ञान मानता है कि यदि व्यक्ति मे कोई दोष आये, तो उसके लिए वह आत्मावलोकन करे, आत्मावलोकन से वह पता लगा सकेगा कि क्रोध के न्यूनाधिक होने/आने पर उस पर नियत्रण कैसे किया जा सकता है ? किस प्रकार उसे दबाया, या बाहर ठेला जा सकता है ? उसे यह अनुभूति भी होती है कि अधिक क्रोध आने पर प्रायश्चित्त या प्रतिक्रमण की प्रक्रिया अपनाकर या इस प्रक्रिया को दोहराते हुए उसका क्रोध कमश· कम होता जाएगा, उस पर वह काबू पा सकेगा।

ने.: प्रतिक्रमण यानी अपने दोष का बोध ?

न.: हाँ, जैसे, मुझे लगता है कि, मुझे गुस्सा आया है, या मुझसे किसी व्रत या नियम का उल्लघन हुआ है, तो प्रतिक्रमण मे उसका परिमार्जन हो जाएगा।

ने.: यह भूतकाल से सवन्धित हुआ; प्रत्याख्यान हुआ।

न.: प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। हमारे जो व्रत-नियम है, वे प्रत्याख्यान मे आते है। जो नहीं करना है, हमने उनका प्रत्याख्यान ले लिया है, 'वैसा नही करेगे' यह प्रत्याख्यान है। जव ये नियम-व्रत टूटते है, तो दोष होता है, प्रतिगमन होता है।

ने.: यह तो हो गया अतीत के बारे मे, भविष्य के बारे मे भी, क्या वर्तमान के विषय मे भी हम सोचते है ?

न.: यह सव वर्तमान मे तो हो ही रहा है। जव हम अतीत का प्रायश्चित्त कर रहे हैं, तव वर्तमान मे ही हमारा सकल्प बना है कि यह दुबारा न हो, भविष्य मे न हो। भविष्य के लिए एक मनोवल, आधुनिक शब्दो मे कहे तो मानसिक दृढता (विल पॉवर) की सघटना होती है। जब हम सदा प्रतिक्रमण करते है, और अगले दिन फिर वही करते है, तब सहज ही हमे अपनी मानसिक दुर्वलता का स्पष्ट भान होने लगता है।

ने.: प्रतिक्रमण की इस प्रक्रिया को लेकर श्रावक या साधु मे क्या अन्तर पडता है ?

न.: श्रावक और साधु के अपने-अपने स्वतन्त्र प्रत्याख्यान है। श्रावक के प्रत्याख्यान अपनी सीमा के है और साधु के प्रत्याख्यान अपनी सीमा के है, अत श्रावक-प्रतिक्रमण तब होगा, जब वह अपनी सीमा का उल्लघन करेगा . साधु का प्रतिक्रमण भी उसकी सीमा के उल्लघन के अनुसार होगा। इस दृष्टि से भिन्नता है, बाकी आत्म-परिमार्जन की प्रक्रिया तो दोनो मे एक-जैसी है।

ने.: यदि श्रावक आत्म-परिमार्जन की प्रक्रिया मे हो, तो प्रक्रिया-की-दृष्टि से वह उस क्षण साधु ही होता है ?

न.: साधु जिस प्रक्रिया मे है, उस प्रक्रिया मे श्रावक है, यह तो हम कह सकते है, पर साधु वह उस क्षण नही है, क्योकि साधु का गुणस्थान छठा है। मात्र प्रक्रिया-साम्य के कारण वह साधु नही होगा; क्योकि उसने देशव्रत ले रखे है, वह प्रायश्चित्त कर रहा है कि अपनी परिणीता स्त्री के अतिरिक्त यदि ब्रह्मचर्य-भग का दोष लगा है, तो मै उसका प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। यह उसके प्रायश्चित्त की सीमा हुई, लेकिन साधु के प्रायश्चित्त की सीमा यह होगी कि स्त्री-मात्र के प्रति यदि मेरी विपरीत भावना रही है, तो मै उसका प्रायश्चित्त करता हूँ। दोनो अपने व्रतो की सीमा मे रह क अपनी-अपनी दृष्टि से, मन से, वाणी से कोई भी दोष आने पर प्रतिक्रमण करते है।

(तीर्थंकर, वर्ष १४ प्रतिक्रमण और सामायिक विशेषाक, अक ७-८, अक्टू -नव. ८४ और प्रतिक्रमण शेषांक, अकं १, दिस '८४ मे-से चयनित अंश)

वातचीत : प्रतिक्रमण डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन, © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म.प्र), टाइप सैटिंग . प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र.), प्रथम सस्करण फरवरी, १९९८ ; मूल्य छह रुपये।

बातचीत : ध्यान/योग

डॉ. नेमीचन्द जैन

- ध्यान : निर्विकल्प आत्मशोध
- ध्येय : अखण्ड आत्मबोध
- ध्याता, ध्येय, ध्यान
- ध्यान : पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपातीत
- जैसा शोर बाहर, वैसा भीतर;
  शान्त करने का माध्यम ध्यान
- ध्यानारूढ़ होकर प्रेय और श्रेय की
  प्रतीति/अनुभूति
- स्वाध्याय और ध्यान :
  मृत्यु को सुखद/मंगलमय बनाने के साधन
- ध्यान : समत्व की ओर प्रशस्त पग
- ध्यान : आसन : प्राणायाम
- ध्यान में वीतरागता की अनुभूति

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

ध्यान : निर्विकल्प आत्मशोध; ध्येय : अखण्ड आत्मबोध

डॉ. नेमीचन्द जैन : ध्यान क्या है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : 'ध्यान आत्मस्वरूप चिन्तनम्' - आत्मस्वरूप के चिन्तन व नाम ध्यान है, क्योकि यहाँ ध्यान आध्यात्मिक अथवा आत्मिक शान्ति के लिए होने के कारण य लौकिक ध्यान नही है । आत्मकल्याण के लिए और मानसिक, वाचिक, कायिक इत्या सासारिक दु खो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए जो आत्मस्वरूप का चिन्तवन है, वही सच्चा ध्या है । आचार्यों ने ध्यान के अन्तर्गत चार बाते बतायी है - ध्याता, ध्यान, ध्येय; सवर तथा निर्ज ये दोनो ध्यान के फल हैं ।

ने.: ध्याता किसे कहे ?

वि.: पाँचो इन्द्रियों-स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण-के विषय को त्याग कर मन को ध्या मे लगाने वाला ध्याता है, जो निकट भव्य है, आसन्न भव्य है, अर्थात् समस्त दु खो से मुक्त हो की योग्यता प्राप्त कर चुका है और जिसकी आत्मा मे उसका परिपाक हो चुका है ।

ने.. सरल शब्दो मे बताइये कि ध्याता किसे कहते हैं ?

वि.: वह भव्य पुरुष जो ससार-सागर से पार होने का किनारा खोज रहा है ।

ने.· जो आत्मचिन्तवन करना चाहता है, क्या उसे हम ध्याता कह सकते है ?

वि.· यथास्थित जो पदार्थ है, वस्तु जैसे शुद्ध, अपने स्वरूप मे है, उसे जानना उसका ध्ये है । अपने आत्मा का जो मूल स्वरूप है, समस्त द्रव्य कर्म, नोकर्म, भाव कर्म रहित एक निराकार निरजन परमात्मा का ध्यान ही जिसका ध्येय है, वही ध्याता है ।

ने.: यही उसका ध्येय है ।

वि.· एकाग्र होकर विचार करना ध्यान है । किसी एक शुद्ध परमाणु का आलम्बन ले क समझिये अथवा आप समझिये दाल अलग, छिलका अलग, आत्मा अलग, शरीर अलग- इ तरह से किसी भी लोकधर्मा वस्तु को ले कर ध्यान किया जा सकता है, लेकिन एक शर्त है, जि ध्यान को हम निर्विकल्प करना चाहते है, उस ज्ञान मे मोह का अश नही होना चाहिये । जिस ज्ञा मे मोह का अश है, वह श्रुतज्ञान नही है, यानी भावश्रुतज्ञान नही है । भावश्रुतज्ञान उसे कहते है, ज लोकज्ञान हो यानी अल्पज्ञान हो, लेकिन वह निर्मोह को लिये हुए हो ।

ने.· क्या निर्मोह के लिए अनासक्ति शब्द काम मे ले सकते है ?

वि.· हाँ ।

ने. इस ध्यान का फल क्या है ?

वि.· जैसे, धूल आने से वारिश के दिनो मे खिडकियाँ वन्द करते है और धूल से सारा कमर न भर जाए, इसलिए दरवाजा भी वन्द कर लेते है, इसी प्रकार ध्यान द्वारा मन-वचन-काय रूप कपाट को वन्द कर लेना है और वन्द करने के वाद पहले की जो धूल है, उसे वाहर निकाल देन

है। आत्मा मे पाप-पुण्य से जो बुरे और अच्छे विचार आ चुके है, पाप-पुण्य के जो कण पडे है, उन्हे बाहर निकालने को शास्त्रीय भाषा मे निर्जरा कहते है। ध्यान द्वारा कर्मों की जो सवर-निर्जरा होती है, उसका फल मुक्ति है, आत्मशान्ति है, अनन्त और अखण्ड आनन्द है।

ने.: इसका अर्थ यह हुआ कि ध्याता भी आत्मा है और ध्येय भी आत्मा है। ध्यान उस आत्मा को जानने की प्रक्रिया है और निर्जरा उसका फल है।

वि.: हाँ। निर्जरा के बाद आत्मा अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, ज्ञान-चैतन्य मात्र रह जाता है। आत्मा केवल ज्ञान-मात्र है, आत्मा ज्ञान-विग्रह है।

ने.: विग्रह यानी प्रतिमा/मूर्ति ?

वि.. ज्ञान-मात्र, चैतन्य-मात्र आत्मा का जो विग्रह है, वही रह जाता है। ध्यान मे ही आनन्द लेना, अनन्त काल तक उसी मे रमे रहना, उसी मे तन्मय/तल्लीन हो जाना, यही ध्यान का फल है।

ने.: जब तक विकल्प होते है, तब तक ध्यान जमता नही है।

वि.: प्रारम्भिक अवस्था मे तो विकल्प होते ही है, परन्तु अनन्त/असख्य विकल्पो को कम करते हुए 'सोऽहं' एक ही विकल्प ध्यान को ले कर रहे, तो क्रमश वह भी छूट सकता है। हम आत्मा मे ससार के समस्त पदार्थों को शून्य समझे। आत्मा के लिए उपादेय केवल शुद्ध आत्मा ही है। उस उपादेय पर अपना लक्ष्य बनाये रखने से उसमे खण्ड-खण्ड ज्ञान न होते हुए अखण्ड आत्मा का बोध होता है।

धर्म ध्यान मे प्रतीक शुद्ध होते है, जिन्हे हम शुद्धोपयोग कहते है। शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनो सहचारी है। शुद्धोपयोग का जो अश है, वह वीतराग भाव होने के कारण ध्यान के लिए उपयोगी है।

ने.: शुद्ध और शुभ के अन्तर को स्पष्ट कीजिये।

वि.: अशुभ और शुभ दोनो एक है, वे मलिन है। वे आत्मा को भी मलिन करते हैं।

ने.: एक लोहा है, एक स्वर्ण है।

वि.· हाँ। एक लोहे की बेडी है, एक सोने की बेडी है, बेडी डालने के बाद आप बाहर कैसे जा सकते है ?

ने.: दोनो है तो बेडियाँ ही।

वि.· आप बन्धन मे पडे रहेगे। पुण्य और पाप दोनो ही बेडियाँ हैं - शुभ और अशुभोपयोग- दोनो ही बेडिया है , लेकिन क्रम मे पहले अशुभ छोडा जाएगा।

ने.· यानी अशुभ बडा दरवाजा है, वह बाहर का गेट है, उसे बन्द करना ही होगा, फिर दूसरा दरवाजा शुभ का है, उसको बन्द करने के बाद ही मुक्ति है। वह ध्रुव मार्ग है।

वि.: शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिए शुभोपयोग एक साधन है। आत्मा के शुद्ध परिणामो को बनाये रखना, अपने शुद्ध स्वभाव मे देखना, उसी मे रम जाना ही शुद्धोपयोग है।

ने.: उपयोग का अर्थ ध्यान होता है ?

वि.: हाँ। उपयोग का अर्थ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है। आप कहते है , इस चीज का क्या उपयोग है ? यह कपडा पोछने के लिए या किताब रखने के लिए है। उपयोग एक सामान्य शब्द है। आत्मा के दो ही उपयोग है-ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। आत्मा ज्ञाता और दृष्टा है। यह आत्मा का स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा ज्ञान और दर्शन दोनो से संपन्न है। दर्शन यानी पहले देख लेना-सामान्य अवलोकन और ज्ञान अर्थात् उसी आकार-प्रकार आदि का चिन्तवन करना। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन दोनो उपयोग आत्मा के अनन्य गुण है।

ने.: यदि उपयोग और ध्यान दोनो को एक ही मान ले, तो कैसे-क्या ?

वि.: उपयोग और ध्यान । ज्ञान-चेतना एक है, अर्थात् उसे अपने आत्मा मे अनुभूत हो कर जब भेद-विज्ञान होगा, तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, ऐसा आत्मा के ज्ञान-चेतना से युक्त होने से होगा। आत्मा ज्ञान-चेतना से युक्त है।

ने.: यह चेतना का फल हुआ।

वि.. नही। ज्ञान-चेतना का यह फल नही है। ज्ञान-चेतना मे रम जाना ही ध्यान है। अपने शुद्ध स्वभाव मे आना/होना ही ध्यान है।

ने.. इसे आत्मरमण कह कहते है ?

वि.: हाँ। इसीलिए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग-यह स्वयं आत्मा का ही स्वभाव है।

ने.· वस्तुस्वरूप का चिन्तवन ध्यान है।

वि.: उस वस्तु का जिसमे कोई भी विकृति नही है, जो वस्तु का मूल्य स्वभाव है।

ने.: ऐसी वस्तु की मौलिकताओ का चिन्तवन करना ।

वि.: मौलिक और परिशुद्ध का चिन्तवन करना। अमृतचन्द्राचार्य कहते है, द्रव्यदृष्टि से मेरा आत्मा शुद्ध है, वर्तमान पर्याय मे नही। परमशुद्धि के लिए मै ध्यान करता हूँ, स्वाध्याय करता हूँ, अथवा मै व्याख्या करता हूँ कि 'इन सब मे एकाग्र हो कर सिद्ध भगवान्-जैसी मेरी विशुद्धि हो'।

ने.· ध्यान और योग जो शब्द काम मे आते है, क्या इन्हे हम पर्यायवाची शब्द के रूप मे काम मे ले सकते है ?

वि.: शास्त्रो मे अनेक पर्यायवाची शब्द ध्यान अथवा योग के विषय मे बताये गये है। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, शुद्धोपयोग-ये शब्द एकार्थवाचक है। साम्य का अर्थ है समता, रागद्वेष-रहित/स्वास्थ्य आत्मस्थिति-आत्मा मे निराकुल स्थिति।

ने.: जैसे देह के आरोग्य के लिए औषधियाँ हम काम मे लेते है, उसी तरह से मन और वाणी को निर्दोष बनाने के लिए उपयोग करते है। ध्यान का उपयोग हम आत्मा के स्वास्थ्य के लिए करते है।

वि.: एक शरीर का रोग होता है, गाली देना वचनो का रोग है। एक मानसिक रोग है जिसे भाव-रोग भी कहते है। भव-रोग सचार-चक्र मे फँसना है, और भावरोग परिणाम की अशुद्ध स्थिति है।

ने.· आपने तीन रोग बताये। पहला, देह से संवन्धित, दूसरा, वाणी से सबन्धित और तीसरा, भाव से सबन्धित।

वि.: इसलिए इस भव-रोग से मुक्त होने के लिए परिणामो को स्वस्थ रखना बहुत ज़रूरी है। 'योगक्षेम' पूछा जाता है। 'योग' का मतलब यहाँ मन-वचन-काय और क्षेम का मतलव उनकी पवित्रता, सुरक्षा आदि से है।

ने. आपने बहुत अच्छा शब्द काम मे लिया- परिणामो का स्वास्थ्य। इसका मतलव ?

वि.· अपने परिणामो मे किसी भी प्रकार का दु ख, राग-द्वेष न हो। किसी भी दु ख मे, राग-द्वेष मे परिणामो की परिशुद्धि कम न हो।

ने.· इसका अग्रेजी मे अनुवाद करे, तो 'हाइजीन ऑफ थिंकिंग' (परिणामो की निर्मलता) हो जाता है। विचार को परिशुद्ध रखने की एक प्रक्रिया-स्वास्थ्य।

ने.· पात्रता मे श्रद्धा की तो बहुत बडी भूमिका होनी चाहिये। श्रद्धा नही होगी, तो पात्रता का विकास कैसे होगा ?

वि.: हाँ। आत्मा पर श्रद्धा गुण का होना बहुत जरूरी है। मैं अजर-अमर हूँ- यह भावना बहुत ज़रूरी है। मै अजर-अमर हूँ- यह भावना नही है, तो वह उसके लिए क्यो प्रयत्न करेगा ? यह ससार क्षणिक है, देह के साथ ही आत्मा भी नाश होने वाला है, ऐसी जिसकी कल्पना है, वह क्यो आत्मा की उपलब्धि के लिए प्रयास करेगा ? मुक्ति के लिए आत्मा अजर-अमर है, यह न जल से गीला हो सकता है, न शस्त्र से काटा जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, और न हवा से सुखाया जा सकता है। आत्मा चैतन्यपूर्ण है। ज्ञान-दर्शनमय है।

ने.: आस्था नही होगी तो ?

वि.: अखण्ड आस्था नही होगी, उसकी यथार्थ जानकारी नही होगी, तब तक वह धर्मध्यान के लिए अधिक पुरुषार्थ और प्रयत्न नही करेगा।

ने.· मुझे लगता है, ध्यान की प्रक्रिया मे भी एक क्रम है। जैसे श्रद्धा है, रुचि है, वृत्ति है। इन पर भी कृपया प्रकाश डालिये। श्रद्धा से हम आरम्भ करते है। श्रद्धा भी एक प्रकार की रुचि है।

वि.: हाँ। फिर भी पर्यायवाची शब्दो मे शास्त्रकारो ने कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य किया है। श्रद्धा, रुचि और प्रतीति- ये शुद्धज्ञान की पर्याय है और जो चारित्र्य गुण की पर्याय है उसे स्वरूपाचरण चारित्र्य कह सकते है, क्योकि शुभ कर्मो मे मन-वचन-काय का जो व्यापार होता है, उसे सविकल्प स्वरूपाचरण चारित्र्य कहते है अथवा सम्यक् चारित्र्य भी कहते है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धा गुण रुचि बढा सकता है।

ने.· क्योकि रुचि बढेगी, तो प्रतीति भी होगी।

वि.: हाँ। ऐसा होगा, तो वह अपने चारित्र्य गुण मे रम जाएगा। इसलिए इस पचमकाल मे आचार्यों ने स्पष्ट रूप से धर्मध्यान के लिए कहा है। यद्यपि धर्मध्यान के पाँच भेद है सामायिक, छेदोपस्थापना, पर्यायविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, यथाख्यात। इस कलियुग मे सामायिक और छेदोपस्थापना दो ही हैं। सामायिक को ध्यान अथवा योग कहिये, अपनी आत्मा मे द्रव्यगुण-पर्यायसे रम जाने को सामायिक कहेगे।

ने.: यह ध्यान का प्रथम प्रकार है ?

वि.: हाँ। अपने आत्मा मे अप्रमत्त हो कर रम जाना है।

ने.: धर्मध्यान की पूर्णता विना चारित्र्य की पूर्णता के नही हो सकती। क्या दोनो एक-दूसरे पर निर्भर है।

वि.: दोनो एक सिक्के के दो पहलू है, यह मानना चाहिये।

ने.. यदि दोनो एक ही सिक्के के अलग-अलग पहलू है, तो पहला पहलू ध्यान को माने।

वि.. हम चारित्र्य के लिए मानसिक रूप से आसक्ति का विसर्जन करके और विपयो को वाहर ही छोड कर अपने-आप को अन्तर्मुख करना सीखे, क्योकि इन्द्रियजन्य विषय रागजन्य होने से वाहर के पौद्गलिक भाव को ही ग्रहण करते है। कर्ण शब्द को, घ्राणेन्द्रिय गंध को, जिह्वा रस को, स्पर्शेन्द्रिय कोमलता को और चक्षु सुन्दरता या रूप को ग्रहण करते रहते है। अनश्वर आत्मा का विषय तो सम्यग्ज्ञान (ज्ञानचेतना) है। वही आत्मा का भोजन (ज्ञानामृतं भोजनम्) अथवा आहार है। उसकी प्राप्ति अन्तर्मुख हो कर ही जप, ध्यान, स्वाध्याय, सयम द्वारा सभव है, सुलभ है।

ने.. इसका मतलव हुआ कि जिसका जो विषय होगा, वही वह ग्रहण करेगा। इन्द्रियो का विषय इन्द्रियाँ ग्रहण करेगी। आत्मा का विषय आत्मा ग्रहण करेगा।

वि.· अन्तर्मुख होना वहुत जरूरी है।

ने.. यह वहुत तर्कसंगत वात है। वहिर्मुखता इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त हो सकती है और अन्तर्मुखता ध्यान के माध्यम से। यही है मार्ग आत्मा तक पहुँचने का।

वि.: हाँ।

ने.: ध्यानाग्नि और ज्ञानाग्नि-ऐसे दो शब्द मैंने देखे है, तो क्या ज्ञान के माध्यम से ध्यान की अग्नि को प्रज्वलित किया जा सकता है ?

वि.: हाँ। उसकी विधि जानना जरूरी है। बिना विधि के ऐसे ही बैठ गये, तो कुछ नही होगा। हर चीज की सहायता के लिए क्रम है। जैसे, दुकान करना है, तो स्थान, सामान, तराजू आदि चाहिये। इसी प्रकार आसन है, मेरुदण्ड को ठीक तरह से रखना यानी आसन को विधिपूर्वक लगाना, अर्धोन्मीलित नेत्र यानी आँखो को आधा खोल कर नासाग्र दृष्टि रखना और आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से ठीक तरह से जानना। वह चेतनमय है, ज्ञानमय है। ज्ञानचेतना क्या होती है ? कर्मफलचेतना, कर्मचेतना, ज्ञानचेतना। कर्मफलचेतना एकेन्द्रिय निगोदकामी जीव है। ससार मे द्वीन्द्रिय जीव से लेकर मन पर्यायज्ञानी तक कर्मचेतना होती है और ज्ञानचेतना कर्म-भेद से चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्ध परत्मामा तक होती है। उसके असख्यात भेद हैं।

ने.: ज्ञानचेतना के ?

वि.: हाँ। ज्ञानचेतना जब तक कर्म-उपलब्धि स्वानुभव से नही करेगे, तो ज्ञानाग्नि 'सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्' सार्थक नही हो सकती, इसलिए श्रुतज्ञान के साथ ज्ञानचेतना का अनुभव करना चाहिये। यह ज्ञानचेतना चौथे गुणस्थान से शुरू हो जाती है अत चौथे गुणस्थान से ही ध्यान का स्वामी हुआ जा सकता है। उसके बाद पाँचवे और छठे गुणस्थान वाला भी है। वे तीन गुणस्थानी है, उन्हे उपचार से धर्मध्यानी माना है। अप्रमत्त गुणस्थान वाला ही मुख्य धर्मस्थान वाला माना गया है।

ने.. यदि देह को चिराग मान ले, तो ध्यान की अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है, फिर तो प्रकाश-ही-प्रकाश है।

वि.: मिट्टी का आकार है देह जिसमे स्थित है ज्ञानज्योति। ज्ञानज्योति की लौ हवा लगने से हिलती-कँपती रहती है। उसके प्रकाश मे भी कुछ चंचलता है। ध्यानदीप या ज्ञानदीप कहिये अथवा मन कहिये, मे एकाग्रता आनी चाहिये। चारो ओर की हवा नही लगनी चाहिये, फिर वह अकम्प हो जाता है। इसी प्रकार से इन्द्रियो के द्वारा दुनिया मे चारो तरफ से जो विषयरूपी हवा के झोके आते रहते है, उन्हे रोक दिया जाए, तो मन अकम्प हो जाता है। जैसे, पानी है, उसमे हीरा पड़ा है। उसे हमे देखना है। वह हीरा कब तक दिखायी नही देगा, जब तक पानी की तरंगे उठ रही है। तरंगे उठना बन्द हो जाता है, तो पानी शान्त हो जाता है और हीरा दीख पड़ता है। इसी तरह मन मे जब तक सकल्प-विकल्प की तरंगें उठती रहेगी, तब तक आत्मा का दर्शन/अनुभव नही होगा और न एकाग्रता की सिद्धि हो सकेगी। एकाग्रता से अनन्त आनन्द की अनुभूति/उपलब्धि होती है।

ने.· एकाग्रता ?

वि.· हाँ। उस एकाग्रता मे आत्मा को यथार्थ रूप से बहुत सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मे जानना ज़रूरी है। जो सम्यग्दृष्टि जीव होगा, वह ऐसा करेगा।

ध्याता, ध्येय, ध्यान ध्यान : पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपातीत

डॉ.: नेमीचन्द जैन : शुभ और शुद्ध शब्द हैं, इन दो शब्दो के कारण इधर की शताब्दी ं बडी गलतफहमियाँ हुईं, बहुत भ्रान्तियाँ फैली, इन शब्दो को, इन विशेषणो को असंदिग्ध करन बहुत जरूरी है। शुभ और शुद्ध; शुद्ध और शुभ - इन दो शब्दो को, विशेषणो को विस्तार ं बतायेंगे तो उत्तम होगा।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : शास्त्रो मे, पारिभाषिक शब्द है। 'जयधवला' मे स्पष्टतय प्रतिपादित है कि चौथे, पाँचवे, छठे इत्यादि जो नीचे के गुणस्थान है, उनमे शुद्ध और शुभ दोन परिणाम होते है। शुद्ध का अश बहुत कम होता है और शुभ का अश बहुत ज्यादा होता है।

ने.: अशुभ नही होता है ?

वि.: नही। इधर शुभ के परिणामो मे-से निकल नही रहे है और जितने शुद्ध परिणा रागरहित है, उनसे निर्जरा भी हो रही है। ये दोनो साथ-साथ चलते है। इधर कर्म की निर्जरा हुई उधर पुण्य धर्म का बन्ध भी हो रहा है, इसीलिए आचार्यो ने शुभोपयोगी आत्मा को भी धर्मपरिण आत्मा कहा है। पूजा, अभिषेक, जाप आदि को परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है कुल्हाडी मे धार जितनी तेज होगी, उतना ही अच्छा वह काटेगी, यहाँ कर्मों को काटने की बात है।

ने.: कुल्हाडी मे एक धार वाला फल (हिस्सा) होता है, और एक जिसमे मूठ/डण्ड लगा रहता है।

वि.. आप कहे कि हमे विशाल वृक्ष को काटना है, तो केवल मूठ/डण्डे से तो नह काट सकते है और सिर्फ कुल्हाडी लेकर बैठेगे, तब भी नही काट सकते है। जिस तर कुल्हाडी और उसकी मूठ/डण्डा दोनो साथ-साथ उपयोगी है, वैसे ही मूठ/डण्डा त शुभोपयोग है और कुल्हाड़ी की जो धार है, वह शुद्धोपयोग है। जैसे कुल्हाड़ी के साथ दोनो एक-दूसरे के पूरक है, उसी तरह 'जयधवला' मे वीरसेनाचार्य स्पष्ट कहते है कि शुभ और शुद्ध परिणामो से ही कर्मों का क्षय होगा।

ने.: शुभ के बिना शुद्ध की कुल्हाडी उठेगी नही।

वि.: नही उठेगी। इस तरह शुभ और शुद्ध - दोनो एक अवस्था मे होते है अर्थात् किसी को हम हेय नही कह सकते है। जब मन्दिर मे प्रवेश करना है, तो एक पैर अन्दर होगा, दूसरा बाहर। दोनो पैर के साथ अन्दर कैसे रखेंगे ? इस दृष्टान्त मे एक पैर शुभ है और दूसरा पैर शुद्ध है। शुभ का जो अश है, वह है मोक्ष के लिए परम्परा से कारणीभूत है। इसलिए शुद्ध परिणाम ही हमारा मुख्य/मूल लक्ष्य है। शुद्धोपयोग अथवा स्वरूपाचरण चारित्र्य। शुद्धोपयोग की जो भूमिका है, उसमे अशरूप शुभ और शुद्धोपयोग रहता है। इस पर भी ध्यान देना चाहिये कि जो शुद्ध परिणाम है, वे कर्मक्षय के कारणभूत है। जैनाचार्य कहते है 'धर्म शुद्धोपयोग स्यात्'। धर्म क्या है ? वह

तो शुद्धोपयोग ही है, परन्तु वहाँ शुद्धोपयोग की सिद्धि के लिए आचार्यों ने भी तपस्वियो के लिए एक बात कही है। उसे भी आपको थोडा-सा बता रहा हूँ। हमारे जो तीर्थंकर हुए, उनका जो लक्ष्य है, वह तो पूर्ण शुद्धोपयोग ही है-अत्यन्त भाव, फिर भी उसकी प्राप्ति के लिए वे जो आराधना करते है, नाना प्रकार के बहिरग और अन्तरग तप, उपवास आदि करते है, वे भी महत्त्वपूर्ण है।

ने.· पूजा आदि भी ?

वि.: गृहस्थो के लिए पूजा आदि है ही। कहने का तात्पर्य यह कि उस क्षायिक भाव को प्राप्त करने के लिए धार्मिक अवस्था मे शुद्धोपयोग के लक्ष्य है, परन्तु वह सर्वथा शुद्धोपयोग मे रम नही सकता है, इसके साथ शुभोपयोग भी होता है। जो उत्कृष्ट है, उसकी प्राप्ति के लिए, उस दशा मे भी व्रत-उपवास इत्यादि नाना प्रकार के जो बहिरग-अन्तरग तप है, उन्हे भी उसे करना पडता है।

ने.: सबसे पहला सघर्ष होता है ध्यान मे शुभ और अशुभ के बीच। उसके बाद शुभ और शुद्ध के बीच। यदि शुद्ध विजयी हो जाए, तो हमारा झण्डा लहराने लगता है।

वि.. सही बात है।

ने.. ध्यान की प्रथम अवस्था हो गयी शुभ-शुभ और अशुभ मे संघर्ष। द्वितीय अवस्था, हो गयी शुभ और शुभ मे संघर्ष, और तृतीय अवस्था, हो गयी शुद्धोपयोग।

वि.: हमारे मन मे मिथ्यात्व के जा भाव है, उन्हे हटाने के लिए ध्यान के द्वारा बहुत पुरुषार्थ करना चाहिये, जैसे, स्वाभिमानी स्वतन्त्र देश पर शत्रु का झण्डा लग जाता है, तो सेनापति और सेना तब तक दूसरा कुछ नही सोचते है, जब तक परतन्त्रता का झण्डा फेक कर अपनी स्वतन्त्रता का झण्डा गाड न ले। इसी तरह हमारी आत्मा पर मिथ्यात्व ने झण्डा गाड रखा है, उसे उखाड कर जब तक हम फेक नही देते, तब तक स्वातन्त्र्य-सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होगी ?

ने.: पहले तो पता नही लगता है कि मिथ्यात्व का झण्डा गडा हुआ है। ध्यान से मिथ्यात्व के झण्डे को उखाड़ फेकना है।

वि.: जिस मिथ्या के द्वारा हमारा आत्मा दु खी है - इसका ज्ञान होगा, तभी उसको हटाने का प्रयत्न / पुरुषार्थ हम करेगे।

ने.. आपने बहुत अच्छी बात कही कि भारत की आजादी का जो संघर्ष था, उसमे अग्रेज यानी मिथ्यात्व और हम यानी गाँधीजी का मोर्चा या पक्ष सम्यक्त्व था, और उसमे सम्यक्त्व की विजय हुई। जैसे भारतीय विजय बाहर हुई, वैसे ही हमे आन्तरिक आजादी प्राप्त करना है।

वि.: आचार्यों ने ग्रन्थो मे ऐसा दृष्टान्त दिया है। जब मिथ्यात्व का उदय होता है, तब वस्तु-स्वरूप पर परदा पड जाता है। जब अज्ञान का उदय होता है, तब वह अ-तत्त्व को तत्त्व समझ बैठता है।

ने.: उसकी अतत्त्व मे रुचि रहती है।

वि.. हाँ।

ने.: पदो का जो उपयोग हमे एकाग्रता की ओर ले जाए, वह ध्यान कहलायेगा। यदि पूजा हमारा वह उद्देश्य पूरा करती है, तो वह पूजा भी पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत आ सकती है।

वि.. बिलकुल ठीक। कोई पूजा हो, जाप हो, स्तुति-स्तोत्र हो-उसे आसन लगा कर एकाग्रता से भावपूर्वक बोलते है, वह भी पदस्थ ध्यान है। शुद्ध परमाणु का चिन्तवन भी ध्यान है। फिर जो भी आलम्बन हो, किसी भी शुद्ध पदार्थ का हो। जब हम णमो अरहताण का भावपूर्वक चिन्तवन करते है. तब वह भी पदस्थ ध्यान ही है।

ने.. पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत 'ॐ' पर प्रकाश डालिये।

वि.. हमारे शास्त्रो मे 'ॐ को 'प्रणव' भी कहा है। यह बीजाक्षर मन्त्र है। यह सर्वकामफल-प्रदायक है - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए कारणीभूत है। ॐ के ध्यान का महत्त्व दर्शाने वाला यह मगलाचरण है

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमोनम ।

ॐ को प्रणव इसलिए कहा कि वह प्र + णव हमेशा ताजा रहता है। इस प्रकार ॐ बीजाक्षर मन्त्र है और पदस्थ ध्यान है।

ने. 'सोऽहं' का अर्थ हुआ-'वह मै हूँ'। यह शरीर मै नही हूँ, मै इससे भिन्न वह हूँ।

वि. यह भी अर्थ होता है 'सोऽह' परमात्मा सिद्ध परमात्मा का आलम्बन लेते है। जैसे सिद्ध भगवान् हैं, वैसा ही मेरा आत्मा भी शुद्ध और सिद्ध है। इस वर्तमान पर्याय मे सिद्ध होने के लिए मै ध्यान कर रहा हूँ। इस प्रकार के भाव ध्यान मे होते है कि जैसा परमात्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। ऐसा ध्यान करते-करते अथवा ऐसा ध्यान होते-होते मै ही, मेरा आत्मा ही उपास्य है, ऐसी स्थिति आ जाती है, तब कर्मों का क्षय होता है।

ने.· ध्याता, ध्येय, ध्यान- तीनो एक हो जाते है, विकल्प छूट जाते है। तीनो एकाकार हो जाते है।

वि.: वाह! ठीक है।

ने.: यह तो 'पदस्थ' ध्यान हुआ। इसके आगे 'पिण्डस्थ' ध्यान है न ?

वि.· पिण्डस्थ ध्यान से वह निर्लिप्त-निर्मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह ससार के जाल से मुक्त हो जाता है।

ने.: पदस्थ मे-से एकाग्रता और पिण्डस्थ मे-से व्यापकता ध्यान के दो परिणाम इनसे आये। पिण्डस्थ के विषय मे और कुछ वतायेगे ?

वि.: पिण्डस्थ के साथ ज्ञानचेतना का चिन्तवन स्वानुभूति का अनुभव करते रहना चाहिये, क्योकि जब अपना शुद्ध स्वरूप स्वात्मा का ध्यान करेगे, तभी स्वानुभूति होगी।

ने. फिर पिण्डस्थ से रूपस्थ ध्यान की ओर आना होगा।

वि.. पिण्डस्थ के बाद रूपस्थ ध्यान-**रूपस्थं सर्व चिद्रूप**-सकल परमात्मा-अरहतदेव का द्रव्य-गुण पर्याय से चिन्तवन करना और अपने भी द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तवन करना चाहिये। वे केवलज्ञानी है क्योकि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय - इन चारो कर्मों का नाश कर दिया। उनके शुद्ध आत्मा का ध्यान, इसलिए रूपस्थ ध्यान होगा कि चार घातिया कर्म वैठे हुए है।

ने.: रूपस्थ और पिण्डस्थ मे क्या फर्क है ?

वि.: पिण्डस्थ मे तो हम कर्मो से छद्मस्थ जीव है और रूपस्थ मे चार घातिया कर्म नष्ट हो कर केवलज्ञानी है।

ने.: जो रूपस्थ ध्यान कर रहा है, वह उस तरह से है ?

वि.· हाँ। अरहंत-सिद्ध का ध्यान करता है। उसके बाद आचार्य वताते है **रूपातीतं निरञ्जनम्**। जो आठो कर्मरहित, द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म से रहित है, जिनमे ढाँचा-रूप मे शरीर भी नहीं है, आठो कर्म भी नही है। यहाँ अंजन से तात्पर्य है कर्म और निरंजन से कर्मरहित इस प्रकार निरजन-निराकार रूप समस्त कर्मों से रहित वह आत्मा सिद्धात्मा, उसका ध्यान अन्तिम है, इसलिए जिसमे पारिणामिक भाव होते है, वह रूपातीत ध्यान कहलाता है। रूपातीत ध्यान परमात्मा का शुद्धरूप ध्यान है। अपनी आत्मा को परमात्मा समझ कर ध्यान करना है।

ने.: यह है रूपातीत ध्यान।

वि.· जो परमात्मा है, पहले उनके गुणों को समझ लेना है। रूपातीत सिद्ध भगवान् ऐसे है - निरंजन-निराकार, यह समझ कर फिर अपनी आत्मा मे अपनी परम शुद्धि के लिए ध्यान करना है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा शुद्ध है, वर्तमान पर्याय मे नही है।

जैसा शोर बाहर, वैसा भीतर; शान्त करने का माध्यम ध्यान

डॉ. नेमीचन्द जैन . मै सोचता हूँ कि ध्यान और परिणाम का बहुत गहरा सबन्ध है। भीतर जो घटनाएँ घटित होती है, उनका ध्यान से सीधा सबन्ध है। जो लेश्या-प्रकरण है, वह परिणामो से सबन्धित है। क्या ध्यान का और लेश्या का कोई सबन्ध बनता है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : हाँ, हमारे यहाँ जो लेश्याएँ है, वे सब औदयिक मानी गयी है। औदयिक, जो कर्म के उदय से होती है। जीव के पाँच भाव माने गये है औदयिक, उपशय, क्षायोपशम, क्षायक, पारिणामिक। औदयिक कर्म के उदय से होते है और उनमे जो मन-वचन-काय की चंचलताएँ और क्रोध-मान-माया-लोभ की चचलताएँ है, उन्हे लेश्या कहते है।

ने.· लेश्या की फिर से परिभाषा कर दीजिये।

वि.: लेश्या की जो परिभाषा शास्त्रो मे की गयी है, वह मै आपको बता दूँ। 'धवला' ग्रन्थकार ने कहा है कि जो कर्मस्कन्धो से आत्मा को लिप्त कर ज्ञानावरणादि प्रदान करते है, कषाय-रूप परिणत करते है, उन्हे लेश्या कहते है। यहाँ कषाय-सबन्धी योग-प्रवृत्ति ही लेश्या है, इतना मात्र अर्थ नहीं किया गया, इसके साथ मन-वचन-काय की चचलता के साथ माया-मोह का सबन्ध हो जाता है, तो वह कर्म से लिप्त होने के कारण लेश्या कहा है।

ने.. लेश्याएँ कितने प्रकार की है ?

वि.: छह प्रकार की है कृष्ण, नील, कापोत, पीत,पद्म और शुक्ल (श्वेत)। इस तरह से छह लेश्याएँ हमारे यहाँ मानी गयी है। उनमे तर-तमता के भेद से एक-एक मे तीव्र,तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द,मन्दतर, मन्दतम होती है। व्यक्तियो के परिणाम असख्य हो सकते है। परिणाम मन्द, मन्दतर, मन्दतम है और तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भी है।

ने.: इस प्रकार यह कषाय के अनुसार व्यक्तियो का वर्गीकरण है ?

वि.: हाँ। चित्तवृत्तियो का वर्गीकरण है।

ने.: इसी को लेश्या कहते है। आचार्यों ने इन्हे अपने ढँग से समझाया है।

वि.: जव मन पर कषाय तैनात हो जाती है, तो वह लेश्या कहलाती है। उस पर धर्मात्मा अंकुश लगा सकता है, ध्यान से भी लगाया जा सकता है।

ने.: मन पर जव कषाय आरूढ हो जाए, तव उसे क्या कहेंगे ?

वि.: लेश्या औदयिक कुवेद भाव है। कृष्ण, नील, और कापोत- ये तीन लेश्याएँ है। इन्द्रियजन्य सुखो के प्रति परिणामो मे जो गृद्धता है, ईर्ष्या, विषाद, कुवेद- यह सब पशु के समान है। इस प्रकार पंचेन्द्रियो की गृद्धता, ईर्ष्या, विषाद आदि जो कुवेद है, वह कृष्ण लेश्या कहलाती है।

ने.: जैसे बाहर बहुत शोरगुल सुनायी पडता है, वैसे ही अन्दर भी कषायो का शोरगुल सुनायी पडता है। इस शोरगुल को शान्त करने का माध्यम ध्यान ही है न ?

वि.: हाँ।

ने.: लेश्याओ का जो वर्गीकरण है वह क्या भीतरी शोरगुल का वर्गीकरण है ?

वि.: और क्या, शोरगुल का वर्गीकरण ही है। शोरगुल मे जो कृष्ण लेश्याप्रधान व्यक्ति होता है, वह सदैव आर्त्त-रौद्र ध्यान-परायण होता है, उसमे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मत्सर, धर्मरहितता होती है, यानी वह धर्म को कानो से सुनता ही नही है, उसके क्रूर परिणाम होते है और उसे सात्त्विक बात कभी रुचती नहीं है।

ने.: ऐसे लोगो की संख्या समाज में बहुत है।

वि.: बहुत बढ़ गयी है।

ने.: इन व्यक्तियो को धर्म की ओर कैसे लाया जाए ?

वि.: व्यक्ति अपने परिणामो को सुधार सकता है। दूसरो के परिणामो को कौन सुधार सकता है ? हाँ, प्रेरणा दे सकता है, मार्ग बता सकता है। हर व्यक्ति का आत्मा स्वय-का-स्वय-गुरु है, क्योकि जब तक उसका मन पलटे नही और वह स्वय पलटाने का प्रयत्न नहीं करे, तब तक दूसरे का उपदेश कभी लागू नही होगा।

ने.: स्वय-का-गुरु-स्वय। दूसरा कोई कुछ नही कर सकता, मात्र प्रेरणा दे सकता है।

वि.: अपने को गुरु और दूसरे को शिष्य कहना अध्यात्मवाद ने अधम लक्षण माना है।

ने.: उपचार से तो गुरु-शिष्य है।

वि.: उपचार से गुरु कहना चाहिये। हर कार्य के लिए गुरु चाहिये, इसमे तो कोई सशय नही है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपना मन-परिणमन करने के लिए स्वय को गुरु बनना चाहिये।

ने.: यह जो कृष्ण लेश्या है, यह आर्त्त-रौद्र-प्रधान है ?

वि.: हाँ। कृष्ण लेश्या वाला अनन्तानुबन्धी क्रोध करता है। उसके शरीर से काले रंग की गैस निकलती है, जिसका आसपास के वातावरण पर बुरा प्रभाव पडता है। जैसे तेजो लेश्या फेकने के बाद आग लगती है, इसी तरह से कृष्ण लेश्या वाले की नाक से अनन्तानुबन्धी क्रोध के काले रंग की गैस निकलती है।

ने.: तरगे निकलती है ?

वि.: हाँ। वे बुरा प्रभाव डालती है। नील लेश्या-प्रधान व्यक्ति सदैव आलस्यप्रधान रहेगा।

ने.: प्रमादी ?

वि.: हाँ। बुद्धि मे अत्यन्त मन्द, सुस्त, कृपण, और कामासक्त वह होता है। ऐसा व्यक्ति आर्त्त-रौद्र ध्यान कर सकता है, धर्मध्यान नहीं कर सकता। वह दंभी होता है और व्यसन आदि में एकदम फँस जाता है।

ने.: कृष्ण लेश्या से बेहतर होता है ?

वि.. हाँ, दोनो लेकिन एक तरह से भाई-भाई हैं।

वि.: लेकिन दो बुराइयो मे-से यह कम बुराई वाला होता है।

वि.: हाँ। परिणामो के कारण कुछ अन्तर रहता है। नील लेश्या मे नीले रग की गैस निकलती है। कृष्ण के बाद नीला रग ही निकलता है। वह अपने अधम उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रपच करता रहता है।

ने.: लेश्याओ से सूचना भी मिलती है कि कौन आदमी कैसा है ?

वि.: हाँ। लेश्याओ से व्यक्ति के गुण-धर्म की झलक दिखने पर वह पकड मे आ जाता है।

ने.: जिसकी ध्यानावस्था सूक्ष्म होगी वही यह समझ सकेगा।

वि.: हाँ। कापोत लेश्या-प्रधान व्यक्ति सदैव शोकाकुल रहता है। वह मानसिक दृष्टि से त्रस्त रहता है। वह परनिन्दा और आत्मस्तुति करता है। एक दूसरे को लडा-भिडा देना उसकी प्रवृत्ति होती है। नारदमुनि की कापोत लेश्या होती है। तभी वह लड़ाई करवा सकता है अन्यथा नही।

ने.: पीत चौथी लेश्या है ?

वि.: हाँ। इस लेश्या का रग पीला होता है। पीत लेश्या-युक्त जो व्यक्ति होता है वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है। वह प्रबुद्ध होता है। जागरूक रहता है। वह करुणावान् और विवेकी होता है। वह प्रसन्न भी रहता है।

ने.· पाँचवी पद्‌म लेश्या है ?

वि.: हाँ। पद्‌म लेश्या-प्रधान व्यक्ति दयावान् होता है। वह सदैव दान-परायण होता है। वह देव-अर्चन-पूजन करने वाला पवित्र और नित्य आनन्द मग्न रहता है। परोपकार आदि कार्य वह सेवाभाव से करता है।

ने.: पद्‌म का अर्थ है कमल। वैसा रंग होने के साथ उसमे कमल-जैसी निर्लिप्तता होती होगी ?

वि.: हाँ। उसमे निर्लिप्तता आ जाती है। आपने सही बात कही।

ने.· छठी शुक्ल लेश्या है ?

वि.: हाँ। शुक्ल लेश्या वाला शुभ होता है। वह राग-द्वेष से मुक्त होता है। वह परमात्मभावसम्पन्न होता है और हमेशा परमात्मा मे अपने मन को बनाये रखता है।

ने. यह शुक्ल लेश्या तो दुर्लभ है।

वि.. वह आत्मनिष्ठ होता है। उसको विश्वास होता है कि मेरा कल्याण स्वय मेरे आत्मा से ही होने वाला है दूसरे से नही, इसलिए वह अपने आत्मा मे अनुभूति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

प्रथम से लेकर चतुर्थ गुणस्थान-पर्यन्त षट् लेश्याओ का सद्भाव शास्त्रो मे लिखा है, अर्थात् पहले गुणस्थान से ले कर चौथे गुणस्थान तक प्रधान भाव से छह लेश्याएँ होती है।

ने.: कभी एक प्रधान हो जाती है, तो कभी दूसरी प्रधान हो जाती है।

वि.: प्रधानता-गौणता होती है।

ने.: पहले हमने पात्रता पर विचार किया था कि ध्यान का पात्र कौन हो सकता है ? लेश्याओ मे लगता है, उपादान भी होता है।

वि.. पात्र व्यक्ति होगा, सम्यग्दृष्टि, शुक्ल लेश्या वाला। पद्म लेश्या वाला भी पात्र होगा, क्योकि वह पूजा-अर्चा, दान-दया-परायण होता है। उसमे ऐसे उपादान है।

ने.: क्या पीत लेश्या वाला ध्यान का पात्र नही हो सकता ?

वि.. पीत लेश्या वाले मे मन्द कपाय तो होते है, परन्तु वह धार्मिक हो सकता है, धर्मात्मा नही हो सकता है। वह ऊपरी-ऊपरी धार्मिक क्रियाएँ करते रहता है।

ने.· धार्मिक और धर्मात्मा मे आप क्या अन्तर करते है ?

वि.: धार्मिक बाह्य धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकाण्ड करने वाला होता है। वह दान आदि देता है, कहीं लडाई-सघर्ष होता है, तो बीच-बचाव के लिए पहुँच जाता है। धर्मात्मा आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी रुचि आत्मचिन्तन मे ही होती है।

ने.: पद्म और शुक्ल लेश्या वाले यदि ध्यान की ओर जाएँ, तो सफल हो सकते है ?

वि.· हाँ। वे सम्यग्दृष्टि होते है, इसलिए सफल हो सकते है।

ने.: लेश्याओ के प्रकरण के साथ एक प्रकरण और जुड जाता है भेद-विज्ञान का।

वि.· जो सिद्ध परमात्मा है, जिन्हे अयोगी कहते है, वे लेश्या-रहित होते है। वे तो वीतराग हैं।

ने.: भेद-विज्ञान मे शरीर का पृथक्ता-भिन्नता का वोध अथवा प्रतीति होती है।

वि.: भेद-विज्ञान की एक बात मै बताता हूँ। हमारे यहाँ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हुए है, 'द्रव्यसंग्रह' के कर्त्ता (प्रणेता) उनसे पूछा गया कि आप गुणानुवाद क्यो करते है ? उन्होंने मगलाचरण मे कहा कि हम अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण यह समझते आये कि शरीर और

आत्मा एक है, लेकिन भगवान् ने उपदेश मे कहा कि आत्मा और अनात्मा, शरीर और आत्मा मे भिन्नता/पृथक्ता है, तो जो भेद-विज्ञान जिनेन्द्र भगवान् ने हमे दर्शाया है, इस कृतज्ञता के कारण हम उन्हे नमस्कार करते है।

ने.: एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने इस मंगलाचरण मे भगवान् आदिनाथ की वन्दना की है, क्योकि वे योग के आदि प्रवर्तक थे।

वि.: वाह, बहुत ठीक।

तो आप नमस्कार क्यो कर रहे है, इसलिए कि साधु पुरुष कभी भी किये गये उपकार को भूलता नही है। भगवान् ने क्या उपकार किया ? मैंने तो आत्मा और शरीर को एक समझा था, परन्तु भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम हमे यह बताया कि आत्मा और अनात्मा - दोनो दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जो अनात्मा पदार्थ शरीर आदि है, वह तो जड है और जो आत्मा है, वह आध्यात्मिक चैतन्य से पूर्ण किन्तु भौतिकता से परे है। चेतन आत्मा और भौतिकता मे बहुत अन्तर है। अन्त मे प्रिय सब के लिए यदि कोई है, तो अपना आत्मा ही है।

ने.: खतरा उपस्थित होने पर दुर्लभ वस्तु का बोध होता है।

वि.: दुर्लभता का ही बोध नही होता, भेद-विज्ञान भी हो जाता है। यह अलग है, मै अलग हूँ, फिर भी मैंने दोनो को एक समझा था। इसकी संगति के कारण मेरा प्राण भी जा सकता है। इसी प्रकार संसार-चक्र मे मै फँसा हुआ हूँ,

भगवान् ने भेद-विज्ञान करवाया कि यह जीव अलग है। उस ज्ञान को कराने का जो उपकार है, मोक्ष का जो मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया, उनके उस ऋण के लिए हम नमस्कार करके उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, उनके उपकार का स्मरण करने के लिए उन्हे नमस्कार करते है। उनके अनन्त उपकार है।

ने.: ध्यान की छैनी जब चलती है, तभी तो यह भेद-विज्ञान प्रकट होता है।

वि.: सही बात है। ध्यान की छैनी के लिए, अथवा आत्मा-अनात्मा का यथार्थ ज्ञान।

ने.: शास्त्र-वाचन की बजाय तत्त्वबोध ज़रूरी है।

वि.: तत्त्वबोध बहुत ज़रूरी है। और तत्त्व कोई भी हो सकता है। इस ससार की किसी भी चीज को देखिये, जैसे, दाल अलग, छिलका अलग यह द्वादशांग भगवान् की साक्षात् वाणी थोडे ही है। द्रव्यश्रुत कही से भी ले सकती है, किसी भी प्रकार से आप ले सकते हैं। आचार्य ने क्या लिया, सोना और सोने का पत्थर अलग है। दाल और छिलका अलग है। इस प्रकार आप जो लौकिक द्रव्यश्रुत है, उसे भेद-विज्ञान के लिए साधन-रूप मे ले सकते हैं। यह जीव चमडे के ढाँचे/शरीर मे आ फँसा है, इसलिए पहला सिद्धान्त तो यह है कि मेरा कुछ भी नही है।

ने.: यह भेद-विज्ञान का प्रथम चरण है।

वि.: हाँ। इसे आप भेद-विज्ञान का मन्त्र समझिये, मूल मानिये। मै मनुष्य भी नहीं हूँ, मै तो द्ध परमात्मा हूँ, तब उसने अपने आत्मा को परमात्मा बनाया। इस तरह बहिरंग के जितने ालम्बन है, मन उन्ही के पीछे लगा हुआ है। ध्यान तो करना चाहिये आत्मा का; ऐसा नही है कि टाई साथ रखो, तो उसी का ध्यान करो। पिच्छी-कमण्डलु का ध्यान करो, माला है तो उसी का ान करो। अरे भाई, सारे साधनो को ठीक करने के लिए लगा हुआ है, लेकिन जो साध्य है, पादेय है, उसे ठीक करने के लिए वह प्रयत्न नही कर रहा है।

ने.: इसे कहते हैं आत्मशोधन, जो ध्यान के माध्यम से ही हो सकता है। भेद-विज्ञान को भी दि ठीक तरह से समझना हो, तो ध्यान के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

वि.: बिलकुल सही बात कही आपने। इसीलिए मै मनुष्य हूँ, यह छोडना होगा। मै जैन हूँ, ह भी छोडना होगा कि मै श्रावक हूँ, अथवा मै श्रमण हूँ, मै पुरुष हूँ अथवा नारी हूँ। मै तो शुद्ध आत्मा हूँ। आत्मा न तो पुरुष है, न श्रावक है और न साधु है। आत्मा परमात्मा है। यह स्थिति आना ज़रूरी है।

ने.: अहकार छोडना पड़ेगा। शुद्धोपयोग का अलकार ग्रहण करना होगा।

वि.: रत्नाकर कवि ने कहा है, जिसे तुम अलंकृत करते हो, यह चमड़े का ढाँचा-मात्र है। यह तुम्हारे साथ जाने वाला नही है। तुमने माला आदि पहिन ली, लेकिन यह सब हेय है। एक बार भी तुम रत्नत्रयरूपी माला आत्मा को पहिना देते, तो अलंकृत हो जाते अर्थात् यदि तुम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यरूपी माला अपने आत्मा को पहिना देते, तो तुम अजर-अमर हो जाते। उपादेय और उपादान तो है एकमेव आत्मा, इसे अच्छी तरह से समझना परमावश्यक है।

ध्यानारूढ़ होकर प्रेय और श्रेय की प्रतीति / अनुभूति

डॉ. नेमीचन्द जैन : यह जो आराधना है, पूजा है, इसकी पृष्ठभूमि मे भी ध्यान है।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : यह आलम्बन है। कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे कहा है कि जो खोज है, वह आत्मा मे है, वह शास्त्रो और शब्दो मे नही होनी चाहिये।

अरहन्त भगवान् जैसा स्वरूप है निश्चय तप से आत्मा का भी वैसा स्वरूप है, अत अरहन्त के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान स्वभाव-सिद्ध है। जिस पुरुष को सौ टच सुवर्ण के समान शुद्ध आतमस्वरूप का वोध हो गया है उसका मोहकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

इसीलिए अरहन्त भगवान् का चिन्तन हमारे शास्त्रो मे बहुत बार कहा है, क्योकि यह जो आलम्बन है, वह प्रारभ मे बहुत आवश्यक है।

ने.: विना आलम्बन के कुछ हो भी नही सकता।

वि.· परन्तु आलम्बन ही हमारा सब कुछ करेगा, ऐसा भी नही है।

ने.: वह सर्वस्व नही है।

वि.: नही है। जैसे, हमे समुद्र पार करना है, तो जहाज का सहारा लेना है। किनारे पर पहुँचने पर उस जहाज की क्या ज़रूरत है ? निर्विकल्प दशा मे पहुँचने के वाद आलम्वन की कोई जरूरत नही है। गुरु से हमने ध्यान-पद्धति की शिक्षा तो ले ली, परन्तु हमे इसका विशेप ध्यान रखना है, नदी पार करने के लिए नाव का सहारा ले, परन्तु किनारे पर पहुँचने पर नाव की क्या जरूरत है ? निर्विकल्प दशा मे आलम्बन की क्या आवश्यकता है ? मात्र प्रारंभ मे उसकी ज़रूरत है।

ने.: ज्यादातर लोग जहाज तट पर आ गया है, फिर भी बैठे हुए है।

वि.: तट पर आने के बाद कोई नाव को सिर पर ले कर नही चलता है, वहीं छोड़ जाता है।

ने.: कुछ लोग सोचते है कि जमीन पर भी नाव चलायेगे।

वि.· लेकिन वह चलती नही। निर्विकल्प दशा मे जो साधन है, वे चल नहीं सकते। उन्हे जबरदस्ती छोडना ही होगा, क्योकि बिना छोडे चल नही सकता। दूसरी वात, जो भाव है, वही प्रधान है। जो धर्म है, वह आत्मा के गुणविकास का कारण है और भाव शव्द का अर्थ है आत्मरुचि।

ने.: भाव यानी आत्मरुचि।

वि.: जब आत्मरुचि वढ जाती है, तो व्यक्ति निर्विकल्प दशा मे अपने-आप पहुँच जाता है।

ने.: यानी वहुत से लोग शरीर मे आत्मभाव समझते हैं। वहाँ से हट कर जब वे शुद्ध आत्मभाव मे आ जाएँ, तो ही वे निर्विकल्प की ओर जाएँगे।

वि.: हाँ। इस तरह उन्हे आत्मा मे विश्वास होना चाहिये। जैसे पुष्प में गन्ध, तिल मे तेल, काष्ठ मे अग्नि, ईख मे गु॰, दूध मे घी विद्यमान है। यह हमे विश्वास के लिए विवेकपूर्वक देखना चाहिये। जैसे, मेहदी के पत्ते हरे है, जो व्यक्त है, परन्तु उसमे जो अव्यक्त लाल है, वह मेहदी है। इसी प्रकार हमारे शरीर मे लाल है, वह आत्मा है। आत्मा लाल है। व्यवहार मे कहते भी हैं, मेरा लाल चला गया। जैसे मेहदी मे लाल अव्यक्त रूप मे है, उसी तरह शरीर मे आत्मा है, यह चैतन्य है, वह दर्शनमय और ज्ञानमय है।

ने.: इसका अर्थ हुआ कि आत्मबोध की यात्रा अव्यक्त पर आस्था के बिना शुरू नहीं हो सकती।

वि.· नही हो सकती। भावपूजा के सबन्ध मे मराठी मे जो सुन्दर पद है, उसका भावार्थ है भावपूजा मे अपने शरीर को चैत्यालय अथवा मन्दिर समझो, भाव कर लो कि मेरा शरीर एक मन्दिर है। उसके बाद जो मेरा मन है, वह वेदी है, कमलासन है।

ने.: ध्यान भी एक तीर्थयात्रा ही है। यदि इस तीर्थयात्रा द्वारा हम किसी तीर्थ पर पहुँचे तो वह कौन-सा तीर्थ हो सकता है ?

वि.: बात यह है 'तीर्थ' शब्द का मूल अर्थ है 'पवित्र'। जिन स्थानो मे हमारे महापुरुष तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त हो गये वे सव सिद्धक्षेत्र तीर्थ है। वे द्रव्य तीर्थ है, पुद्गल तीर्थ हैं। उनसे हम प्रेरणा ले सकते है। इसी तरह से लोकाचार की शुद्धि के लिए गंगाजल को भी तीर्थ मानते है। जल भी जीवन का प्रतीक होने से पवित्र है, परन्तु यह लौकिक तीर्थ है। पारमार्थिक तीर्थ मन की परम विशुद्धि है, वह सारे तीर्थों मे बडा तीर्थ है।

ने.: तीर्थराज ?

वि.: हाँ, वह तीर्थराज है। मनरूपी तीर्थ को शुद्ध करने के लिए तीर्थयात्रा के निमित्त क्षेत्र, शास्त्र, उपदेश साधन है। मै हमेशा एक दृष्टान्त देता रहता हूँ। पानी है, वह यदि मिट्टी मे गिर जाए, तो कीचड़ तैयार हो जाती है और हाथ-पैर मे कीचड लग जाए, तो पानी से धोना पडता है। कीचड उत्पन्न होने का मूल कारण जल है और हाथ-पैर की कीचड लग जाए, तो धोने के लिए साधन जल ही है। जल के दोनो उपयोग हो सकते है। इसी तरह मन से ही पाप उत्पन्न होता है और उससे ही पाप धोया जा सकता है। जब सासारिक बातो मे मन भटकता फिरता है, तो कीचड लगा लेता है, और जब सांसारिक बातो (प्रपचो) से कुछ मुक्त हो कर जिन मन्दिर मे, स्वाध्याय मे, जाप मे, अथवा तीर्थयात्रा मे वह लगता है, तो धुल जाता है, शुद्ध हो जाता है। वास्तव मे गृहस्थ का जीवन जल-स्नान-जैसी स्थिति है।

ने.: यानी मन जल की तरह है और उसका उपयोग कर ले, तो कीचड बन जाएगा, यदि उसे कीचड़ साफ करने मे लगा ले, तो उससे कीचड साफ हो जाएगा।

वि.: बिलकुल सही बात है।

ने.: इस तरह आप तीर्थ की बात कह रहे थे कि सब से बडा तीर्थ मनोविशुद्धि है।

वि.: सब-से-बडा तीर्थ भावतीर्थ तो मन ही है। सारे तीर्थों की उत्पत्ति का जो स्थान है, वह भाव ही है, इसलिए भावतीर्थ मे मग्न होने के लिए द्रव्यतीर्थ साधन है, लेकिन हम द्रव्यतीर्थों को तो बहुत महत्त्व देते रहे और भावतीर्थों को हम गौण करते रहे, इसलिए अब ज़रूरत है कि द्रव्यतीर्थ तो गौण रहे और भावतीर्थ अब मुख्य हो। अब हमे अपने भाव पवित्र करने के लिए प्रयत्नशील रहना है।

ने.: मनोविशुद्धि के लिए।

वि.: हाँ। भाव-रहित पढना, जाप करना, पूजा करना, दान देना आदि जो भी भाव-रहित है, वह सब निरर्थक/व्यर्थ है। भाव-सहित थोडी-सी भी जो क्रियाएँ है, वे फलदायी हैं, इसीलिए भाव को प्रधानता देना आवश्यक है, क्योकि भाव से ही सद्गुणो का विकास हो सकता है।

ने.: और फिर मन की विशुद्धि से ही ध्यान हो सकेगा।

वि.: हाँ, निश्चित रूप से होगा।

ने.: एकाग्रता के लिए मन की विशुद्धि बहुत आवश्यक है और यदि हम इस मन-विशुद्धि के लक्ष्य पर पहुँच गये, तो ध्यान के माध्यम से हमारा जो मोक्ष अथवा मुक्ति का उद्देश्य है, वह सफल/सार्थक हो सकता है।

वि.: हाँ। सफल हो कर रहेगा।

ने.: मै सोचता हूँ, तीर्थयात्रा के पीछे कोई रहस्य तो जरूर है।

वि.: हर देश मे राजा आदि चौकसी रखते थे, लेकिन हमारे ऋषि-मुनियो ने पहाड़ों और नदियो को तीर्थों का रूप देकर धार्मिकता से जोड दिया और इस तरह परम्परा से हर व्यक्ति चौकसी रखने लगा, इससे देश सुरक्षित हो गया। देश को सुरक्षित रखना इसलिए जरूरी है कि यदि देश की जमीन गुलाम हो जाए, तो यहाँ की सारी वस्तुएँ जिनमे हमारे तीर्थ भी है, गुलाम हो जाएँगी। उन्होंने स्वतन्त्रता और धार्मिकता का सुमेल स्थापित किया, लेकिन जब यह चौकसी और निरीक्षण धीरे-धीरे मन्द होता गया, तो देश परतन्त्र हो गया।

ने.: इसीलिए देशाटन-तीर्थाटन बहुत ज़रूरी है।

वि.: तीर्थाटन देशाटन है। उससे दृष्टिकोण विशाल होता है, विविधता मे एकता के दर्शन भी होते है। लौकिक और पारमार्थिक -दोनो तीर्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक के साथ आध्यात्मिक रूप भी दे सकते है।

ने.: हर व्यक्ति के लिए ज़रूरी है कि वह देश को जाने। यदि हम अपने शरीर को भी देश मान ले, उसके अवयवो की सही और सम्यक् जानकारी रखे, तो ध्यान पर जा सकते है।

वि.· इसलिए हमारे यहाँ द्वादश अनुप्रेक्षाओ की चर्चा की गयी है, इनसे सारे ससार की हेयता और उपादेयता का ज्ञान हो जाता है।

ने.· अनुप्रेक्षा से ?

वि.. हाँ। बार-बार चिन्तवन करने से कि तीन लोक मे ऐसा कोई स्थान नही जिसमे जीव जन्मा-मरा नही है, ऐसा कोई वस्तु नही, जिसका सेवन नही किया, ऐसा कोई काल नहीं जिसमे जन्मा-मरा नही है, ऐसा कोई भाव नही, जिसको भाया न हो- अच्छा भी, बुरा भी। शरीर तो नाशवान है, चूँकि इससे काम लेना है, इसलिए थोड़ा-सा भोजन इसे देना है। आत्मा ही पवित्र है। श्रेष्ठ है। भोजन आदि भी उसकी रक्षा के लिए करना है। शरीर साधन है, आत्मा ही साध्य है। मनुष्य बुद्धिजीवी है, वह तत्त्वज्ञान से जीवित है, यदि वह केवल अन्न से जीवित रहता, तो पशु-पक्षी से भिन्न नहीं होता। अन्न तो एक साधन है, माध्यम है, गौण है, प्रमुखता तो हमे आत्मा को ही देनी चाहिये।

ने.: ज्ञानी तो दोनो को सन्तुलित खुराक देता है। अज्ञानी केवल शरीर को ही खुराक देता है। उसे शरीर का ही ध्यान रहता है।

वि.: ध्यान तो ससार के सारे लोग करते है। मनुष्य का शरीर बहुत ही मलिन है। उसे जितना भी पालो-पोसो, सभालो-सँवारो, नश्वर तो वह है, फिर भी मानव-शरीर की रचना इस प्रकार की है कि वह ध्यान के लिए उत्तम और सार्थक साधन है। हम अपने शरीर की क्षणभंगुरता की प्रतीति कर सकते है और आत्मा की शाश्वतता की ओर अग्रसर हो सकते है।

ने.: यह सब तो ध्यान के माध्यम से ही सभव है। हम अपने प्रेय और श्रेय की स्पष्ट प्रतीति और अनुभूति ध्यानारूढ होकर कर सकते है। धर्मध्यान से ही हम आत्मोपलब्ध हो सकते है।

स्वाध्याय और ध्यान मृत्यु को सुखद / मंगलमय बनाने के साधन

डॉ. नेमीचन्द जैन . आप अपने चित्त की हथेली पर ध्यान का दीपक एकाग्रता से बरावर अकम्प बनाये रखते हैं, यह, ऐसा एकाग्रता से ही सभव है।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द . हाँ। साधु को ध्यान करना है, तो उसे अतीत का शोक किसी प्रकार से कभी भी नही करना चाहिये। ध्यान के समय अपना मान हो या अपमान, उसका विस्मरण होना चाहिये और अनावश्यक बातो पर विशेष रूप से जल्प भी नही करना चाहिये। उसमे किसी तरह के विकल्प नही आने चाहिये। उसे पूर्ण सतोष-वृत्ति रखना चाहिये। यदि ये तीनो पथ्य पाले जाएँ, तो ध्यान मे एकाग्रता सहज ही आयेगी। अतीत का शोक होगा, तो हठात् उसे धक्का देना होगा और अनावश्यक बातो पर ब्रेक लगाना होगा यानी अपने मन पर नियन्त्रण करना होगा और वर्तमान मे सतोष रखने के लिए प्रसन्नता रखना ज़रूरी होगा।

ने.: उल्लास होना चाहिये ?

वि.: उल्लास रखना, प्रसन्नता रखना आदि बातो से शारीरिक ऊर्जा बढती है। आत्मा की कान्ति भी वढ जाती है।

ने.. यानी अतीत को बिलकुल विस्मृत कर देना होगा ?

वि.. हाँ।

ने : और भविष्य की कल्पना भी नही करना है ?

वि.: हाँ।

ने.· वर्तमान को जितना भी निर्मल और अविचल वनाया जा सके, उसमे ठहरने का प्रयत्न करना चाहिये।

वि : हाँ। दूसरी बात, ध्यान के लिए आत्मा का यथार्थ रूप से जानना जरूरी है।

ने.: वस्तुस्वरूप का ?

वि.: उसके वस्तुस्वरूप को जानना बहुत जरूरी है। जल का स्वभाव अधोगमन है, शीत है, दीपक है, अग्नि है, उसका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। स्वभाव के विपरीत जल का कभी ऊर्ध्वगम नही होगा और अग्नि का कभी अधोगमन नही होगा। अनादि से उनका यह अपना स्वभाव है। इस तरह जीव का भी स्वभाव ज्ञानचेतना है, ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग है । उसे ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग मे संकल्प-विकल्प को कम करते रहना और उसके स्वभाव को जानना है। इस तर साधक के लिए शुद्ध आत्मा को जानना जरूरी है।

ने.: शुद्ध आत्मा को जानने के साधनरूप नय के विषय मे प्रारंभ मे बताइये।

वि.: हमारे यहाँ तीन नय मान गये हैं : १. व्यवहार नय, २ अशुद्ध निश्चय नय, ३ शु निश्चय नय। व्यवहार मे आत्मा कर्मों का बन्ध कर लेता है, वह कर्मों को करता है। जैसे, घी क कटोरी है, काहे से जल गयी ? घी से जल गयी। अरे, घी जला होता, तो पीते कैसे ? वह घी उसी कटोरी मे है, अग्नि ने जला दिया। इस तरह जो भाव कर्म है, कषाय आदि से अशान्त होक बन्ध कर रहे है, इसे लेश्या कहा। यह आत्मा और कर्म के संयोग से होती है। जैसे हल्दी अ चूना मिलाने से लाल रंग होता है या बनता है। लाल रग किसका है ? हल्दी का है या चू का है ? वह तो दोनो का समिश्रण है। लडका किसका है, माँ का है या बाप का ? वह तो दोनो क संमिश्रण है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और आत्मा - इन तीनो के परस्पर निमित्त-नैमिति सबन्ध जो है, उनसे कषाय उत्पन्न हो जाती है। सर्वथा आत्मा से नही, सर्वथा कर्म से नह इसलिए कर्म और आत्मा-दोनो के सहयोग से क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होते है। इसे भी ठी तरह से जान लेना जरूरी है।

ने.· आँखे बन्द कर ले, तो अन्धेरा होता है। यदि ध्यान करते है, तो अन्दर उजाला होगा ही

वि.: हाँ। आपने अच्छी बात कही।

ने.. इस तरह का अध्ययन/स्वाध्याय होता है, तो वह ध्यान मे प्रकाश उत्पन्न कर देता है

वि.: सही बात है।

ने.: वह शान्तरस मे स्थायी हो सकता है।

वि.· यद्यपि जैनाचार्यों ने वीररस-प्रधान भी कहा है, आप वीर हैं। बहिरग शत्रु को जीत वाले अपने को वीर कहते है। आपने कर्मशत्रु को अन्दर से उखाड कर फेक दिया, तो आप वीरर वाले है, वे वीररस को आत्मा पर लाये।

ने.: आत्मा को कर्ममुक्त करने के लिए, अतिवीर भी तो कहा। वे वीरता को अतिक्रान कर गये।

वि.: बहुत अच्छा कहा आपने।

ने.· वह शान्तरस हममे वैराग्य उत्पन्न करता है। यह ध्यान के लिए बहुत आवश्यक है। ध्यान करते-करते व्यक्ति शान्तरस मे अवगाहन करने लगता है, ऐसा मानना चाहिये।

वि.: इसलिए 'स्व-समय' को आत्मदीक्षा कहा है अर्थात् आत्मा स्वयदीक्षा यानी ज्ञान की दीक्षा है और केवलज्ञान-प्राप्ति के लिए साधना है - ध्यान। दीक्षा लेते समय ज्ञान ही दीक्षा है।

ने.: ज्ञान-दीक्षा होनी चाहिये, देह-दीक्षा तो होती नही।

वि.: ज्ञान-दीक्षा ही ध्यान-दीक्षा है। यह ध्यान-दीक्षा केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए है, सलिए हम जो क्रियाकाण्ड आदि करते है, वे तो एक ही सिक्के के दो पहलू है अन्तरग तपस्या और बहिरग तपस्या।

ने.: ज्ञान के कारण कोई विचलन नहीं हो सकता।

वि.. हर समय ज्ञान बनाये रखना जरूरी है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा भरतखड मे यह चमकाल है, फिर भी यहाँ हम ध्यान कर सकते है और ध्यान मे सभी लोग स्थिर हो सकते है। मै सा नहीं मानता कि पंचमकाल मे ध्यान नही होता। एक जरूरी बात और ध्यान मे रखना है कि सौ यक्ति परीक्षा मे बैठे, तो प्रथम श्रेणी मे एक-दो ही उत्तीर्ण होगे। इसी तरह ध्यान मे भी है। सौ यक्ति ध्यान कर रहे है, उनमे एक अपने मन-वचन-काय को एकाग्र करके ध्यान कर रहा है, स्थिर ो रहा है। कोई क्षण-क्षण मे अपनी स्थिति बदलता है। ध्यान मे असख्य भाव या परिणाम हो सकते है।

ने.: सबकी अलग-अलग पात्रता है, एक-सी पात्रता ध्यान की सबकी कैसे हो सकती है ?

वि.· आपने अच्छी बात कही। जैसे कोई दुकान मे बैठता है, वह एक घण्टे में हजारो कमा लेता है, और कोई सुबह से शाम तक बैठने पर भी दस कमाता है। कोई कमाता ही नही है, कोई नुकसान भी उठा लेता है। इसी तरह यह जरूरी नही कि ध्यान मे लाभ हो ही, किन्तु प्रयत्न अवश्य करना है।

ने.: यदि ध्यान आर्त्त या रौद्र मे चला गया, तो घाटा हो जाएगा।

वि.: इसलिए घाटे के लिए भी तैयार रहना है। घोडे पर बैठूँगा, तो गिर जाऊँगा, तो क्या घोडे पर बैठेगा ही नहीं ? ध्यान पर बैठूँगा, तो जमेगा नहीं, इसलिए क्या वह ध्यान पर बैठेगा ही नही ?

ने.. असफलताओ मे-से सफलता उत्पन्न हो सकती है।

वि.: जीवन तो आदिकाल से असफल ही रहा है। सफलता के लिए हमे प्रयत्न करना है।

ने.: 'असफल' शब्द मे 'सफल' शब्द तो है ही। 'अ' को हटाना है।

वि.: ध्यान के द्वारा आत्मोपलब्धि ही श्रेयस्कर है।

ने.: महाराजश्री, आपके सान्निध्य मे स्वाध्याय ही हो रहा है। मेरा केन्द्र ध्यान पर ही रहा है। विविध विषयो पर बातचीत हुई, अब कृपया आप नवनीत-रूप मे कहिये।

वि.: यह ध्यान मे रखना जरूरी है, जब हमे यह प्रतीति हो जाए कि अब हम बच नहीं सकते-उपसर्ग, रोग आदि से तो हाय-हाय करने के बजाय शान्ति से मरण के लिए सिहवृत्ति-शेर के जैसे प्रतिकार करते रहना है।

ने.: हम सिहवृत्ति से बैठ जाएँ।

वि. सिहवृत्ति होनी चाहिये। प्रतिकार के लिए मना नही किया है वह उपचार के लिए करना है; लेकिन जब प्रतिकार सभव नही हो, वहाँ 'प्राण-प्रयाण वेला प्रतिक्रिया · ' प्राण जा रहा है, तब क्या प्रतिक्रिया करेगे ? अब तो प्रतिक्रिया यही करनी है कि शरीर आत्मा को छोड़ने से पहले आत्मा अपने शरीर को शान्ति से, सतोष से, अपने हाथ से छोड दे।

ने.: शरीर से उतरे, इससे पूर्व वह स्वय उसे उतार कर रख दे।

वि. हाँ। मरण को महोत्सव क्यो नही बना सकते ? मृत्यु पर परमात्मा के ध्यान के साथ जोड मिलाना है और शरीर छोड देना है, इस तरह मृत्यु अनन्त आनन्द का कारणीभूत है। ऐसे ही जो भव्यजीव है, वे ससार मे निकट भविष्य मे मुक्त हो सकते है, दो-तीन भव, ज्यादा-से-ज्यादा सात भव। परमात्मा के ध्यान के साथ जिसने शरीर को छोडा, उसकी मृत्यु मगलमय है। शूरवीर को ज्ञात है कि मृत्यु आयेगी, इसलिए वह कभी मृत्यु से डरता नही, भयभीत नही होता, वह यथार्थ ज्ञानी जो है, वह कभी दु खी भी नही होता।

छोटा-सा दृष्टान्त देता हूँ। एक बच्चा था। माँ-बाप मेले मे गये थे। एक मिट्टी का खिलौना बहुत सुन्दर था। बच्चे के चाहने पर उसे खरीद लिया। वह बच्चा उस खिलौने के साथ खूब खेलता था। एक बार सीढी से उतरते समय उसके हाथ से वह खिलौना गिर गया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। वह फूट-फूट कर रोने लगा। माँ-बाप रो नही रहे थे, वे प्रसन्न थे और मुस्करा रहे थे। वे इसलिए नही रो रहे थे, क्योकि वे जानते थे कि खिलौना मिट्टी का था, वह स्वभावतया टूटने वाला ही था। बालक को यह तो मालूम है कि वह मिट्टी का है, लेकिन राग अथवा मोहवश वह जानता नही था कि वह टूट भी सकता है।

ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि होगा, ज्ञानी होगा, वह कहेगा या समझेगा कि मिट्टी जैसा यह शरीर है, इसे हम शाश्वत या एक-सा बनाये नही रख सकते है। भौतिकवादी का सिद्धान्त है कि शरीर को अन्त तक बचाओ, पर अध्यात्मवादी का निश्चिय मत है कि यदि शरीर जाना चाहता है, तो प्रसन्नतापूर्वक उसकी बिदाई कर दो।

ने.. शरीर का सम्यक् या सम्पूर्ण उपयोग करने के बाद उसे छोडने मे क्या आपत्ति है ?

वि. मकान पुराना जर्जर हो गया, उसकी लकड़ी, पत्थर आदि गिरने लगे, तो उसे गिरने से पहले ही छोड़ देना बुद्धिमानो का काम है, अध्यात्मवादियो का कर्त्तव्य है।

ने.: जब मकान खाली करने का समय आ गया· ·।

वि.: फिर हम कहे कि ठहरेगे, तो दु ख उठाना पड़ेगा।

ने.: ज्ञानी पता लगा लेता है या उसे अपनी शारीरिक स्थिति का वास्तविक पता लग जाता है।

वि.. हमारे यहाँ शास्त्रो मे कहा है, जो अध्यात्मवादी होगा वह व्यक्ति बारह वर्ष पहले पता लगा ले कि अब मृत्यु आने वाली है, तब उसे निरीह वृत्ति से, विरक्तता से, और लौकिक सब वातो से सपर्क कम करके अध्यात्म मे लीन होने की कोशिश करना चाहिये। बुद्धि या शक्ति की न्यूनता के कारण यदि बारह साल पहले नही जान सकते, तो छह साल, छह साल नही, तो तीन साल, एक साल, छह महीने, एक महीना, पन्द्रह दिन, सप्ताह, सप्ताह भी नही तो एक दिन, एक दिन भी नहीं तो ४० मिनट, या फिर अन्तमुर्हूर्त मे भी जान कर अपने आत्मा मे स्थिर हो कर शरीर को छोड सकता है और परमात्मा के ध्यान मे मग्न हो सकता है। मै सभी पापो से मुक्त हो जाता हूँ, सवसे मेरा कोई सबन्ध नही है, खानपान से मै व्रत लेता हूँ, दुनिया मे मेरी कोई इच्छा नही है।

'योगवाशिष्ट' मे आया है कि राम से जब पूछा गया कि अब आपकी क्या इच्छा है ? उन्होंने उत्तर मे कहा, मैंने दुनिया की कोई इच्छा नही रखी। जिस प्रकार सभी इक्ष्वाकुवंशी लोगो ने आत्मा मे शान्ति स्थापित कर ली, उसी प्रकार मै भी शान्ति स्थापित करना चाहता हूँ। महाकवि कालिदास ने भी लिखा है, बाल्यावस्था मे सारी झझटो को छोडो और विद्याध्ययन मे प्रवीण वनो। वे माता-पिता के ऋण से थोड़ा उऋण होने के लिए गृहस्थ रहते है। इक्ष्वाकुवशियो की यह परिपाटी रही, आदिनाथ भगवान् कुछ काल गृहस्थ रहे बाल सफेद होने लगे, बुढापा पकडे इससे पहले ही आप मुनि बन जाइये, विरक्त हो जाइये और मृत्यु निकट आ जाए, तो मन-वचन-काय की एकाग्रता करके शरीर को छोड दीजिये। सम्यग्दृष्टि को इसका पूर्वाभास हो जाता है।

ने.: उसे पहले से ही सकेत मिल जाते है। मृत्यु के आसार नजर आने लगते है। वातावरण भी सूचित करता है। शरीर से भी प्रकट होने लगता है। ऐसे क्षण का रचनात्मक उपयोग करना चाहिये।

वि.· मृत्यु के चिह्न भी शास्त्रो मे वताये गये है। 'मृत्युसचय' नामक ग्रन्थ मे लक्षण वताते हुए लिखा है, जैसे स्नान करने के बाद धोती से तत्काल पानी उड जाता है, अपनी जो प्रतिच्छाया पडती है, उसका देखने के बाद फिर दिखायी नहीं देना, इत्यादि ऐसे मृत्यु को पहले से जानने के लिए अनेक साधन या चिह्न वताये है।

ने:: कुछ लोगो ने देख रखा है कि मृत्यु के पूर्व ऐसा होता है।

वि.. इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र के अनुसार आयु की मर्यादा होती है। जन्म-कुण्डली से भी पता लग सकता है। उससे भी थोड़ा जान कर वह मृत्यु से सजग रह सकता है। जितना भी उसे काम करना है, वह कर ले।

ने.: लेकिन यह स्वाध्याय तथा ध्यान के बिना हो नहीं सकता, और न ही उसके बिना मृत्यु को सुखद/मगलमय बनाया जा सकता।

वि.· अमावस्या को सूर्यग्रहण लगेगा, पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण लगेगा - यह काल निश्चित है। जैसे यह निश्चित है, वैसे ही अपने आयुकर्म के अनुसार मृत्यु निश्चित है ही।

ने.: इस बातचीत के समापन मे कृपया कुछ कहिये।

वि.. बात यह है, जैन समाज मे ध्यान की पद्धति की परिपाटी तो है ही, इसमे सशय नही। व्रती लोग सामायिक करते है, परन्तु सामान्य गृहस्थ है, श्रावक है, उनमे यह वृत्ति कम है। ध्यान की ओर ध्यान आकृष्ट हो, यही समापन मे कहना है।

ध्यान : समत्व की ओर प्रशस्त पग

डॉ. नेमीचन्द जैन : महाराजश्री, आप वयोवृद्ध (९२ वर्षीय) ज्ञान-अनुभववृद्ध है, हम सब के लिए प्रणम्य है। आप से 'ध्यान' के विषय मे चर्चा करना चाहता हूँ।

मुनि समन्तभद्र : आत्मा का यथावत् स्वरूप तो कोई बता नही सकता । वह वचनातीत है, वाणी से परे है।

ने.. हम तो यह मानते है कि आपने आत्मोपलब्धि की दिशा मे तीन-चौथाई साधना कर ली है।

स.: आपके मानने से क्या ऐसा हो जाता है ?

ने.: यह निश्चित है कि आप हम लोगो से श्रेष्ठ है।

स.: कहने को श्रेष्ठ है। वास्तविक श्रेष्ठ है, यह तो महाराज को स्वय भी पता नही है, न महाराज मानते ही है। आप मानते हो, तो भले मानिये।

ने.: आप ध्यान तो करते ही है ?

स.: हाँ, लेकिन उसे ध्यान की संज्ञा नही दे सकते।

ने.: ऐसा क्यो ?

स.· यह इसलिए कि शास्त्रो मे बताया है, उस प्रकार का ध्यान नही होता।

ने.: शास्त्रो मे क्या बताया है ?

स.: शास्त्रो मे जिस प्रकार बताया है। उस प्रकार की चित्त की एकाग्रता हमारी नहीं होती, इसलिए हम कैसे कहे कि हम ध्यान करते है ?

ने.: ध्यान के लिए शास्त्रो मे क्या बताया है ?

स.: शास्त्रो मे जो कहा है, वह तो आप जानते है।

ने.: मै नही जानता।

स.: तो फिर महाराज भी नही जानते।

ने.: ध्यान मे या सामायिक मे तो आप बैठते ही है ?

स.: बैठने से काम होता है क्या ? बैठते तो है। केवल जाप करते है। भगवान् के नाम का स्मरण करते है। परमात्मा का जो स्वरूप बताया है, वही मै हूँ। बाकी जो जीव है, सब परमात्मा ही हैं। मै भी परमात्मा हूँ और जीव-मात्र भी परमात्मा ही है। इस प्रकार का ही ध्यान करते है।

'मै सिद्ध परमात्मा, मै ही आतमराम। मै ही ज्ञाता-ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम। मै ही हूँ अनन्त सुख, सुखमय मूल स्वभाव। अविनाशी आनन्दमय, सो हूँ त्रिभुवन राव। शुद्ध हमारो रूप है, शोभित सिद्ध समान। गुण अनन्त कर, चिदानन्द भगवान। जैसो शिव खेत सो बसे, वैसो या तन माहि। निहचे रूप को देखिये, फिर कुछ फेर नाहि।'

इस प्रकार का मनन करके या ध्यान करके उसी का बार-बार चिन्तवन करते रहते है।

ने.: आपको चित्त की चचलता तो रहती नही है। वह शान्त हो जाती है।

स. चित्त की चचलता इसके कारण जो होती है, सो होती है। चित्त स्थिर होना चाहिये, और स्थिर होने के लिए इष्ट-द्वेष की प्रवृत्ति नही होती। इसी मे हम समाधान मानते है। इसे आप ध्यान कहिये , या जो कुछ आपको कहना हो, कहिये।

ने.: महाराज, योग और ध्यान मे कोई अन्तर है ?

स. योग, समाधि, ध्यान-आप जो भी कहिये, सब एक है। इन सारे शब्दो का अर्थ समान है।

ने.: योग और ध्यान मे हम कोई अन्तर नही करे ?

स.: इनमे शब्द - भेद है, अर्थ - भेद नही है।

ने.: जब आप सामायिक करते हैं, तब कौन-से आसन मे बैठते है ?

स.: हमे कोई आसन सिद्ध नही हुआ।

ने.: तो क्या ऐसे ही बैठते है ?

स.: मेरुदण्ड मे दर्द है, इसलिए एक आसन मे बहुत समय तक नहीं बैठ सकते। सुखासन या पद्मासन से पौन घण्टे बैठते है, इससे ज्यादा नही।

ने.: पहले इससे ज्यादा बैठते होगे ?

स.: पहले ज्यादा बैठते होगे, यह ठीक है, लेकिन अभी तो नही। पीछे का क्या करना है। आप वर्तमान की बात पूछ रहे है, तो हम आपको वर्तमान की बात कर रहे है।

ने.: यदि हमे ध्यान करना हो, तो आप कौन-से आसन की राय/सलाह देगे ?

स.: सुखासन।

ने.: सुखासन यानी अर्द्धपद्मासन। जैसा हमारी प्रतिमाओ का है।

स.: हाँ।

ने.: सुखासन पर बैठने से कोई लाभ है क्या ?

स.. इस आसन पर बैठने से अधिक काल तक चित्त मे जडता पैदा नहीं होती। आसन के निमित्त से जो व्यग्रता होती है, वह सुखासन से नही होती, इसलिए सुखासन से बैठना अच्छा है। अगर सधे, तो पद्मासन भी अच्छा है। तीसरा है कायोत्सर्ग।

ने.: कायोत्सर्ग यानी खडगासन ?

स.: हाँ; लेकिन इन सब मे सुखासन अच्छा है।

ने.: महाराज, आज हमारे जीवन मे अशान्ति, असंतोष, तृष्णा बहुत है।

स.: जीवन मे या जग मे ?

ने.: जग मे भी।

स.· वह तो बहुत है, उसके लिए हमे क्या करना है ? ठीक ही कहा है

' रे सुधारक, जगत की चिंता मत कर यार।
तेरे घट मे जो बसे ताको प्रथम सुधार। '

हमे जग से क्या करना है ? साधुगण जग की दृष्टि से नही देखते, परमात्मा की दृष्टि देखते है। इससे उनमे समता रहती है, सब को परमात्मा की दृष्टि से देखे, तो राग किस पर करेगे ?

ने.: किसी से नही करेगे।

स.. सब ही तो परमात्मा हैं। मै भी परमात्मा, जीव-मात्र परमात्मा है। इस प्रकार के जिनके भाव हो गये, वे किससे राग-द्वेष करेगे ?

ने.: इस प्रकार हम ध्यान के द्वारा समता/समत्व की ओर जा सकते है।

स.: हम तो एक बात जानते है कि परिणाम शुद्ध रखना। परमात्मा का ध्यान करना कि मै परमात्मा हूँ। मै शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, परमात्मा हूँ। ऐसा जाप करना, इससे सवर-निर्जरा होती है, आस्रव-बन्ध का नाश होता है।

ने.· आपने बहुत थोडे शब्दो मे मन्त्र दे दिया, धर्म का मर्म बता दिया।

स.. इसे आप जो भी समझे, समझिये। हम जो थोड़ा-सा जानते है, वह आपको बता दिया। हम ज्यादा शास्त्र कहाँ पढते है ? ध्यान अपने परिणामो को शुद्ध रखने के लिए है। राग-द्वेष

से रहित परिणाम रखते हुए ध्यान करने से आनन्द की अनुभूति होती है। पढना कम, आत्मा के स्वरूप का ध्यान ज्यादा करना कि मै शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ , परमात्मा हूँ, मैं अमूर्तिक हूँ; क्योकि आत्मा/परमात्मा को स्वानुभव गम्य कहा है। आत्मा ज्ञान के द्वारा अनुभवगम्य है। इन्द्रियाँ तो मूर्तिक को जानती है, अमूर्तिक को कैसे जान सकती है ?

ने.: आप अभी भी पढ लेते है ?

स.: हाँ।

ने.: अब ग्रन्थ आपके लिए कोई मतलब नही रखता होगा ?

स.: हम समझते है, जितना थोडा-सा ज्ञान मिला है, उसका बार-बार अभ्यास करे, अधिक पढने से कोई फायदा नही होगा।

ने.: आप निर्ग्रन्थ जो है।

स.: निर्ग्रन्थ तो पशु भी हैं, उनके पास कहाँ है परिग्रह ?

ने.: उन्हे निर्ग्रन्थ कहे क्या ?

स.: उन्हे वास्तविक निर्ग्रन्थ नही कह सकते, क्योकि वे जान-बूझ कर परिग्रह का त्याग नहीं करते है। जो अन्तरग परिग्रह का ज्ञानपूर्वक त्याग करता है, वही निर्ग्रन्थ है। जिसने परिग्रह को आत्मा के विरुद्ध दु ख पहुँचाने वाला समझ कर छोडा, वही वास्तविक निर्ग्रन्थ हो गया। यदि यह विचार नही हो, तो फिर निर्ग्रन्थ कैसे ? इसलिए मनुष्य ही निर्ग्रन्थ हो सकता है, और कोई नही। एकमात्र मनुष्य ही मोक्ष का अधिकारी है। ध्यान से यह सभव है।

ने.: ध्यान से आत्मोपलब्धि के ध्येय की प्राप्ति हो सकती है।

ध्यान : आसन : प्राणायाम

डॉ. नेमीचन्द जैन : क्या ध्यान करने के लिए एक योग्य शरीर की आवश्यकता है ?

पं. बाहुबली शास्त्री : जरूर। 'शरीर खलु धर्म साधनम्' शरीर एक साधन है। जब तक शरीर शुद्ध नही होता, हम ध्यान नहीं कर सकते, इसलिए शरीर-शुद्धि सब मे पहली आवश्यकता है।

ने.: लेकिन शरीर को शुद्ध किस प्रकार रखे ?

बा.. योगासन और प्राणायाम से शरीर शुद्ध होता है, उसमे ध्यान करने की ताकत भी आती है।

ने.: प्राणायाम क्या है ?

बा.: इसमे प्राणवायु का नियमन है, उसकी विधि है प्राणवायु को खीचना यानी पूरण, कुंभन मे कुछ देर उस वायु को अन्दर रोकना, और रेचन मे अन्दर ली गयी वायु को छोडना।

ने.: प्राणायाम मे पूरण, कुभन, और रेचन की क्रिया नियमपूर्वक करनी होती है, प्राणायाम का ध्यान से क्या रिश्ता है ?

बा.. जब व्यक्ति ध्यान करने लगता है तो वायु अपने-आप रुकने लगती है। यहाँ तक कहा है कि जो बड़े-बडे योगी है, उनमे तालुरध्र से वायु आने लगती है, इतनी एकाग्रता हो जाती है।

ने.. श्वास से ध्यान और ध्यान से श्वास - ये एक-दूसरे के पूरक है। यानी श्वास पर अनुशासन प्राप्त करन लेना, एक प्रकार का ध्यान है। ध्यान को हमे किस ओर लगाना है ?

बा.. आत्मा की ओर। इससे कर्मों का आना रुक जाता है, सवर-निर्जरा की सभावनाएँ बढ जाती है।

ने.: प्राणायाम के साथ आसन का भी महत्त्व है ?

बा.: हाँ। निराकुलता से बैठने को सुखासन कहा है।

ने.: यह निराकुलता क्या है ?

बा.: शरीर मे कोई आकुलता पैदा न हो, जिससे ध्यान मे रुकावट हो, इसलिए शरीर को निश्चल रखना सबमे बडी बात है। इसके लिए सुखासन है।

ने.: इसमे शरीर की क्या स्थिति रहती है।

बा.: शरीर निश्चल रहता है। ऐसे यहाँ तक कहा गया है कि लेट कर भी ध्यान कर सकते है, मुख्य बात शरीर को निराकुलता है।

ने.: कौन-कौन से आसन है, जो ध्यान के लिए हम काम मे ला सकते है ?

बा.· आसन तो बहुत से है, किन्तु मुख्य है- पद्मासन, अर्द्धपद्मासन, सुखासन, वज्रासन आदि।

ने.: आसन के माध्यम से भी हम शरीर पर नियत्रण प्राप्त कर सकते है।

बा.: शरीर मे जो जडता है, वह आसन से दूर हो जाती है।

ने.. आसन से शरीर-शुद्धि का क्या संबन्ध है ?

बा.. आसन से शरीर मे जो नाडियाँ है, वे ठीक से चलने लगती है। उसके साथ प्राणायाम भी है।

ने.: आसन-प्राणायाम से शरीर समर्थ होता है, शुद्ध भी होता है। जो शरीर शुद्ध और समर्थ होगा, वह ध्यान का मच बन सकता है। ध्यान के क्षेत्र मे इसका उपयोग कैसे कर सकते है ?

बा.: सुखासन पर बैठने के बाद मन-वचन-काय की एकाग्रता के लिए प्राणायाम की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए णमोकार-मन्त्र को ही लीजिये। 'णमो अरहताण' बोलते-बोलते एक नासिकारन्ध्र से वायु को खीचिये, 'णमो सिद्धाण' मे रोके रहिये, 'णमो आइरियाण' मे रोकी हुई वायु को छोडिये। 'णमो उवज्झायाणं' मे फिर से वायु को खीचिये और 'णमो लोई सव्साहूण' मे वायु को रोकने के बाद छोडिये। इस प्रकार प्राणायाम करने से मन स्थिर होता है और ध्यान लगता है।

ने.· णमोकार-मन्त्र को प्राणायाम की क्रिया-पूरण, कुभन, रेचन मे डालना, फिर इस मन्त्र की परिक्रमा देना है। इससे हमारे विकार शान्त हो सकते है। कौन से नथुने से इसे हमे शुरू करना चाहिये ?

बा.: दाये से।

ने.: कितनी देर ?

बा.: यह व्यक्ति-विशेष की इच्छा और आवश्यकता पर निर्भर करेगा। ९ बार, २७ बार, १०८ बार, जितनी बार आप कर सके।

ने.. और कोई मन्त्र है, जिसे हम प्राणायाम मे डाल सकते है ?

बा.· णमोकार-मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। प्राणायाम की जो विधि बतायी है, उसमे कोई भी मन्त्र ले सकते हैं।

ने.: आप तन्त्र-मन्त्र शास्त्री हैं। आपको तन्त्र-मन्त्र का ज्ञान है। इंगला, सुषुम्ना, पिगला, नाडियाँ है; छह चक्र है - इनका प्राणायाम से, ध्यान से -क्या संवन्ध है ?

बा.: इनके विषय मे शास्त्रो मे बहुत लिखा है। शुभचन्द्राचार्य के 'ज्ञानार्णव' मे इनका वर्णन है। यह ग्रन्थ तो ध्यान पर ही है।

ने.. ध्यान के बारे मे और बताइये।

बा.. प्राणायाम और आसन, जब दोनो स्थिर हो जाते है, तो चित्त एकाग्र होता जाता है, णमोकार-मन्त्र हो, कोई तत्त्व-चिन्तन हो, जब इस चिन्तन मे मन-वचन-काय की एकाग्रता होती है, तो आनन्द की अनुभूति होती है। आत्म-चिन्तन और आत्मावलोकन मे भी साधना प्रखर होती है।

ने.: संक्षेप मे हम कह सकते है कि शरीर पर क्रमश अनुशासन प्राप्त करने के लिए प्राणायाम और आसन आवश्यक हैं।

ध्यान में वीतरागता की अनुभूति

डॉ. नेमीचन्द जैन : ध्यान मे वीतरागता की जो अनुभूति आपको होती है, क्या भाषा में उसका वर्णन कर सकते है ?

क्षु. श्री धर्मानन्द : अनुभूति तो आत्मा का विषय है। मुझे प्राय शरीर का भान नहीं होता। मुझे उस समय ऐसा भी नहीं लगता कि मै शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देख रहा हूँ। मेरी दृष्टि यही रहती है कि आत्मा शरीर-प्रमाण है, उसी मे मेरा ध्यान केन्द्रित रहता है।

ने.: ध्यान मे आपको लगता है कि मै शरीर नही हूँ ?

ध.: निरजना आत्मा की जो कल्पना है, वही मेरे सामने रहती है।

ने.: इस कल्पना को शब्द दीजिये।

ध.: आत्मा शुद्ध है, शरीर-प्रमाण है। शरीर-प्रमाण यह जो मेरा आत्मा है, वह पुरुषाकार है। शरीर से भिन्न है। सौभाग्य मेरा यह है कि मेरी दृष्टि अन्तर्मुखीन रहती है। दर्शन करने जाता हूँ, तब भी मेरी दृष्टि अन्तर्मुख रहती है। सामायिक करता हूँ, तब भी वैसी ही बनी रहती है।

ने.: क्या ध्यान मे आहार की कोई भूमिका है ?

ध.: हाँ। जिस दिन अन्तराय हो जाता है, आहार नहीं होता, शरीर हलका रहता है। कहना उचित होगा कि उपवास ध्यान मे सहायक होता है।

ने.: आहार किस तरह का हो ?

ध.: यह सब तो अपनी-अपनी प्रकृति पर निर्भर है। मै तो इतना समझता हूँ कि गरिष्ठ भोजन ध्यान के प्रतिकूल है। सात्त्विक और हल्का भोजन ध्यान के लिए अनुकूल है।

ने.: आपको कौन-सा आसन अच्छा लगता है ?

ध.. मै अर्द्धपद्मासन पर बैठता हूँ, और आसन लगा नही सकता। ज्ञानमुद्रा मे एकाग्रता जल्दी आती है।

(तीर्थंकर, वर्ष १२, जैनध्यान/योग विशेषाक, अक १२, अप्रैल, १९८३ मे-से चयनित अश)

बातचीत : ध्यान/योग डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म प्र), टाइप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र), प्रथम सस्करण फरवरी, १९९८ ; मूल्य छह रुपये।

बातचीत : श्रावकाचार

डॉ. नेमीचन्द जैन

- श्रावकाचार · विचारपूर्वक आचार
- श्रावक :एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक
- श्रावक वह जिसके आचरण मे जैनत्व हो
- श्रावक · मन्दिर-से-प्रेरित;
  सत्साहित्य-से-प्रोत्साहित
- बेहतर मानव यानी बेहतर श्रावक

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

श्रावकाचार : विचारपूर्वक आचार

डॉ. नेमीचन्द जैन : 'श्रावक' शब्द, जो परम्परित है, का शास्त्रीय अर्थ क्या है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : श्रावक अर्थात् गुरुमुख से उपदेश सुन कर विचारपूर्वव आचार करने वाला। न्यास-निक्षेप के अनुसार श्रावक चार प्रकार के है नाम श्रावक, स्थापन श्रावक , द्रव्य श्रावक, भाव श्रावक।

ने.: इस तरह इसके दो पक्ष हो गये।

वि.: विचार वह तभी कर सकता है, जब गुरु से सुने अत श्रवण करके विचारपूर्वक आचा करने वाला जो है, वह 'श्रावक' है।

ने. यानी सुनता हो, गुनता हो, और चरित्र मे डालता हो वह श्रावक है।

वि.. श्रावक सज्ञा उसी के लिए है। आचार्यों ने श्रावको के जो चार भेद किये है तद्नुसा 'नाम श्रावक' वह है, जिसने श्रावक कुल मे जन्म लिया है।

ने.: यह नाम श्रावक हो गया ?

वि.: इसी प्रकार जिसके खान-पान मे शुद्धि है, जो पानी छान कर पी रहा है, जिसका रात्रि भोजन त्याग है उसे पाक्षिक श्रावक कहेंगे। वह तीन म-कार (मास, मदिरा, मधु) के सर्वथा त्या का पालन तो कम-से-कम पालन करता ही है।

ने.: इतना तो पालना ही चाहिये ?

वि.: पालता ही है।

ने.: नही पाले तो वह श्रावक नही है, तब वह नाम श्रावक मात्र रह जाएगा।

वि.: जो भाव श्रावक है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन से प्रेरित उसकी समस्त क्रियाएँ होत है, 'उपशम' हो या 'क्षयोपशम' हो।

ने.: श्रावक का विकास उत्तरोत्तर होता है ?

वि.. क्रमिक होता है।

ने.: 'नाम श्रावक' से 'भाव श्रावक' तक।

वि.: जैसे, बालक अक्षरो का क्रम से अभ्यास करता है, वैसे ही श्रावक भी अप अभ्यास क्रमश विकसित करता है।

ने.: यदि 'नाम श्रावक' प्राथमिक शाला है, तो भाव श्रावक विश्वविद्यालय व अन्तिम उपाधि है।

वि.: बिलकुल सही है।

ने.: यह जो सम्यग्दृष्टि श्रावक होगा उसकी विशेषताएँ क्या होगी ?

वि.: उसके जीवन मे सर्वप्रथम श्रद्धा गुण होगा। उसका यह गुण कभी विचलित नही होगा। वह कभी नष्ट नही होगा।

ने.: अविचलित बना रहेगा।

वि.: हाँ।

ने.: उसमे जो भी दोष आयेगा, अनजाने मे आयेगा।

वि.: हाँ, अबुद्धिपूर्वक आयेगा। और फिर उसका आचार त्याग की तरफ ही सतत् झुका रहता है।

ने.: आदर्श श्रावक मे क्या-क्या गुण होने चाहिये ?

वि.: सर्वप्रथम उसमे अरहंत भगवान् के प्रति अत्यन्त दृढ श्रद्धा होनी चाहिये। जो अभक्ष्य पदार्थ (तीन मकार) है, उनके बारे मे मन मे कभी कोई विचार नही आना चाहिये।

ने.: विचार तक नही ?

वि.: हाँ।

ने.: बाकी सब तो दूर की बाते हैं।

वि. हाँ, फिर उसके साथ-साथ आदर्श श्रावक न्यायोत्पादित धन कमाये अर्थात् वह नीति-सगत धनोपार्जन करे।

ने.: यह बड़ी बात है।

वि.: यदि उसका खान-पान शुद्ध / सात्त्विक नही है, आचार भी अच्छा नही है, और फिर भी धन आता है, तो वह उसे कही भी पटक सकता है, या पटक देगा। आचार्यश्री शान्तिसागरजी ने कहा था कि जो सट्टे का व्यापार करते है, वे बिलकुल ठीक नहीं करते। इसे उन्हे तत्काल छोडना चाहिये। यदि आप हमारे शिष्य वन गये हैं, या उपदेश सुनते है, तो ऐसा चल नही सकता। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि श्रावको का चोरी करके मन्दिर वनाना सर्वथा अनुचित और अनैतिक है। मन्दिर चाहे छोटा बनाओ, लेकिन बनाओ, उसे न्याय-पूर्वक कमाये हुए धन से ही।

ने. न्याय से उत्पन्न, या अर्जित धन-इसका क्या मतलव हुआ ?

वि.: वास्तव मे देखा जाए, तो मनुष्य एकदम बहुत वड़ा धनाढ्य तो हो ही नहीं सकता। 'आत्मानुशासन' (गुणभद्राचार्य) मे लिखा है कि नदी जब भी भरती है, आसपास के गन्दे नालो से ही वह भरती है। इसी प्रकार कोई न्याय-पूर्वक एकाएक क्षण-भर मे धनाढ्य नहीं हो सकता।

ने.· नालो मे-से मलिन पानी आता है।

वि.: धन को किन्तु न्याय-मार्ग से ही आना चाहिये।

ने.: मतलब यह हुआ कि धनाढ्यता एक क़िस्म की मलिनता है।

वि.: ऐसा सर्वथा / सर्वदा नही है, नही होता है। पीढी-दर-पीढी न्यायपूर्वक कमाते हु 'कम खर्चो और बचाओ' के नियम का पालन करते हुए भी कोई धनाढ्य हो सकता है। ऐं पवित्रतापूर्वक कमाने वाले भी है, अभिप्राय यह है कि जो क्षण भर मे धनाढ्य बनते है या बन क दिखाना चाहते है, तो वे स्थायी धनाढ्य नहीं हो सकते ।

ने.: न्याय से आपका अर्थ प्रामाणिकता से है ?

वि.: प्रामाणिकता से ही है।

ने.: जो काम हम करे, उसका एक स्तर हो, उसका प्रमाण हो, उसमे निष्ठा हो।

वि.: कमाते समय व्यसनो से बचा जाए। जैनो मे यह परिपाटी है।

ने. सब मे पवित्रता रखते थे।

वि.· हाँ, क्योकि हमारे उद्देश्य अर्थात् साध्य-साधन जितने ऊँचे/उदात्त होंगे, हमा श्रावकीय जीवन भी उतना ही आदर्श बनेगा।

ने.: इसका मतलब यह हुआ कि न्याय का संबन्ध विवेक और चरित्र से है।

वि.: बिलकुल सही है।

ने.: यदि विवेकपूर्वक धन का अर्जन किया जाए, तो वह न्यायोत्पन्न कहा जाएगा।

वि.· जैसे, एक नन्हा-सा पेड़ एक दिन मे तो फल देता नही है। वह क्रमश वृद्धि को प्रा होता है, उसी प्रकार श्रावक का जीवन भी शनै -शनै बढता है ठीक वैसे ही जैसे एक चीं मन्दगति से चलती है, परन्तु वह लतामण्डप पर धीरे-धीरे चढ कर अगूर पा लेती है।

ने.: श्रावक का जीवन भी नीति-और-धर्म का पेड है।

वि.: हाँ, इसी तरह से अपने जीवन को ऊँचा उठाते समय श्रावक स्थितप्रज्ञ होता है।

ने.: 'स्थितप्रज्ञ' बहुत अच्छा है, क्या अर्थ है इसका ?

वि.: स्थितप्रज्ञ वह है, जो अपने सिद्धान्तो पर अत्यन्त दृढ़ रहता है। जब वह दृढ़ रहता है तब आचारपूर्वक दृढ रहता है। उसमे चारित्र्य का अंश रहता है।

ने.. स्थितप्रज्ञता मे ?

वि.: चारित्र्य का अंश न होने पर भी श्रद्धा की अपेक्षा भी उसे स्थितप्रज्ञ कह सकते है लेकिन मूलत स्थितप्रज्ञ मे चारित्र्य का अश तो होता ही है।

ने.. विवेकपूर्वक जो चारित्रवान् है, उसे स्थितप्रज्ञ कहेगे ?

वि.· क्योकि श्रावक-का-धर्म है विचारपूर्वक आचार।

ने.: नित-नये संदर्भ इन दिनो हमारे सामने आ रहे है। बडे पैमाने पर नये-नये उद्योग भी आ गये है। नये जीवन-मूल्य विकसित हो रहे हैं। इनके साथ ही एक नया वातावरण भी बन गया है। लोगो मे धर्म के प्रति थोडी अरुचि/अश्रद्धा भी उत्पन्न हुई है। ऐसी स्थिति मे श्रावक क्या करे ?

वि.. धर्म के प्रति लोगो मे रुचि कम हुई है, अथवा श्रद्धा कम हुई है, ऐसी कोई बात शायद नही है। धर्म के प्रति लोगो मे रुचि और श्रद्धा तो है, किन्तु हर युग मे धर्म मे श्रद्धा और रुचि रखने वालों की सख्या ही कम है। 'आत्मानुशासन' मे कहा है, जब सुनने वालो की सख्या ही कम है, तब आचरण करने वालो की तो कम होगी ही। फिर यह तो कलियुग है, पचम काल है, इस युग को देखते हुए अभी भी हम बहुत-सी बुराइयो से बचे हुए है। यह हमारे पुरखो की कृपा और हमारे आचार्यों की दूरदृष्टि का ही सुफल है। श्रावक और साधु के परस्पर सबन्ध होने से गृहस्थाचार मे हम अनेक दोषो से बचे हुए है। 'रोटी सुरक्षित है, तो बेटी सुरक्षित है' इसीलिए खान-पान से अभी भी हमारे घर-घराने बचे हुए है। वैसे तो १० से २० प्रतिशत की घटती-बढती होती रहती है।

ने.: नये सदर्भ से मेरा मतलब यह था कि इसके पहले हम आयुर्वेदिक औषधियाँ लिया करते थे, आज तो तरह-तरह की दवाइयाँ आ गयी है। नाना प्रकार के कपडे आ गये है - टेरेलिन, पोलिस्टर, रेशमी। इन सबमे हिसा होती है ।

वि.. रेशमी वस्त्र पहले भी थे, परन्तु वे वनस्पति-जन्य थे, इसीलिए उन्हे पहनते थे। जो प्राणीहिसा-जनित थे, उन्हे तो कोई श्रावक पहिनता नही था। भले ही कुछ नामधारी श्रावक पहनते हो किन्तु व्रती श्रावक तो उन्हे कभी छूता ही नही था, पहिनना तो दूर की बात है।

ने.. किन्तु आज तो वे व्यापार करते हैं।

वि.. अज्ञानता के कारण करते है। हमने देखा है, जो चीज हलवाई की दुकान पर बनती हुई देखता है, वह वहाँ नही खाता, क्योकि साफ-सफाई मे लापरवाही यानी गन्दगी, पसीना इत्यादि देख कर उसे ग्लानि होती है, अत वह नही खाता किन्तु जब वही उसके सामने प्लेट मे आती है, तब साफ दिखायी देने से वह उसे खाता है। इसी तरह ज्ञान न होने से अर्थात् अज्ञानता के कारण ही वह व्यापार आदि करता है, इसलिए तथ्यो को तर्कसगत और व्यापक रूप मे रखने की आवश्यकता आज सबमे बडी है।

ने.. आप शायद यह कहना चाहते है कि जहाँ-जहाँ हिसा होती है, किस तरह से वह वहाँ हो रही है, इसका व्यापक प्रचार-प्रसार होना चाहिये।

वि.: प्रचार-प्रसार करना चाहिये। विषम काल है। आज भी आयुर्वेदिक औषधिय उपलब्ध है, अच्छे-अच्छे विद्वान है। शिष्य-परपम्रा से शुद्ध औषधियो का छोटे पैमाने प निर्माण भी होता है। घरेलू औषधियाँ तैयार कर आहार-के-समय श्रावक त्यागी-साधुवर्ग को भ देते है, इस प्रकार साधुवर्ग अभी बचा हुआ है। व्रती भी बचे हुए है, परन्तु इधर लोग जल्दी ठीव होने की आशा-अपेक्षा से औषधियो की शुद्धि या अशुद्धि पर विचार नही करते। एलॉपैथी होम्योपैथी की इतनी सारी दवाइयाँ है, कि उनकी शुद्धि-अशुद्धि का पता लगाने मे बडी सावधान की जरूरत है। विवेक तो रखना ही है। यदि विवेक नही रखेगे तो हम अपने आचार से गिर ह जाएँगे; गिरेगे ही।

ने.: विज्ञान का जो नया वातावरण बना है, उसने हिसा को बढाया है, इससे कैसे बच जा सकता है ?

वि.: जब तक 'विज्ञान' मे 'अज्ञान' का अश है, तब तक हम बच नही सकते। यह समझन जरूरी है कि विज्ञान मे भी अज्ञान है। जो सिर्फ भौतिक सुख के साधनो को उपलब्ध करवाये, उ विज्ञान नही कहते है। जैन शास्त्रो मे विज्ञान शब्द का अर्थ है 'आचारपूर्वक ज्ञान'। आचारपूर्वव ज्ञान ही विज्ञान है।

ने.: विशिष्ट ज्ञान।

वि.: जो ज्ञान आचरण का अनुगामी है उसे विज्ञान कहा है।

ने.. यह तो नयी परिभाषा हुई। जो विवेक और चारित्र का सहवर्ती है, वह विज्ञान है।

वि.. हॉ, वही वास्तविक विज्ञान है।

ने.: यह विज्ञान की जैन परिभाषा है ?

वि.: बिलकुल।

ने.: विज्ञान की अन्य परिभाषा क्या है ?

वि.· नयी-नयी शोध करके, नये-नये लौकिक साधन बनाने मे, सौदर्य प्रसाधन बनाने मे इस भौतिक-नश्वर शरीर की पुष्टि के लिए नाना प्रकार की चीजे तैयार करने मे जो ज्ञान लगा है वह आधुनिक विज्ञान है।

ने.· इसमे मनुष्येतर प्राणियो की सुख-सुविधा का ध्यान कहाँ है ? जो जैनधर्म-सम्म विज्ञान है, उसमे समस्त प्राणियो की विशेष चिन्ता रखनी होती है।

वि.: सही है। प्रत्येक प्राणी को जीने-का-अधिकार है। वे जीते भी है। मोटी बात है कि हम किसी को दु ख दे कर स्वय सुखी नही रह सकते। क्षणभगुर सुख आकर्षक तो दीखता है, परन् वह सुख सुख तो है नही, कल हमे भी भोगने पडते है, पड़ेगे ही, इसलिए दुनिया के किसी भ

प्राणी को हम से कष्ट हो जाए, भले ही वह मन से, वचन से, या अनुमोदना से हो दोष उसका हमे अवश्य लगेगा। हम किसी हिसा से प्राप्त वस्तु को यदि लेते है, या उसकी अनुमोदना करते है तो नि.संदेह पाप के भागी बनते है। किसी को यदि कोई मारता है, तो कोर्ट मे सजा देते समय 'मारने' का कहने वाले- यानी अनुमोदना करने वाले को भी सजा मिलती है। किसी षड्यंत्र मे अप्रत्यक्ष रूप से भी यदि किसी का समर्थन, या अनुमोदन हो, तो उसे भी सजा होती है। मारने वाले को जितना पाप है, मारने के षड्यंत्र मे भाग लेने वाले को भी उतना है। जैन शास्त्रो मे जो भी हिसाचार-से प्राप्त वस्तु है, उसकी अनुमोदना मे भी पाप माना है।

ने.. क्योकि उसमे उसकी भागीदारी तो है, चाहे वह दिखायी न पडती हो। तीन जगह हम टूटे है - खान-पान मे, रहन-सहन मे , पठन-पाठन में। जो भी मिल जाता है, चाहे वह अश्लील हो हम पढते है, तरह-तरह के अखबार है, पत्र-पत्रिकाएँ है; पढने के नाम पर पढे जा रहे है, पहले बताइये कि खान-पान मे हम क्या करे ?

वि. एक बात है। खान-पान मे साधु-संस्था के कारण जैन समाज के बहुत से घर-घराने आज बचे है। जहाँ तक मै देखता हूँ, श्रावको पर साधुओ का काफी नियत्रण है, क्योकि जो शुद्ध आचार-विचार से रहते है, साधु उन्ही के यहाँ आहार ग्रहण करते है।

ने.· खान-पान पर साधुओ का अकुश है ?

वि.. हाँ, श्रावको का भी साधुओ पर नियत्रण है। जहॉ आचार-विचार शुद्ध है, वही साधु आहार लेते है। बहुत कुछ यह है। साधुओ ने भी सस्कार-रक्षा की है। दूसरी कौन-सी बात है ?

ने.· रहन-सहन।

वि.: ग्रामीण जीवन मे अभी भी सादगी है। शहरो मे सौदर्य-प्रसाधनो, अन्य वस्तुओ, कपडो वगैरह के बारे मे बिना विचारे सिर्फ अच्छे तड़कीले-भडकीले मुलायम जो दिखते है, उनका उपयोग करते है, परन्तु ऐसे लोगो की सख्या अभी भी शहरो मे कम है। यदि उन्हे समझाया जाए और ऐसी वस्तुओ के गुण-दोष बतलाने वाला साहित्य उन्हे मिले, या सुलभ कराया जाए, तो उससे वे बच सकते है।

ने.: उन्हें बताया जाए कि यहाँ-यहाँ हिसा होती है-इन साधनो में होती है । यदि उन्हे सही और समूची सूचना दी जाए, तो वे बच सकते है।

वि.: अब पठन-पाठन के विषय मे। हम यदि वैज्ञानिक ढग से तैयार साहित्य उनके घरो मे पहुँचाये, या ऐसा साहित्य उन्हे किसी तरह सुलभ हो जाए, तो वे उसे पढ सकते है और अपने विचारो को पवित्र बना सकते है। वे सम्यग्दर्शन/सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी कर सकते है। प्राचीन आदर्शों को, प्राचीन तत्त्वज्ञान को आधुनिक भाषा मे समझाने की यदि हम कोशिश करेगे, तो मै समझता हूँ कि अश्लील साहित्य से हम उन्हे बचा सकते है और स्वय भी बच भी सकते है।

ने.: एक 'श्रावक' समाज के लिए क्या कर सकता है, चारित्रिक दृष्टि वह उसे कैसे प्रभावित कर सकता है, क्योकि उनकी भी कुछ जिम्मेदारियाँ, कुछ कर्तव्य हैं ?

वि.: कर्तव्य तो प्रत्येक श्रावक के है, और यदि प्रत्येक अपनी जिम्मेदारी को स्वय निभाये, अपने को सुधारे, तो यह दुनिया अपने-आप सुधर जाएगी। यदि एक श्रावक दूसरे श्रावक को सुधारने मे लगेगा, तो फिर वह स्वयं भी सुधर नही सकेगा। जैन तत्त्वज्ञान की आधारशिला है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन। यदि इन दोनो माध्यमो से वह अपने जीवन को ऊँचा उठाता है, तो हम उसे 'स्थितप्रज्ञ श्रावक' कहेगे।

ने.: जैसे, एक श्रावक व्यापारी है, जो व्यापार की दृष्टि से समाज के सपर्क में आता है, तो वहाँ वह समाज के लिए क्या कर सकता है ? एक व्यापारी की हैसियत से उसे करना चाहिये ?

वि.: वह शुद्ध वस्तुएँ दे, फिर भले ही उसमे दो पैसे कम मिलते हो। इससे उसके मन को सतोष होगा, उसका चित्त बहुत प्रफुल्लित होगा कि कम-से-कम उसने ग़लत काम तो नहीं किया। वह यदि चाहे तो अल्पपरिग्रही रह कर सीमित आय मे ही अपने जीवन को सुन्दर, सात्त्विक और सहज बना सकता है।

ने.: प्रामाणिकता उसमे आ सकती है।

वि.: बिलकुल आज भी बडी सख्या मे जो पुराने लोग है, वे ऐसा कोई काम नही कर रहे है, जो भारतीयता को कलकित करता हो, फिर भले ही एकाध पैसा ज्यादा वे लेते हो। वे मिलावट आदि नही करते। मिलावट/रिश्वत आदि दुष्प्रवृत्तियाँ तो ज्यादातर आजादी के बाद की विषमताओ की सताने है, जल्दीबाजी मे अमीर बनने की लालसा की दुष्परिणाम है, लेकिन इसके शिकार कम ही लोग हुए है। उनका प्रतिशत एक से भी कम है।

ने.: मिलावट (अपमिश्रण) की दुष्प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है, इसे कैसे नकारा जा सकता है ?

वि.. 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' जैसे ग्रन्थो मे भी स्पष्ट लिखा है कि मिलावट नही करना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि उस समय भी मिलावट-जैसी दुष्प्रवृत्ति थी।

ने.: ऐसा आया है ?

वि.. यह भी आया है कि अतिभाररोपण मत करो। पशुओ पर अधिक भार मत लादो, जबकि आज ट्रको पर भी निर्धारित वजन से अधिक नही रख सकते। पहले ऐसे क़ानून थे कि पशुओ पर ज्यादा भार नही लाद सकते थे। लोग उनका पालन करते थे। बुराइयाँ पहले भी थीं, लेकिन आज ये इतनी बढ गयी है कि बहुत घबराहट पैदा होती है। कहा नही जा सकता, वे देश को कहाँ ले जा कर पटकेगी ?

ने.: कोई समाधान है इसका ?

वि.. समाधान, हम उसे प्रोत्साहन ने दें और हृदय-परिवर्तन के लिए सत्साहित्य का निर्माण करे। अच्छाइयो का व्यापक प्रचार-प्रसार करे।

ने.: हम देखते है कि हिसा चारो तरफ बहुत बढ गयी है-जीवन के हर क्षेत्र मे, हिसा का रूप विकराल हुआ है, विविध भी वह हुआ है-सूक्ष्म रूप मे, चुनावी हिसा-जैसी चीजे भी सामने आयी है; तब फिर ऐसे विषम और प्रतिकूल वातावरण मे अहिसा की अभिव्यक्ति कैसे करे ?

वि.: पहले तो घर-घर मे हमारे पूर्वजो को यह ज्ञान ठीक से था कि यदि पेड के पत्तो को निरर्थक तोडा गया, तो उसे दुःख होगा, हमारे निमित्त से हिसा क्यो हो, यह सोच कर आदमी बहुत सँभल कर किसी पेड को काटता था, उसकी टहनी, या पत्ते तोडता था, लेकिन अब उद्योग के माध्यम से कहिये या उस उद्योग मे मर्यादित न रहते हुए ज्यादा लोभ के कारण, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण पेडो/जंगलो को इतना काट डाला गया है कि आज स्वय मनुष्य का जीवन खतरे मे पड गया है। वनस्पतियो और पेडो से यानी जंगलो से हमे ऑक्सीजन मिलती है। जगलो का श्वासोच्छ्वास से सीधा सबन्ध है।

ने.: यानी हम वनस्पतियों से शुरू करें, उनकी रक्षा करे।

वि.: बिलकुल ठीक, उनकी रक्षा ही, हमारी अपनी रक्षा है। मनुष्य जीवन ८० से ९० प्रतिशत वनस्पति पर अवलम्बित है।

ने.: मतलब आप यह कहना चाहते है कि वनस्पति को किसी तरह घायल न करे, चोट न पहुँचाये, उन्हे अक्षत बनाये रखे। उनका उपयोग तो करे, लेकिन उन्हे बर्बाद न करे।

वि.: इतना ही नही, अब तो वैद्य और शोधक भी कह रहे है कि पचास वर्ष पहले वनस्पतियो मे जो औषधि के उत्तम-से-उत्तम गुण थे, वे अब नही है। पहले आधा अश भी देने से उन औषधियो का असर होता था, लेकिन आज दुगुना भी दिया जाए, तो रोगी को वह उतनी जल्दी ठीक नही कर सकती। उस वनस्पति मे जो रस-गुण थे, वर्षा की कमी के कारण, वायुमण्डल के प्रदूषित होने से घट गये है। हमारे आरोग्य और स्वास्थ्य पर इनका बुरा असर पड़ रहा है।

ने.: इसका मतलब यह कि जब मनुष्य ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया, तब उन वनस्पतियो ने भी अपनी मदद का हाथ खीच लिया है।

वि.. ऐसा भी हो सकता है (हँसी)। प्रदूषण का बुरा प्रभाव पड़ता ही है।

ने.. सबमें पहला काम तो हमे वनस्पतियो यानी जगलो के रक्षण/सरक्षण का करना चाहिये। उसके बाद पशुरक्षा पर आना चाहिये।

वि.: क्या कहे, गाय घास खा कर मनुष्य को पोषण देती है। माँ बहुत-से-बहुत नो महीने या साल-भर दूध पिलाती जबकि गाय तो जीवन-भर दूध पिलाती है। गोवश ने हमे जीवन-भर दूध पिलाया और जो अभी भी पिला रहा है, इतना कि जितना हम जीवन मे किसी को पानी भी नही पिला पाते। ऐसे कितने ही प्रिय पशु है, वृक्ष हैं, जो फलो के रूप में, नदी हैं, जो पानी के रूप मे

मनुष्य-जीवन को पोषण प्रदान करते है। इस तरह प्रकृति का मनुष्य पर बहुत उपकार है, लेकिन विचारणीय है कि मनुष्य प्रकृति पर क्या उपकार कर रहा है ? जब तक वह यह नही सोचेगा कि व्यर्थ मे ऐशो-आराम के लिए, सयमी जीवन को छोड़ कर प्रकृति की इस सम्पदा को निर्दयतापूर्वक विवेक-शून्य हो कर नष्ट करना कहाँ तक हितकारक है, तब तक वह अहिसक जीवन-पद्धति को अपना नही सकेगा। प्रकृति के दोहन का जो घातक दुष्परिणाम हमारे जीवन पर, समाज, देश, राष्ट्र पर पड रहा है, वह आज गहन चिन्ता का विषय है।

ने.: प्रकृति और मनुष्य के जीवन मे बडा असन्तुलन बनता जा रहा है।

वि.· असन्तुलन बढता जा रहा है। प्रकृति तो ऊर्जा का बहुत बड़ा भण्डार है। उसका आज जो दुरुपयोग हम कर रहे है, उसे निरर्थक खर्च रहे है, यदि इसमे कमी नही हुई, तो हमारे जीवन मे ऐसे क्षण भी आ सकते है जब हमे झोपड़ियो मे रहना पडे, या पेडो के नीचे रहना पडे लेकिन तब वह हमारी मजबूरी होगी, स्वेच्छा नही। हमारे पूर्वजो ने अपरिग्रह पर जोर दे कर कहा था कि तुम दूसरो के लिए त्याग करना सीखो। विवशता मे अपरिग्रही बनने और स्वेच्छा से बनने मे बुनियादी अन्तर है।

ने.· क्या मनुष्य आज अपरिग्रही हो कर जी सकता है ?

वि.· बिलकुल, बहुत-से लोग ऐसा कर रहे हैं।

ने.: लोभ-लालच इत्यादि इतने ज्यादा हैं।

वि.: वे तो है, थोडे-से आकर्षणो के कारण, फिर भी वह अपरिग्रही रह सकता है। २०-३० प्रतिशत लोग ही परिग्रहवादी है, शेष ७० प्रतिशत तो अपरिग्रहवादी ही है। वे प्रकृति के निमित्त से हैं, उनका अपना स्वभाव है कि 'क्या रखा है ससार मे, जो है उसी मे सतोष रखो'। लोग अनेक कारणों से अपरिग्रहवादी हैं, लेकिन जो उसे सिद्धान्तत मान कर /समझकर अपरिग्रही बनेगा, वह अनुभव करेगा कि अल्पपरिग्रही को सुख मिलता है और बहुत परिग्रही को नर्क-तुल्य दु ख भोगने पडते है। जितना ज्यादा-से-ज्यादा परिग्रह बढता चला जाएगा, उतना ही दु ख भी बढता जाएगा - शारीरिक अथवा मानसिक। वह यह भी अनुभव करेगा कि प्रकृति के साथ मिल-जुल कर रहना स्वास्थ्य/ आरोग्य के लिए कारणीभूत है। प्रकृति से हट कर जो भी हम करेंगे, दु.खद होगा।

ने.. श्रावक के संदर्भ में अपरिग्रह का अर्थ अल्प-परिग्रह की लेना चाहिये ?

वि.: हाँ, श्रावक खाने मे सयम रखता है, थाली मे दो ग्राम कम खाता है, ऊनोदर व्रत, रस-परित्याग आदि का पालन करता है। हमारे यहाँ उठते-बैठते भी त्याग की बात कही गयी है, यह इसलिए कि आपके पास अधिक धन है, तो उसे आप थोड़ा-थोड़ा खर्च कर सकते है, इसी प्रकार प्रकृति मे जो भण्डार है, उनकी भी अपनी सीमा है।

ने.: संग्रह की अपेक्षा त्याग पर हमे अधिक बल देना चाहिये।

वि.: गुणभद्राचार्य ने 'आत्मानुशासन' मे कहा कि मीठा है, इसलिए ज्यादा खाओगे, तो पेट मे कीडे पड जाएँगे, बीमार पड जाओगे, बदहजमी हो जाएगी, इसलिए तुम इतना ही खाओ, जितना तुम हजम कर सको। ज्यादा खाओगे, तो 'मीठा' तुम्हे खा जाएगा, इसलिए खाने मे सयम, पीने मे सयम, हर चीज मे संयम की जो बात कही गयी है, वह मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए है। 'त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा' ईशावास्योपनिषद् मे कहा गया है कि त्यागपूर्वक भोग करो।

ने.: सग्रह तो अभिशाप है।

वि.: बिलकुल।

ने.. जिस वर्ग का शोषण होता है, वह दु खी होता है, तो इस तरह तो संग्रह मे दु ख-ही-दु ख है, और त्याग मे सुख-ही-सुख है।

वि.: ठीक बात है, त्याग से मानसिक शान्ति और आनन्द भी प्रचुर मिलता है।

ने.. सबमे पहले अज्ञान का त्याग करना चाहिये।

वि.: थोडा भी ज्ञान हो जाए, तो फिर सग्रह मे कोई क्यो जकडेगा ?

ने.: श्रावको मे जैनधर्म की जानकारी कम होती जा रही है।

वि.: पचास साल पहले की अपेक्षा आज जानकारी कम नहीं है। बात यह है कि जैनधर्म के तत्त्व बड़े गूढ है, अत उनके जानने वाले कुछ आचार्य/विद्वान् ही हो सकते है।

ने.: लेकिन श्रावको को जैनधर्म की मौलिकताओ की जानकारी तो देनी होगी।

वि.: कुछ जानकारी माता-पिता से सामान्यतया होती है, वह परम्परा से प्राप्त है। कुछ प्रवचन द्वारा प्राप्त करते है, कुछ स्वतन्त्र स्वाध्याय से भी वैसा करते है। इस तरह श्रावको को जैनधर्म का थोडा-बहुत ज्ञान तो हो ही जाता है। आमतौर से सबको जैनधर्म के तत्त्वज्ञान की, उसकी मौलिकताओं की जानकारी मिले, इसके लिए एक स्वतन्त्र मशीनरी (तन्त्र) खडी करनी होगी।

ने.: पूरा प्रचार-तन्त्र खडा करना होगा।

वि.: हाँ, प्रचार-तन्त्र बनाना होगा। प्रत्येक परिवार और व्यक्ति से सम्पर्क करना होगा। ऐसा सस्था हो, जो गाँव-गाँव जा कर घर-घर पहुँच कर महिलाओ, पुरुषो को जैनधर्म के तत्त्वज्ञान को सरल भाषा और शैली मे समझाने वाला साहित्य दे। चल वाचनालय-पुस्तकालय की तरह एक पुस्तक देने के बाद पढ लेने की सूचना मिलने पर दूसरी पुस्तक दे कर उन्हे बराबर साहित्य सुलभ करता रहे। ऐसा ही शहरो मे भी किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से लोकसुगम साहित्य का निर्माण भी करना होगा।

ने.: लेकिन यह करेगा कौन ?

वि.: समाज मे जो जिम्मेदार व्यक्ति है वे करेंगे/करायेंगे, कुछ साधु भी मार्गदर्शन कर सकते हैं।

ने.: अभी तो लोगो का ध्यान इमारते खडी करने पर ज्यादा है, साहित्य पर वहुत कम है।

वि.. इस शताब्दी मे साहित्य तो प्रकाशित हुआ है, परन्तु पढने वालो की सख्या जितनी वढनी , या बढानी थी, उतनी बढी नही।

ने.· पाठको की संख्या कैसे वढाये ?

वि.: समझाया जाए कि कम-से-कम दस मिनिट पठन-पाठन मे देने चाहिये, स्वाध्याय करना चाहिये। आत्मा-अनात्मा का ज्ञान नही होगा, तो भेदविज्ञान की प्रगति कैसे होगी ? यदि ऐसा नही होगा, तो यह मनुष्य-जीवन निरर्थक है। नामधारी श्रावको मे भी इसके प्रति रुचि और श्रद्धा पैदा करनी होगी।

ने.: समाज का कोई तरुण आ कर पूछे कि जैनधर्म क्या है ? तो उसे जैनधर्म की ऐसी कौन-कौन-सी तीन-चार मौलिकताएँ हम बता सकते है ?

वि.: शास्त्रो मे स्पष्ट लिखा है कि सम्यग्ज्ञान से मनुष्य अपने दु ख दूर कर सकता है। जो हमारे दु ख दूर करने मे असमर्थ है, उसे हमारे आचार्यों ने सच्चा ज्ञान नही माना है। जो दु खो को दूर करे, वही सम्यग्ज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञान का कथन शास्त्रो मे कई स्थानो पर आया है। इस/ऐसे सम्यग्ज्ञान को जानने से वह स्वय अपने दु ख की निवृत्ति कर सकता है। उन्हे दूर भगा सकता है। प्रकाश आ जाए, तो अँधेरा जाता ही है। इसी प्रकार ज्ञान के आने पर अज्ञान दूर होता ही है, और अज्ञान दूर होने से वह सुखी हो सकता है। यही उसकी खुराक है। ढेर सारे ग्रन्थ पढ लिये, और यदि प्राप्त ज्ञान हमारा दु ख दूर नही कर सका, तो वह व्यर्थ है।

ने.: दूसरी मौलिकता आप उसे क्या बतायेगे ?

वि.: यह कि शक्ति के अनुसार, थोडा ही क्यो न हो, आचरण अवश्य करना चाहिये, जैसे, देवदर्शन करना, मन्दिर मे जा कर बैठना, पानी छान कर पीना उस भव्य/दिव्य मूर्ति को ध्यानपूर्वक देखते रहने से कुछ-न-कुछ वैराग्य तो उत्पन्न होगा ही। देवदर्शन को वहुत महत्त्वपूर्ण वताया गया है कि सौम्य/शान्त मूर्ति को ध्यानपूर्वक देखने से आँखो की चचलता दूर हो कर एकाग्रता सधने लगती है। यह एकाग्रता यदि बढती चली जाए, तो फिर तीर्थंकरो के गुण आदि जानने की जिज्ञासा और रुचि भी वढती जाएगी, इससे स्वाध्याय की प्रेरणा होगी। स्वाध्याय से ज्ञानवर्धन होगा, फिर सत्सग होगा जिससे आचरण लगातार सुधरता जाएगा।

ने.: तीसरी मौलिकता कौन-सी हो सकती है ? क्या उसका संबन्ध अहिसा से है ?

वि.: अहिसा से तो है ही, क्योकि जैनों को विरासत मे, परम्परा से, स्वभाव से भी, बचपन से ही अहिसा के संस्कार मिल चुकते है, यह ठीक है कि उन्हे विकसित करना चाहिये। हमारे

आचार्यो ने घोषणा की कि सारी दुनिया की प्रत्येक आत्मा अहिसक है, परन्तु है वह आशिक रूप मे जैसे, जैनाचार्यों ने कसाई को भी अहिसक माना है। वह कैसे ? वह अपने पाले हुए तोते को नही मारता। अपने पाले हुए पत्नी-वच्चो को नही मारता। वह पले हुए (दूध देने वाले) पशुओ को नही मारता, बल्कि उन्हे प्यार से पालता है। उसमे भी किंचित् अहिसक भाव है अत उसमे भी इसे व्यापक रूप से विकसित करने की जरूरत है। जहाँ-जहाँ अहिसा का भाव है, वहाँ-वहाँ उसे पोषण देने की आवश्यकता है। जैनधर्म की मौलिकता है - अहिसा परम धर्म है, लेकिन इसे चरितार्थ करने की जिम्मेदारी हम सव पर है। श्रावक का जीवन अहिसा से ओतप्रोत होना चाहिये।

ने. अचौर्य का कोई महत्त्व है ?

वि. अहिसा के बाद या साथ सत्य है, मनुष्य गृहस्थ रूप मे तो आंशिक सत्य ही बोलेगा। पूर्ण सत्य दुनिया में कोई बोल नही सकता, क्योकि सत्य होता है अनुभव-गम्य। आत्मा अनुभूति का विषय है और सत्य-का-साक्षात्कार अनुभूति के विना सभव नही है।

ने.· सत्य की अनुभूति आत्मानुभूति पर निर्भर करती है।

वि.· जैसे, आजकल कहते है 'पैसा दो नम्बर का'। जुवान से जो भी हम कहेगे वह दो नम्वर का सत्य होगा। बिना बोले जो भी हम अनुभव करेगे, वही अव्वल नम्बर का होगा।

ने.: वहुत अच्छा निष्कर्ष है।

वि.. पूर्ण सत्य का जुवान से कभी कथन नही हो सकता।

ने. अनुभूति-का-सत्य ही प्रामाणिक है।

वि.: वह प्रमाणिक भी है, और उपकारी भी। अहिसा, सत्य, अचौर्य - इस अनुक्रम मे अचौर्य अर्थात् किसी की कोई चीज यदि रखी या पडी हुई हो, तो उसका लोभ नही करना चाहिये। 'जो अपने पास है, वह भी मेरी-अपनी नही है, उसे भी छोडना है' जो यह भावना रखता है, वही सच्चा ज्ञानी है। परद्रव्य को पर तो सभी कहते है, लेकिन जो मेरे पास है, वह द्रव्य भी मेरा नही है, यह सयोगमात्र है, मुझे इसे छोडना ही होगा, मुझे उसमे आसक्त नही होना है, धीरे-धीरे अनासक्त होते जाना है, इसे भी वह हृदयगम करता जाता है।

ने.: और परिग्रह ?

वि.: इसके पहले व्रह्मचर्य है, शील है। हमारे आचार्यो ने शील और व्रह्मचर्य रूपी सयम की जो वात कही है, वह वड़ी दूरदृष्टि से कही है। सयम न रहने के कारण आज लोकसख्या मे जो अमर्याद बढोतरी हो रही है, उससे चारों ओर हा-हाकार है, लोग घवरा रहे है। लोकसख्या को सीमित रखने का ध्येय राष्ट्र-हित के सिद्धान्त मे निहित है। आचार्यों ने सयम का उपदेश दे कर मात्र व्यक्ति का हित ही नही देखा, वरन् उसका पारिवारिक हित भी देखा, राष्ट्रीय हित भी देखा,

सामाजिक हित भी देखा। असयमी जीवन से जो जनसंख्या बढेगी, वह सबके लिए दु खदायी होगी, हमारे आचार्यों ने इसे स्पष्टतया देख लिया था, तभी तो उन्होंने संयम, शील, और ब्रह्मचर्य पर इतना जोर दिया।

देखिये, सुखमा-सुखमा काल मे युगलिये जनमते थे। कालान्तर मे जन्म की अन्य प्रक्रिया ने स्थान ले लिया, इसलिए तीर्थकरो ने शुरू से ही संयम की बात कही। फिर आचार्यों ने जोर दिया। ब्रह्मचर्य मे स्वहित तो है ही, राष्ट्र का हित भी है। यह इसलिए भी कि यदि तुम पुत्र/पुत्री की संख्या बढाते चले जाओगे, तो उसी मात्रा मे दु·ख मे भी वृद्धि करते जाओगे। संयम, शील और ब्रह्मचर्य ही सुख के कारण है, या यो कहिये इनमे ही सुख सन्निहित है। इस प्रकार सयम,शील और ब्रह्मचर्य से जो सन्तति-निरोध होता है, वह व्यक्ति-हित के साथ समाज और राष्ट्रहित मे है। कृत्रिम उपायो से जो सन्तति-निरोध होता है, वह कभी सफल नही हो सकता। उसकी पृष्ठभूमि पर भय और आतंक है।

ने.: शास्त्रो मे बहुत अमृत है।

वि.: है, शास्त्रोक्त मार्ग (सयम, शील, तथा ब्रह्मचर्य) से ही अमर्याद जनसंख्या की वृद्धि को रोका जा सकता है, उसे नियन्त्रित किया जा सकता है।

ने.: अब अपरिग्रह।

वि.: देखिये, दुनिया मे हिसा है, इसलिए अहिसा है। असत्य है, इसलिए सत्य है। चोरी है, इसलिए अचौर्य है। अब्रह्म है, इसलिए ब्रह्मचर्य है और परिग्रह है, इसलिए अपरिग्रह है। दोनो स्थितियाँ परस्पर-विरोधी है। प्रकाश है, तो अँधेरा है। ये द्वन्द्व अनादि से है। आवश्यकता से अधिक अपने पास नही रखना चाहिये; अपरिग्रह की मूल भावना यही है।

ने.: अर्थात् परिमाण या सीमा निर्धारित करना।

वि.: हाँ, इससे हमारे मन की आकुलता कम हो जाएगी। धर्मध्यान मे भी योगदान मिलेगा। यह बहुत बडा सिद्धान्त है। लौकिक अपरिग्रहवाद को महात्मा गाँधी ने व्यावहारिक रूप दिया। आज भी ऐसे बहुत सारे श्रावक है, जिनके पास परिग्रह बहुत कम है। यदि कुछ है भी तो काफी सीमित है, अल्प है। वे सतोषी है, आनन्दपूर्वक रहते है।

ने.: यदि बाह्य परिग्रह कम होगा, तो भीतर का खुद-ब-खुद कम हो जाएगा।

वि.. बिलकुल होगा। दोनो एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं।

ने.: 'व्यसन' क्या है ?

वि.: 'व्यसन' एक सामान्य शब्द है। आचार्य समन्तभद्र ने तो यहाँ तक कह दिया कि भगवान् के प्रति कुछ-न-कुछ व्यसन है। व्यसन रहे कि पैर तीर्थयात्रा के लिए समर्थ बने रहे, भगवान् हाथ आपके चरणो मे झुकने के लिए समर्थ रहे, जो जुबान है, वह आपके गुणगान

के लिए समर्थ रहे , आँखे आपके दर्शन के लिए जो जुवान है, वह आपके गुणगान के लिए समर्थ रहे, आँखे आपके दर्शन के लिए समर्थ बनी रहे । मेरा मस्तक आपके सम्मुख झुकने के लिए तत्पर रहे, अर्थात् मेरे सारे अगोपागो को यह व्यसन हो कि वे सब आपके प्रति समर्पित रहे । इन्हे यह व्यसन हो कि ये सब धर्ममय हो जाएँ।

ने.: मुझे लगता है, व्यसन मे जो 'वि' उपसर्ग है, उसके दो अर्थ है- 'विशिष्ट'और 'विकृत' ।

वि.: सही है । बहुत अच्छी बात कही आपने । 'व्यसन' 'विकृत' के अर्थ में अधिक प्रचलित है ।

ने.: नशे मे विवेक समाप्त हो जाता है, व्यक्ति विवेक-शून्य हो जाता है ।

वि.: इसलिए व्यसन जो भी हैं, दु खदायी हैं । इस प्रकार हम साफ-साफ देखते है कि सारे व्यसन दु खदायी होने के साथ-साथ विनाशकारी भी है । तीर्थंकरो और आचार्यों का समाज पर यह आशीर्वाद ही है कि हमारे समाज का एक बडा भाग कलियुग मे भी इन व्यसनो से बचा हुआ है । जैन समाज आज आदर्श रूप मे जीवित है । विषम काल मे भी यदि हम इन व्यसनो से अपने परिवार और बच्चो को बचाने का पुरुषार्थ नही करेगे तो हमे यह कल किसी गहरी खाई मे धकेल देगे ।

ने.: आपने जैन समाज को स्पष्ट शब्दो मे चेतावनी दे दी है कि यदि वह व्यसन-मुक्त नहीं रहा तो उसका अध पतन हो जाएगा । जैन शास्त्रो मे तो मुख्य व्यसन सात बताये गये है । थोडा उनके सबन्ध मे बताइये ।

वि.: व्यसन तो वैसे अनन्त है, लेकिन शास्त्रो मे उन्हे सात की सीमा मे गिना दिया गया है । जैसे · जुआ, शराब, मास, वैश्या-गमन, शिकार, चोरी, और परदारा-सेवन । ये सब दु ख के कारण है । इनसे बचना चाहिये । आज इनमे से कुछ को प्रोत्साहन मिल रहा है । जुआ बढता जा रहा है ।

ने.: कोई कल्पना नही कर सकते ।

वि.: कल्पनातीत है यह क्षति, इसलिए इनसे बचना चाहिये, परिवार और समाज को बचाना चाहिये । यह साफ-साफ समझ लेना चाहिये कि व्यसन बुद्धि का नाश करते है, विवेकशून्य बनाते है, और व्यक्ति, परिवार तथा समाज को बर्बाद कर डालते है ।

ने.: एक व्यसन-मुक्त समाज के लिए हम क्या करे ?

वि.: अपने आदर्श सामने रखे । एक आदर्श घराना किसे कहेगे ? जिस घर मे ये सात व्यसन नही है , वह आदर्श है । बडी-बड़ी बिल्डिग-बगले, अट्टालिकाएँ, अपार धन-दौलत, बेशकीमती कपड़े, बहुमूल्य गहने-इन और ऐसी चीजो से कोई घराना बडा नहीं बनता । निर्व्यसनी

घराना ही आदर्श घराना है, वही सबसे बडा है। इक्ष्वाकु वंश का जो वर्णन हम पढ़ते है, वह एक आदर्श घराने का वर्णन है। आदर्श घरानो की उज्ज्वल परम्परा रही है कि प्रारंभ मे विद्याध्ययन तदुपरान्त घर-गृहस्थी मे सात्त्विकता। गृहस्थी भी तब तक रहे, जब तक बुढापा न दबोच ले। जब बुढापा आने लगे तो त्यागमय जीवन व्यतीत करे, अपना समय तीर्थयात्रा मे, स्वाध्याय-धर्मध्यान मे बिताये, मरण समीप आ जाए, तो भगवान् का नाम लेते हुए स्वेच्छा से शरीर छोड दे। ये है एक आदर्श घराने की पहचान।

ने.: बड़ा घराना। एक झोपडी मे भी वह हो सकता है। शायद अमीरी, या गरीबी से उसका संबन्ध नही है।

वि.: यह है। बड़ा महल हो और उसमे रहने वाले व्यसन-मुक्त न हो तो, वह झोपड़ी से भी गया-बीता है।

ने.: यदि हम श्रावको के लिए कोई आचार-सहिता बनाना चाहे, तो उसके प्रमुख सूत्र क्या होंगे ?

वि.: उत्कृष्ट श्रावकाचार दो है एक, पं. आशाधरजी (सागर धर्मामृत का, दो, आचार्य श्रीसमन्तभद्र (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) का। पहले मे पाक्षिक श्रावक को प्रमुखता दी गयी है और दूसरे मे व्रतिक श्रावक को।

ने.. पाक्षिक और व्रतिक श्रावक मे क्या अन्तर है ?

वि.: पाक्षिक और व्रतिक विभाजन क्यो हुआ, यह तो शोध (रिसर्च) का विषय है। सामान्य रूप मे इतना कहा जा सकता है कि जिसने तीन मकारो (मद्य-मास-मधु) का त्याग किया है, वह पाक्षिक श्रावक है। व्रतिक श्रावक तीन मकारो को त्याग कर पाँच अणुव्रतो का भी पालन करता है। एक श्रावक मे अष्ट मूलगुण होने ज़रूरी है।

ने.: इसका मतलब तो यह हुआ कि एक श्रावक को कम-से-कम मांस-अण्डा आदि के सेवन से बचना चाहिये, या बचाया जाना चाहिये।

वि.: पाक्षिक श्रावक के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि तीन मकारो (जिनमे मास-अण्डे आदि त्याज्य/अभक्ष्य पदार्थ है ही) का वह दृढतापूर्वक त्याग कर सकल्प का कठोरतापूर्वक सावधानी से साथ मात्र पालन ही न करे,अप्रत्यक्ष रूप से भी उन्हे त्याज्य समझे/माने। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति मे भी वह शाकाहारी ही रहे। श्रावक की आचार-संहिता के इस प्रथम सूत्र का हमे व्यापक प्रचार-प्रसार करना चाहिये और नामधारी श्रावक या सामान्य श्रावक को दृढतापूर्वक चरितार्थ करने की/जागरूकतापूर्वक पालन करने की प्रेरणा देना चाहिये। खान-पान से संबन्धित यह सर्वप्रथम सूत्र है।

ने.: दूसरा सूत्र ?

वि.: देवदर्शन और स्वाध्याय, यह दूसरा सूत्र है। तीर्थंकरो की मनोज्ञ-दिव्य मूर्तियो का दर्शन नित्य कर्त्तव्य होना चाहिये। भगवान् का जलाभिषेक देखने से चित्त की शुद्धि होती है और उसे शान्ति मिलती है। यदि वह अभिषेक-पूजा आदि में उत्तरोत्तर बढता जाएगा तो स्वाध्याय आदि से वह अपने जीवन को अधिक स्वच्छ और स्वस्थ बना सकेगा।

आज प्रचार-प्रसार का युग होते हुए भी बहिरंग वातावरण से बचना-बचाना बहुत मुश्किल है। रेडियो/टेलिविजन आ गये हैं, पिक्चरे (फिल्म्स) आ गयी - इन साधनो और माध्यमो के कारण विकृतियो का फैलाव हो रहा है। सिन्धु मे अमृत की एक बूँद डाल कर उसे कैसे बचाया जा सकता है ? समस्या जटिल है, फिर भी एक हवा है। महात्मा गाँधी ने तो यहाँ तक कहा था कि किसी भी खिडकी से यदि शुद्ध हवा आ रही हो, तो उसे ले लो, किन्तु यदि उसमे-से धूल-कचरा आयेगा तो फिर उसे बन्द करना होगा। इस प्रकार आपके बहिरग वातावरण मे जो अच्छाइयाँ हो, उन्हे ले लो, लेकिन जो बुराइयाँ है, वे हमारे विनाश का कारण न बने, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखो। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल वातावरण मे भी श्रावक धार्मिक जीवन जीते हुए आत्मोन्नति कर सके, इसलिए आचार-संहिता मे ऐसे सूत्रो या नियमो का समावेश हम कर सकते है।

(तीर्थंकर, वर्ष १४, श्रावकाचार-विशेषाक अक ११,१२, मार्च-अप्रैल, '८५)

श्रावक : एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक

डॉ. नेमीचन्द जैन : जो श्रावक है वह अपना दिन कैसे शुरू करे ? जब सूर्य उदित होता है क्या तब वह उसकी अँगुली पकड कर अपना दिन आरभ करे या उसके पहले वह उठ जाए ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : द्वादशाग के अनुसार चतु सघ मे श्रमण, श्रमणा, श्रावक और श्राविका का समावेश है। श्रमण आत्मकल्याण के लिए प्रयत्नशील रहते है। श्रमणा वह साध्वी है जो घर-बार छोडकर साधनारत रहती है। श्रावक और श्राविका गृहस्थ हैं। इनके लिए धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष-पुरुषार्थ बताये गये है। इनमे-से एक को भी निकाल दे, तो गृहस्थ पगु हो जाएगा।

ने.: यदि दो निकाले तो ?

वि.: दो निकाले तो वह गृहस्थ नही रह सकता। एक निकालने से भी वह कमजोर हो जाएगा-अपने साधना-मार्ग मे, गार्हस्थिक मार्ग मे। इन पुरुषार्थों के बीच मे अर्थ-काम रखे गये है। धर्म के आरभ मे रहने से वह एक तरह से 'ब्रेक' है इन दोनो पर। अर्थ पर ब्रेक है और भोग्य वस्तु (काम) पर भी। यदि धर्म न हो तो अर्थ-काम-दोनो स्वच्छन्द हो जाएँ। धर्म को निकाल दे, तो मोक्ष की साधना नही हो, और यदि धर्म, अर्थ, काम मे-से मोक्ष को निकाल दे, तो ध्येय-रहित हो जाएँ, क्योकि मोक्ष ही तो हमारा परम/चरम लक्ष्य है, इसलिए मोक्ष को तो निकाल ही नहीं

सकते। पुरुषार्थों के इस वर्गीकरण मे सब मे पहले धर्म को रखा है। 'कामद मोक्षद चैव ॐकाराय नमोनम '-भगवान् को नमस्कार करते समय, मगलाचरण करते समय, इष्टसिद्धि के लिए, शान्ति-प्राप्ति के लिए ऐसा कहा गया है। इनमे मोक्ष ही परम ध्येय है।

ने.: श्रावक जो भी पुरुषार्थ करे, वह धर्म के नेतृत्व मे करे ?

वि.: हाँ, लेकिन वह धर्म कही मन्दिर मे, उपासना-स्थान मे, पुस्तक मे, मकान मे अथव दुकान मे नहीं है; वह तो चित्त/हृदय मे है। श्रावक चाहे कही हो खेत मे, कारखाने मे, दफ्तर मे दुकान मे, धर्म सदैव उसके साथ है।

ने.: छाया की तरह ?

वि.: वह तो अभेद है। छाया जब हम मकान मे बैठ जाएँगे, तो लुप्त हो जाएगी, परन्तु धर्म जल और उसकी शीतलता, अग्नि और उसकी उष्णता की तरह अभिन्न है।

धरम करत ससार सुख, धरम करत निर्वाण।
धरम पन्थ साधे बिना, नर तिर्यञ्च समान॥

यह है धर्म की महत्ता और उपादेयता। धर्म-के-साथ-ही गृहस्थ/श्रावक का जीवन जीव है, इसलिए चारो पुरुषार्थों मे-से एक भी पुरुषार्थ के छोड़ने से उसे जो सफलता मिलनी चाहिये उसे जो सिद्धि प्राप्त होनी चाहिये, वह नही मिल सकेगी। इस प्रकार यदि उसे संसिद्धि तक पहुँचन है, तो चारो पुरुषार्थो की आवश्यकता रहेगी।

ने.: यह तो आपने ध्येय-संबन्धी मार्गदर्शन दिया; प्रश्न यह है कि वह (श्रावक) अपन सबेरा शुरू कैसे करे ?

वि.: प्रात काल/उष काल को मंगल काल भी कहते है, परन्तु मात्र सूर्य का उदय ही मगर नही है। सूरज के साथ हमारा मन भी उगना चाहिये। उसमे भी प्रकाश आना चाहिये। उसमे प्रकाश आने के लिए रात-भर निद्रा लेने के बाद इन्द्रिय, मन, मस्तिष्क बिल्कुल साफ-सुथरे रहते है स्वच्छ होते है, अत उन पर कुछ भी लिखने से पहले भगवान् का नाम-स्मरण लिखे। एक बा फिल्म खीचने पर, फिर दोबारा उसी पर खीचते है, तो दिक्कत पैदा हो जाती है। इस तरह व प्रात.काल अपने मन पर, आत्मा पर अच्छे संस्कार करे। उन सस्कारो के द्वारा चौबीसो घण्टे हमा विचार मगलमय/शुभ रह सकते है।

ने. आपने कुम्हार के चाक का उदाहरण दिया था।

वि.: जैसे कुम्हार घडा बनाने के लिए डण्डा डाल कर चाक घुमाता है पर डण्ड निकालने के बाद भी चाक घूमता रहता है। यदि प्रात काल हम पचपरमेष्ठी का नाम-स्मरण करे, तो यह एक तरह से डण्डा है, इससे हमारे मन मे उत्तम-से-उत्तम तरंगे उठ सकती है, और उससे

आत्मा लाभान्वित हो सकती है। इससे विवेक-बुद्धि भी जागृत होगी, वह विवेकवान् भी बनेगा, इसलिए विवेक को जागृत रखने के लिए श्रावक को प्रात काल सर्वप्रथम भगवान् का स्मरण करना चाहिये। थोडी-सी जाप कर ले, या स्तुति बोले, और उस समय घर के काम आदि से निवृत्त हो कर यह चिन्तवन करे कि 'मै कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ ? मुझे क्या प्राप्त करना है ? मेरी आत्मा मे कौन-कौन गुण विद्यमान हैं ? मै एक शुद्ध-बुद्ध आत्मा हूँ, चैतन्य-स्वरूप हूँ। मुझ मे सिद्ध भगवान् बनने की शक्ति है। मेरी आत्मा भी केवलज्ञान-सपन्न है। मुझे उसे प्रकट करना है।' जैसे फूल की कली होती है, खुशबू उस कली मे है। हमारी आत्मा वर्तमान मे ससार मे होने के कारण कली है। जैसे कली खिल जाने के बाद खुशबू आती है, उसी तरह हमारी आत्मा के खिल जाने से आत्मसिद्धि प्राप्त होती है।

ने.: श्रावक प्रात काल आत्मचिन्तवन करे। ठीक है। अब यह बतलाइये कि श्रावक पहले उठे, या श्राविका ?

वि.: हमारे यहाँ ऐसा कोई भेद नही है। यह अन्याय होगा कि पहले इसे बता दे या उसे, परन्तु परिपाटी के अनुसार महिलाएँ पहले उठती है। यह भी कहा गया है कि जैसे मन्त्री सलाह देता है, उसी तरह स्त्री अपने पति को सलाह दे, जिससे वह धर्म-मार्ग पर तत्पर रहे। वह यह भी ध्यान रखे कि उसका पति आदर्श श्रवक बने, कोई अनुचित/धर्म विरुद्ध काम न करे, वह राष्ट्र, देश, समाज और परिवार के लिए सत्कार्य करे, अर्धांगिनी उसे इसीलिए कहा है-हमारे साहित्य मे।

ने.: तो श्राविका का कर्तव्य हुआ। वह उठे कब ?

वि.· यही तो बताया है कि वह परिवार मे सबसे पहले उठे। यह एक नीति है, परिपाटी है, लेकिन यह धर्म नही है। धर्म की दृष्टि से बात करें, तो कोई भी पहले उठे। हर व्यक्ति को पहले उठना चाहिये- यह उसका अपना धर्म है।

ने.: क्या श्राविका श्रावक को जगाये ?

वि.: जो पहले उठे, वह जगाये।

ने.: ऐसा कुछ रचनात्मक समझौता दोनो मे होना चाहिये। इनके बाद वह क्या करे ?

वि.: इसके बाद हमारे यहाँ परिपाटी है कि स्नानादि करके मन्दिर जाए और भगवान् के दर्शन करे। वीतराग मूर्ति के दर्शन से आँखो की जो चचलता होती है, वह स्थिर हो जाती है। ऐसी भव्य/दिव्य मूर्ति की ओर एकाग्रतापूर्वक टकटकी लगा कर देखने से आँखो की ज्योति भी बढती है और कषाये भी उतनी देर के लिए मन्द हो जाती है। घर-गृहस्थी/परिवार को उतनी देर के लिए भूल भी जाते है। भेद-विज्ञान भी ध्यान मे आने लगता है कि ससार असार है। भगवान् के पास तो कोई परिग्रह नही है, वे तो शान्त भाव से अपनी आत्मा को देख रहे है। मैंने और-और चीजे तो प्राप्त कर ली, लेकिन अपनी आत्मा को तो देखा ही नही - ऐसी भावना स्फूर्त होती है।

ने.: स्नानादि करके वह यह करे।

वि.: वह दर्शन करे, जाप करे, स्वाध्याय करे। वह भगवान् को भक्तिपूर्वक प्रणाम करे - अजलि-बद्ध प्रणाम करे, यह अर्चना है। भगवान् के प्रति पूज्य भावना रखे। पंचाग नमस्कार करे, स्मरण करे। इस तरह अपने यहाँ प्रात काल उठ कर देव-दर्शन करने की परिपाटी है, उसे देव-पूजा भी कह सकते है।'रयणसार' मे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा कि श्रावक-धर्म मे दान और पूजा मुख्य (कर्तव्य) है। उनके (दान और पूजा के) बिना श्रावक श्रावक नही होता। यह भी बतलाया है कि जो श्रावक दान नही देता, धर्म का पालन नही करता, त्याग नही करता, न्यायपूर्वक भोग नहीं करता, वह बहिरात्मा है। वह ऐसा पतिगा है, जो लोभ-कषाय-रूपी अग्नि के मुख मे पड़ कर मर जाता है। कहने का आशय यह है कि श्रावक लोभ-कषाय को कम करने के लिए दान दे, भगवान् की पूजा करे। यदि कोई अतिथि मिल जाए, तो उसका सत्कार करे, व्रती को शुद्ध आहार दे, क्योकि साधु-व्रती के आने से परिणामो मे निर्मलता आती है। साधु के हाथ मे रोटी (आहार) रखना धर्म नही है, रोटी रखते समय जो आनन्द होता है, वह धर्म है। भगवान् के सामने स्तुति बोलते है, 'भक्तामर स्तोत्र' आदि, वह कोई धर्म नही है, वे तो अक्षर है, लेकिन गुणगान करते समय जो आनन्द होता है, वह धर्म है।

ने.: उल्लास।

वि.. हाँ, हाथ जोडना, स्तुति बोलना-यह तो बाह्य क्रिया है, अन्दर जो भक्ति है, वह भाव-क्रिया है।

ने.: लेकिन मै आप से एक ऐसे श्रावक के विषय मे विचार कर रहा हूँ, जो इस जमाने मे रह रहा है, जहाँ हिसा बहुत तेजी से चारो तरफ फैल रही है इन सन्दर्भों को ध्यान मे रख कर क्या वह इतना समय दे सकेगा सुबह का ?

वि. बात यह है, समय कौन कितना देगा-यह महत्त्वपूर्ण नही है। घण्टो समय दे, पर मन नही लगा, तो वह सब निरर्थक है। पाँच मिनिट भी प्रात काल यदि वह धर्मध्यान मे दे, उसमे वह अच्छी तरह आत्मा मे एकाग्र हो कर डूब जाए, तल्लीन हो जाए, उसे अच्छी तरह से जाने तो उसका लाभ अधिक है।

ने.: क्या बच्चे को भी हम श्रावक कहेगे ?

वि.: आठ वर्ष उम्र समाप्त होने पर उसे श्रावक कहेगे। तीन मकार (मद्य-मांस-मधु) का त्याग करवाते है, पच अणुव्रतो को पालन करने को कहते है। आठ वर्ष की उम्र के बाद ही बच्चे भी अष्ट गुणो को पालते है। लिखा है कि आठ वर्ष के बाद ही उसमे इस तरह की परिपक्वता सभव है। हमारे यहाँ यह परिपाटी है कि जब बालक मे थोडी-सी चेतना आ जाती है तब उसे णमोकार-मन्त्र सुनाते है - ४० या ४८ वे दिन मन्दिर ले जाते हैं।

ने.: क्या उसके पहले हम उसे श्रावक की सज्ञा दे सकते है ?

वि.: कुल-परम्परा से कह सकते है, परन्तु आठवे साल के बाद संस्कार देने, संकल्प लेने के बाद ही उसे श्रावक कह सकते है। जब वह बोलना शुरू करता है, तब उसके माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी या जो भी धार्मिक रुचि रखते है, तोतली बोली मे भी उसे 'णमोकार-मन्त्र' का उच्चारण करवाते है। आगे चल कर उसे णमोकार-मन्त्र की महत्ता, उपयोगिता, और सार्थकता की प्रतीति होने लगती है कि किस प्रकार यह णमोकार-मन्त्र कर्मनाशक है, कैसे इससे आत्मा की शक्ति बढती है, कषाय शान्त हो जाती है, विघ्न/सकट दूर होते है, मगल भावना मे वृद्धि होती है। धीरे-धीरे यह सब समझते हुए वह श्रावक होने लगता है।

ने. देव-दर्शन मे वय का कोई बन्धन नही है।

वि.· कोई बन्धन नही है। बालक अपने माता-पिता की अँगुली पकड कर मन्दिर जाता है, वह अनुकरण-प्रिय होता है। जैसा उसके अभिभावक दर्शन करते है, वह करता है, इस तरह उसमे भी देव-दर्शन के सस्कार उभरने लगते है।

ने.: मान लीजिये, ऐसा करते हुए श्रावक को प्रात आठ बज गये, तो फिर वह क्या करे ?

वि.: ऐसा करते-करते आठ बजना जरूरी नही है, कोई प्रात पाँच बजे उठ कर भी साढे छह बजे तक ऐसा कर लेगा। उसके बाद उसे दुकान जाना है, ऑफिस जाना है। घर का थोड़ा-बहुत काम करके वह भोजन के बाद दुकान, ऑफिस, फैक्टरी जाए। वहाँ से लौटने के बाद शरीर-धर्म का पालन करने के लिए आहार ले कर शास्त्र-वाचन करे यानी स्वाध्याय करे कि 'संसार क्या है ? पाप-पुण्य किसे कहते है ? सप्त तत्त्व कौन-कौन-से है ? षट् द्रव्य क्या है ? गृहस्थ की व्रत-निष्ठा क्या है ? भोजन मे भक्ष्याभक्ष्य का विवेक कैसे रखना चाहिये ?' इस तरह वह गृहस्थोचित जो-जो क्रियाएँ है उनकी समुचित जानकारी प्राप्त कर विवेकपूर्वक अपनी चर्या को नियमित करे। भक्ष्याभक्ष्य का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पडता है, शुद्ध शाकाहारी सस्कृति के मानने वाले होने के नाते श्रावक को भोजन के सात्त्विक, निर्दोष, और स्वास्थ्यप्रद होने का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये, शाकाहार मे भी जो भक्ष्य पदार्थ है, उनका भी मर्यादित सेवन करना चाहिये, क्योकि भक्ष्य भी अमर्याद खाने से रोग आदि पैदा कर सकते है।

ने व्यवसाय करते हुए वह क्या दृष्टि रखे ?

वि.: श्रावक को व्यवसाय करना है गृहस्थी चलाने के लिए। सन्तानोत्पत्ति भी वह गृहस्थी चलाने के लिए करता है। वह विलासिता अथवा संसार मे वासना आदि में फँसने के लिए नहीं करता। वह तो हमेशा उससे निर्लिप्त रहने का प्रयत्न करता है, जैसे अभ्रक होता है, उसे सामने रखने से गरमी नहीं आती। इस तरह श्रावक संवर रखता है। हर बात मे संवर-नाक, कान,

जिह्वा आदि का संवर। जैसे खिड़की से जब तक शुद्ध हवा आती है, तब तक उसे खुला रखते है; अशुद्ध हवा आने पर बन्द कर देते है। इसी प्रकार श्रावक परिणाम-विशुद्धि हो रही हो तब तक कर्म करता है वातावरण शुद्ध/सात्त्विक है तो खुला रहता है; जब वातावरण मे प्रदूषण आदि का खतरा हो जाता है, तब वह खिडकियाँ बन्द कर लेता है, इसलिए अपने मन को स्वच्छ रखने के लिए आठो याम सतर्क रहना चाहिये, जागरूक रहना चाहिये-कैसे परिणाम सुधरते है, कैसे बिगड़ते है ? यह जीव कैसे अनन्त ससार-परिभ्रमण करता है-यह भी उसे समझना चाहिये। हमारे यहाँ प्रथमानुयोग मे कथा-कहानियाँ है, जैसे भरत चक्रवर्ती तो घर मे रहते हुए भी वैरागी रहे।

इस तरह 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' का ३३ वाँ श्लोक मननीय है

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान् ।
अनगोरो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुने ॥

(*निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्गी है, किन्तु मोहग्रस्त गृहत्यागी मुनि मोक्षमार्गस्थ नहीं है;* जो भी गृहस्थ मिथ्या-दर्शन-रहित सम्यग्दृष्टि है वह दर्शन-मोह-से-युक्त मिथ्यादृष्टि मुनि से श्रेष्ठ है।)

अर्थात् गृहस्थ यदि परिपक्व विवेकी है, तो वह घर मे रहते हुए भी त्यागी-जैसा निराकुल, निर्लिप्त अपना जीवन व्यतीत करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि हमने मोह कितना कम किया है; मोह कितना कम किया-इस पर ही सारा निर्भर होने से गृहस्थ अपने घर मे रह कर भी वैरागी रह सकता है, बशर्ते वह साधना करे।

ने. · जिस दफ्तर मे वह काम करता है, वहाँ उसे ५-६ तो बज ही जाते है; घर लौटते-लौटते सात-आठ बज जाते है, ऐसी स्थिति मे रात्रि-भोजन के सदर्भ मे क्या करे ?

वि. · श्रावक चार प्रकार के है नाम श्रावक, स्थापना श्रावक, द्रव्य श्रावक और भाव श्रावक। भगवान् महावीर के समय मे भी श्रद्धा रखने वाले थे, धर्म का पालन करने वाले भी थे, लेकिन उनकी सख्या कम थी, तब भी हमे प्रयत्न तो करना चाहिये, जितना हो सके, उतना तो करना ही चाहिये, और जो नही हो पाता हो, उसके लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिये। कम-से-कम मन मे ग्लानि तो होनी चाहिये कि रात्रि मे नहीं खाना चाहिये। इतना समझ लेना चाहिये कि रात्रि-भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से और परिणामो की दृष्टि से हानिकारक है, क्योकि हमारा जो नाभि-कमल है, वह सूर्योदय के साथ खुलता और खिलता है तथा सूर्यास्त के साथ बन्द और अस्त होता है, जैसे तालाब मे कमल। नाभि-कमल का संबन्ध सूर्य से है। सूर्यास्त के साथ-साथ वह भी सोने लगता है। यह स्पष्ट है, सोया हुआ आदमी अन्न नही पचा सकता। यदि अधपच या अपच रह जाए, तो वह दु खदायी हो जाता है।

ने.: नाभि-कमल की बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसका तो अधिकांश लोगो को पता ही नहीं है।

वि.: सूर्य के प्रकाश मे हमारा जो नाभि-कमल है, उसमे अग्नि उद्दीप्त रहती है, जव नाभि-कमल सो जाता है (सूर्यास्त के वाद), तो उसकी अग्नि मन्द पड जाती है। यदि अगीठी मन्द हो, तो उस पर थोडा कुछ भी डालेगे, तो वह बुझ जाएगी, उसी तरह रात्रि मे नाभि-कमल पर जो भी अन्न पडता है, वह मन्द पाचन की अपेक्षा से अपचित रह जाता है। नाभि-कमल की अग्नि मन्द होने से, उस पर वोझ पडने से उसके वुझने का खतरा भी रहता है। इसी तरह यदि एक वार अग्नि मन्द हो जाए, तो फिर वह मन्दतर होती जाती है। रात्रि मे भोजन करने से इन्द्रियाँ कमज़ोर पडने लगती हैं, कई बीमारियाँ लग जाती है, वुढापा आने लगता है, इन्द्रिया ठीक तरह से काम नही करतीं, इस तरह रात्रि-भोजन न केवल अस्वास्थ्यप्रद है, वल्कि हमारे परिणामो को भी तामसिक वनाता है।

ने.: भोजनोपरान्त श्रावक क्या करे ?

वि.: शाम के भोजन के वाद सभव हो तो वह मन्दिर जाए, वहाँ तत्त्वचर्चा करे, स्वाध्याय करे, भजन वोले, कुछ सामाजिक चिन्तन करे, जैसे समाज मे आज दहेज की कुप्रथा कैसे दूर हो सकती है, अन्य सामाजिक बुराइयाँ कैसे दूर हो, इन पर परस्पर विचार-विमर्श करे, कार्यक्रम वना कर उन्हे दूर करने का प्रयत्न करे। समाज मे जो दु खी है, पीडित है, उपेक्षित है, उनकी मदद किस प्रकार की जा सकती है इस दिशा मे सक्रिय क़दम उठाये। समन्तभद्राचार्य ने सामायिक पाठ मे कमाल की बात कही है 'सत्त्वेषु मैत्री' सारे ससार-भर के साथ मैत्रीभाव रखो, और जो गुणवान् है, उनके साथ प्रमोदभाव रखो, परन्तु 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्' जो दु खी जीव है, उनके दु ख दूर करने के लिए चिन्तन करो, उपाय करो, उनकी मदद करो। यह सामायिक का ही हिस्सा है। केवल आँख मूँद कर बैठना सामायिक नही है, सामायिक मे समताभाव आना चाहिये और समता भाव के लिए 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'-जीव परस्पर उपकार करके ही जी सकता है, इसलिए यदि मनुष्य स्वय को सुखी वनाना चाहता है, तो 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्'-दुःखी जीव हैं। उनके दु खो को देखे ताकि खुद उसकी तीव्रता को समझ सके। वारह भावनाओं का चिन्तवन करने से उसमे विरक्ति रहेगी, लेकिन यह सव कुछ करना है, अपनी आत्मा को समझने के लिए; क्योकि इसी मे आत्महित सन्निहित है। आत्महित-मे-ही-परहित है। अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्ट कर दिया कि समयसार की व्याख्या मै अपनी आत्मा की विशुद्धि के लिए कर रहा हूँ, दूसरो के लिए उपयोग हो जाए तो उत्तम है, लेकिन मुख्य ध्येय आत्मविशुद्धि ही है। जो अपने लिए कुआ खोदता है, तो वाहर के चार लोग उसका पानी पीते ही है। यह है स्वार्थ-मे-से परार्थ।

ने.: एक बात बताइये कि क्या श्रावक की दिनचर्या मे मनोरंजन के लिए कोई स्थान है ?

वि.: है । जो हमारे साहित्य मे कथा भाग है, जैसे बचपन मे हम अकलक-निकलक क नाटक देखते थे, जो वैराग्योत्पादक होने के साथ समाज का ढाँचा सुन्दर बनाये रखने के लिए ससार के दु खी जीवो के कल्याण के लिए, ससार की असारता दर्शाने के लिए मनोरजन के साथ आत्मरजन भी था। मनोरजन तो थके हुए मनुष्य की थकान उतारने के लिए है, और आत्मरजन है खुद को समझने और सम्यक्त्व पर दृढ होने के लिए।

ने.: सोने के पूर्व श्रावक क्या करे ?

वि.: 'णमोकार' का जाप करे, 'चत्तारि मगल' पढ़े, शास्त्रो से उद्‌बोधक/प्रेरक सुभाषित आदि का चिन्तवन करे, आत्मचिन्तन करे, इस तरह आत्मचिन्तन करता हुआ सो जाए, तो उसे नि स्वप्न नीद आयेगी।

इस बात भी ध्यान मे रखनी है कि गृहस्थ उपासक हो सकता है,क्योकि उसके एकदेश निर्जरा है और एकदेश त्याग है। मुनि तो अपनी आत्मा का ही उपासक है, जबकि गृहस्थ भगवान की उपासना कर सकता है, गुरु की ओर शास्त्र की उपासना भी कर सकता है। उपासना को तीर्थ-यात्रा कहा है। वह शास्त्र-वाचन करे, जिनेन्द्र भगवान् का गुणगान करे, सत्सग-गोष्ठी-चर्चा आदि करे।

ने.: एक परिवार मे तरह-तरह के लोग होते है, श्रावक को तरह-तरह के लोगो के बीच रहना होता है, उन सब को सन्तुष्ट करते हुए वह अपना कर्तव्य कैसे निभाये, अपने धर्म का पालन कैसे करे ?

वि.: वह इतना-भर ध्यान रखे कि परिवार के सदस्यो की कोई ऐसी क्रिया या कार्य न हो जो परिवार को डुबो दे, बदनाम करे। परिवार व्यसन-मुक्त रहे, इसका ध्यान रखे, बाकी सब को स्वतन्त्र रखे, वे अपने को नुकसान न पहुँचाये, बस, इतना ध्यान रखे। हर व्यक्ति स्वतन्त्र है इसका ध्यान तो रखना ही है। शास्त्रो मे तो शादी के बाद लड़के को स्वतन्त्र रखने की बात कही है, ताकि वह अपने पैरो पर खडा हो सके।

ने.: इससे कही संयुक्त परिवार टूट न जाएँ ।

वि.: यदि परस्पर प्रेम रखना है, तो अब यही एक उपाय है। सयुक्त परिवार टूटे तो कोई बात नही, प्रेम बनाये रखना महत्त्वपूर्ण है। वात्सल्य और सेवाभाव यदि संयुक्त परिवार मे नही हैं, तो फिर वह किस काम का है ?

ने.: श्रावक आत्मचिन्तन करता हुआ सो जाए।

वि.: शरीर के लिए छह घण्टे विश्राम करना जरूरी है। इससे काम लेना है, तो णमोकार-मन्त्र का स्मरण करते हुए सो जाए।

उल्लेखनीय है कि आचार्य पूज्यपाद ने तीन ग्रन्थ लिखे है . आयुर्वेद, शरीर के लिए, क्योकि शरीर माध्यम है महाकवि कालिदास ने कहा है 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'। वचनशुद्ध बोलने के लिए व्याकरण। अशुद्ध वचन मन की रुग्णता का कारण बन जाता है। आत्मा को शुद्ध रखने के लिए समाधिशतक। इन तीनो को स्वस्थ रखने के लिए शरीर-का-धर्म निद्रा भी है, उसका भी पालन होना चाहिये, लेकिन शरीर को इतना पुष्ट भी न करे कि वह प्रमादी हो जाए। इतना कृश भी न करे कि वह धर्मपालन न कर सके।

ने.: मध्यम मार्ग - न अधिक पुष्ट, न अधिक कृश।

वि.: बात यह है कि हर व्यक्ति की अपनी शक्ति है, अपनी भक्ति है, ज़बर्दस्ती करेगे तो उसका कोई लाभ नहीं होगा। कम-से-कम तीन मकार (मद्य-मांस-मधु) का परिपूर्ण त्याग, णमोकार-मन्त्र का सतत् स्मरण, इतना तो प्रारभिक या सामान्य अवस्था मे पालन करना ही चाहिये।

ने.: बच्चो को जो स्वतन्त्रता देते है, उसके स्वच्छन्दता मे बदलने का खतरा भी है।

वि.: परिपक्वता आने पर उसकी जिम्मेदारी है कि वह किस रास्ते जाए। आप मार्ग दिखा सकते है। वह जानवर तो है नही कि उसे हाँका जा सके। वह मनुष्य है। परिपक्वता आने के वाद वह स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करेगा, करने दो।

ने.: वह स्वतन्त्र भी रहे, उससे रिश्ता भी वना रहे।

वि.: सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक बन्धन भी होते है। इन सब बन्धनों के वीच वह भी अपना रास्ता निकालेगा। इतनी स्वतन्त्रता उसे मिलनी चाहिये, क्योकि धर्म तो आमूलाग्र वस्तु स्वातन्त्र्य पर आधारित है। स्वतन्त्रता उसका मुख्य भाग है। यदि स्वतन्त्रता को नही रखेगे, तो जैनधर्म के मुख्य तत्त्व की उपेक्षा हो जाएगी, इसलिए स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता का रूप धारण न कर ले, यह देख कर उसका मार्गदर्शन करे, ध्यान रहे, हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी समझता है , और सभालता भी है।

ने.: जब तक नही समझता है, तब तक उसका मार्गदर्शन करते रहे, उसके वाद उसे पूरी तरह स्वतन्त्र कर दें। यही उचित है। इस तरह श्रावक को न सिर्फ स्वतन्त्र जीवन जीना चाहिये, अपितु दूसरो को भी स्वतन्त्र जीने की अनुकूलता देनी चाहिये।

वि.. जीना चाहिये, वह जीता भी है।

ने.: श्रावक की दिनचर्या की इस वातचीत का समापन करते हुए हम कह सकते है कि श्रावक/श्राविका सूर्योदय से पूर्व उठे और स्नानादि से निवृत्त हो कर यथाशक्ति देवदर्शन/जिनपूजा करे। स्वाध्यायादि करे। अन्य गार्हस्थिक दायित्वो से निवट कर शुद्ध भोजन करे। भोजन मे भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखे। अपनी योग्यता के अनुसार पूरी ईमानदारी और कर्तव्य-परायणता से शाम ५ बजे तक अपनी आजीविका करे। सूर्यास्त से पूर्व भोजन करे। रात्रि-भोजन के दुष्परिणामो

को ध्यान मे रख कर परिस्थितिवश यदि करना भी पड़े तो उसके प्रति ग्लानि रखे और भविष्य मे उससे बचने का यथासभव उपाय करे। सध्या/रात्रि मे वह तत्त्वचर्चा, सत्सग, संगोष्ठी, स्वाध्याय करे, समाज-सेवा के लिए तत्पर रहे, भगवान् का स्मरण करते हुए आत्मचिन्तनपूर्वक सो जाए। स्वतन्त्र रहे और परिजनो/स्वजनो की स्वतन्त्रता की रक्षा करे। आत्महित-मे-परहित मान कर अपनी दिनचर्या को सुचारु रूप से चलाये।

(तीर्थंकर, वर्ष १५, अक १, मई, '८५)

श्रावक वह जिसके आचरण में जैनत्व हो

डॉ. नेमीचन्द जैन : श्रावक कौन हो सकता है ?

आचार्यश्री आनन्द ऋषि : पाँच अणुव्रतो (अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), तीन गुणव्रतो (दिशा-परिमाण, भोगोपभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड), और चार शिक्षाव्रतो (सामायिक, देशावकालिक, पौषध, अतिथि-सविभाग) इन बारह व्रतो का जो निष्ठापूर्वक पालन करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है। श्रावको की जो ग्यारह प्रतिमाएँ है, उनका भी जो पालन करे, उसका नम्बर और आगे है। प्रतिमाएँ तो श्रावक की चारित्रिक उन्नति की सोपान है।

ने.: श्रावक का खान-पान पहले जैसा नही रहा, उसमे बहुत-सी अशुद्धियाँ आ गयी है, क्या किया जाए ?

आ.: सुधार होना चाहिये। आहार पर ही विचार है-यह सिद्धान्त है। आहार अगर तामसी है, रजोगुणी है, तो विचार तामसी और रजोगुणी होंगे। सात्त्विक वृत्ति का जो आहार है, श्रावक को वही करना चाहिये। जैनो मे पहले रात्रि-भोजन का बिलकुल त्याग था। दिगम्बर जैन समाज मे तो ऐसा कहा जाता था बच्चो को समझाते हुए कि 'देखो, यदि रात्रि मे रोटी खाओगे, तो चमगादड़ की तरह लटकना पडेगा'।

ने.: अब डराने से काम नही चलता। डर से बात नही बन रही है अब, और क्या उपाय किया जाए ?

आ.: समझाने का, और उपाय है नही।

ने.: लोग कहाँ समझ रहे है ?

आ.: उन्हे लाभ-हानि बतायी जाए, गुण-दोष बताये जाएँ। जैसे -यदि कन्दमूल खाओगे, तो तामसी वृत्ति होगी। शास्त्रीय दृष्टि से इनमे अनन्त जीव है। 'समझाने' का ही मार्ग है।

ने.: जैन लोग जो व्यापार कर रहे है, उसमे आजकल हिसा बहुत होती है। इसके लिए क्या किया जाए ? रेश्म का कई जैन भाई व्यापार कर रहे है।

आ. घी मे चर्बी मिलाते है।

ने.: उन्हे जैन कहे, या नहीं ?

आ.: कैसे कहेंगे ?

ने.: जो रेशम का धन्धा करता है, जो चर्बी मिलाता है, क्या उसे जैन कह सकते है ?

आ.: हरगिज़ नही, कैसे कह सकते है ?

ने.: दान दे तो ?

आ.: दान वह जैन के नाते नही दे रहा है।

ने.: जैन के नाते वह दान दे रहा है- ऐसा वह मान रहा है, तो ?

आ.. ऐसा आदमी दान देगा, तो जैन के नाते हम कैसे ले सकते है ? सबसे पहले धर्म के प्रति श्रद्धान होना चाहिये,

ने.: जिसमे धर्म के प्रति श्रद्धान होगा, वह ऐसा कभी करेगा नही ।

आ.: कभी नही करेगा।

ने.: श्रावको को सेवा करनी चाहिये या नही ?

आ.: सेवा कैसी ?

ने.: गरीब की, बीमार की।

आ.: हमारे यहाँ चार मुख्य भावनाएँ है, षोडश/बारह भावनाएँ है, उनमे गरीबो की रक्षा करना भी सन्निहित है, 'सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्' तो है ही।

ने.: लेकिन ईसाई लोग जैसी सेवा कर रहे हैं, वैसी, जैन लोग कहाँ कर रहे है ?

आ.: सेवा का गुण उनमे अधिक है, तो लेना चाहिये।

ने.: यानी जैनो को ईसाइयो से सेवा-तत्त्व सीखना चाहिये। श्रावको के लिए यदि कोई सन्देश देना चाहे, तो अवश्य दीजिये।

आ.: हिन्दुओ-में-भक्ति, मुसलमानो-मे-यकीन, और जैनो-मे-दया -ये तीन बाते हैं।

ने.: क्या इन तीनो को मिला दें, तो 'श्रावक' बन जाता है ? इनसे जो एक त्रिकोण बनता है, क्या वही श्रावक है ?

आ.: श्रावक मे भक्ति होनी चाहिये, यकीन अर्थात् अर्थात् श्रद्धान होना चाहिये, और दया अर्थात् करुणा होनी चाहिये।

ने.: 'दया' की बजाय 'करुणा' शब्द ज्यादा सार्थक है।

आ.: करुणा कहो, अनुकम्पा कहो।

ने.. इन तीनो तत्त्वो से जैनत्व बनता है। यह आपका श्रावको के लिए सन्देश है ?

आ.. मुद्दे की बात तो यह है कि ढेर-सा वाचन किया, श्रवण किया, अगर आचरण मे उसे नहीं उतारा तो सब शून्य है, निरर्थक है। जिसके आचरण मे जैनत्व प्रकट होता है, वही श्रावक है।

(श्रावकाचार-विशेषाक)

श्रावक : मन्दिर-से-प्रेरित; सत्साहित्य-से-प्रोत्साहित

डॉ. नेमीचन्द जैन : श्रावक की कल्पना क्या है आपकी ?

पं. फूलचन्द शास्त्री · श्रावकाचार एक विशेष बात है। जैनधर्म मे श्रावक उसे ही कहना लाभकारी है, जो मूलधर्म को अंगीकार करने का विचार करता है कि कदाचित् ऐसा मौका आये कि मै निर्विकार बनूँ। अकेले आत्मा मै रह जाऊँ और यह जो मेरे ऊपर आवरण है, सयोग है, वह हट जाए। इसका तो मार्ग एक ही है।

ने. कहॉ से चलना शुरू करे वह इस मार्ग पर ?

फू.: पहले तो वह देव (तीर्थंकर) को देखे, गुरु को देखे, साहित्य (शास्त्र) को देखे; इन तीनो को देखे। ये हमारे है, हमे इनके साथ रहना है, इनके उपदेशो के अनुसार चलना है।

ने.. श्रावक मे ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये ?

फू.: हाँ, फिर अहिसा की जो बाते है, तीन प्रकार का त्याग और पाँच अणुव्रत यानी आठ मूल गुण हो, उनका पालन हो, यह बात आनी चाहिये। इसके बाद ही वह श्रावक कहलाने का अधिकारी है।

ने.. सामाजिक आचरण उसका कैसा होना चाहिये ?

फू.: अपने समाज तक मर्यादित होना चाहिये। जिन समाजो मे अहिसा की बात नहीं है, या धर्म की विशेष बात नहीं है, उन समाजो से तो सम्पर्क नही ही होना चाहिये। प्रत्येक जैन को मन्दिर तो जाना ही चाहिये, चाहे वह हाथ जोड कर भले ही चला जाए।

ने.· स्वाध्याय की क्या स्थिति है ?

फू.: यह तो बाद की बात है।

ने.· पहले यह करे। इसे करने के बाद ?

फू.. उसके बाद स्वाध्याय, भक्ति, और सामाजिक कार्य ये सब है।

ने.: कौन-से ग्रन्थ से शुरू करे वह ?

फू.. हमारा पहला गौरव-ग्रन्थ तो है 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'।

ने.: उसकी क्या विशेषताएँ है ?

फू.: उसमे श्रावकाचार की सीधी-सच्ची बाते लिखी है, सामाजिक वात विलकुल नहीं आयी है।

ने.: सीधी वात यानी ?

फू.: सीधी बात का मतलब है, उसमे अहिसादि पाँच अणुव्रतो का स्पष्ट और विशद विवेचन किया गया है। कहा गया है कि तीन मकार (मधु,मद्य, मास) के सर्वथा त्याग के साथ पाँच अणुव्रतो (अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) अर्थात् आठ मूलगुणो का तो श्रावक को पालन करना ही चाहिये।

ने.: इतना तो करना ही है।

फू.: ऐसा करने का स्पष्ट निर्देश दिया गया है।

ने. आप क्या सोचते हैं, 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' को प्रचारित किया जाए ?

फू. प्रचार करना चाहिये, वह हमारा मूल ग्रन्थ है।

ने.: आचार्य समन्तभद्र की मुख्य दृष्टि क्या है इसमे ?

फू.: यह कि व्यक्ति (श्रावक) को 'पर' से हट कर स्वभाव में जाना चाहिये। उन्होंने अन्त मे 'समाधि' पर विचार रखे है, उसका अर्थ ही यह है।

ने.: 'पर' से हट कर 'स्व' मे प्रवेश करे। श्रावकाचार का मूल आधार भी यही है।

फू.: हाँ।

ने.: इसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये।

फू.: क्योकि पर से हटना, स्वभाव मे आना, यही आत्मा की प्राप्ति है।

ने.: लेकिन ऐसा करते हुए सामाजिक तो रह नहीं पायेगा आदमी (श्रावक)।

फू.: नही, यह तो अन्तिम ध्येय है न ? सामाजिक रह कर भी वह इसकी भावना तो रख सकता है। भावना कर सकता है। गृहस्थी मे रहते हुए इस भावना का निषेध तो नही है। वह अपने वाल-वच्चो मे रहे, उनकी साल-सँभाल करे, अपने दायित्व निभाये, कर्तव्यो का पालन करे, यह सव करे, लेकिन स्वयं को और अपने वाल-वच्चो को घर से यानी ऐसे समाजो के सम्पर्क से वचाये जो अहिसादि का पालन नही करते है, मेरा विनम्र आग्रह है। अभी मैंने सुना, मेरे परिचय का एक आदमी है, उसका लड़का मास खाने लगा है।

ने.: क्या इलाज़ है इसका ?

फू.: जिन समाजो मे हिंसादि का जोर हो, उनसे स्वय को और अपने परिवार को वचाया जाए।

ने.: अपने समाज मे भी भ्रष्टता तो है, सस्कार कहाँ रह गये है, कैसे लौटा सकेगे इन्हे ?

फू.: संगठन करना होगा।

ने.: कैसे ? कोई उपाय बताइये।

फू.: सगठन ही एकमेव उपाय है। एक गोष्ठी बुलाये, जिसमे ऐसे लोगो को ले जो चिन्तक हो, विचारक हो। उन्हे भी स्थान दे, जिनका समाज मे प्रभुत्व है, या तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। उन्हे लेने से सब तरह के विचारो का आलकन हो सकेगा। यहाँ हमे पहला निर्णय मन्दिर जाने का करना चाहिये। गोष्ठी मे मन्दिर जाने की महत्ता और उपयोगिता पर चर्चा कर ऐसा निर्णय लेना चाहिये, ताकि सब उसका पालन कर सके।

ने.: मन्दिरो को भी आकर्षक बनाये जाने की आवश्यकता है। मन्दिर जैसे अभी हमारे सामने है, वे ऐसे तो नही है कि हमे निमत्रण देते हो कि 'आओ हमारे यहाँ'।

फू.: बनाइये आकर्षक, कौन रोकता है ?

ने.: कैसे ? क्या करे ?

फू.: एक उपाय यह है कि उनमे ऐसी पुस्तके रखी जाएँ, जिन्हे पढ़ने की उत्कण्ठा लोगों मे बने। सत्साहित्य एक आकर्षण हो सकता है।

ने.: ऐसा साहित्य है क्या ?

फू.: तैयार किया जाए। आधुनिक भाषा-शैली मे कथाएँ लिखी जाएँ। कथाओ के द्वारा लोगो मे आकर्षण पैदा होगा, यह मन्दिर मे प्रवेश का निमित्त भी बन सकता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा प्रवेश नहीं होगा, क्योकि तत्त्वज्ञान तो व्यक्ति-का-जीवन है और समाज का जीवन तो कथाएँ है; मै ऐसा मानता हूँ।

ने.: कथाओ के माध्यम से वह तत्त्व की ओर जाएगा।

फू.: हाँ, बच्चे है, युवा है, उनके लिए छोटी-छोटी किताबे तैयार हों, ऐसी बालोपयोगी पुस्तके हो, जो उनमे आकर्षण पैदा करे, मन्दिरो मे ऐसी पुस्तके अवश्य रखी जाएँ।

ने.: यानी मन्दिर और साहित्य- इन दोनो पर हमारा ध्यान जाना चाहिये, तभी हमारी आने वाली पीढी धर्म की ओर अग्रसर/आकर्षित हो सकती है।

फू.: इसे संगठित हो कर योजनापूर्वक करना चाहिये।

ने.: श्रावक को इस तरह मन्दिर-से-प्रेरणा और सत्साहित्य-से-प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

(श्रावकाचार-विशेषाक)

बेहतर मानव यानी बेहतर श्रावक

डॉ. नेमीचन्द जैन : 'श्रावक' एक परम्परित शब्द है, श्रावकाचार बहुत सारे लिखे गये है, करीव ३९ या ४० ये है, इनकी इतनी बडी सख्या क्यो है ? इतने श्रावकाचार लिखने की आवश्यकता आखिर क्यो हुई ? यदि कोई 'श्रावकाचार' किसी एक युग मे पूरी तरह स्थापित हो लेता तो फिर किसी नये श्रावकाचार की आवश्यकता शायद नही होती, किन्तु सामाजिक/सास्कृतिक संदर्भ/मूल्य-मान बदलते गये, इसलिए ऐसा हुआ। यह सहज था। हमे सोचना है कि आधुनिक सदर्भों मे एक श्रावक की परिकल्पना क्या एक अच्छे नागरिक, या सद्गृहस्थ के रूप मे हो सकती है ?

आज चूँकि विज्ञान के, समाज के नये संदर्भ हमारे सामने है, अत इन सबके बीच अहिसा का परिपालन करते हुए, आचार के नियमो का ध्यान रखते हुए, सादगी और मितव्ययता के साथ सचय-वृत्ति को (कहाँ तक/कैसे) नियंत्रण मे लिये हुए क्या हम श्रावको के लिए कोई आचार-सहिता बना सकते है ? क्या श्रावक को हम कोई गाइड-लाइन (मार्गदर्शन) दे सकते है ? अगर ऐसा सभव है, तो वह क्या है, क्या हो सकती है ? आप अपने विचार निष्कर्ष रूप मे दे ।

पं. फूलचन्द शास्त्री : इस सन्दर्भ मे मै यह बात ज़ोर दे कर कहना चाहता हूँ कि मै 'मन्दिर' को 'क्लव' मानता हूँ। मन्दिर आज का क्लव है, वह सोसायटी का एक ऐसा स्थान है, जहाँ हम वहुत-सी चीजें सीख सकते हैं और दूसरो को सिखा सकते है। उसकी उपेक्षा ही आज हमे वर्वाद कर रही है। यदि उसकी अपेक्षा को हम पुनरुज्जीवित कर ले, तो हम सदाचारी बने रह सकते हैं; श्रावक-के-आचार को उससे पोषण और सम्वल प्राप्त हो सकता है।

ऐसा नही समझना चाहिये कि शास्त्रो मे कुछ नहीं है। शास्त्रो मे हमारे अनुभवी पुरखो के विचार संकलित है। आप भले ही उनकी व्याख्या / मीमासा आज के अनुरूप करें, यह दूसरी वात है।

सक्षेप मे; जो व्यक्ति अपने चलने, वोलने, उठने, वैठने, खाने-पीने, सोने आदि की सभी प्रवृत्तियो को सावधानी से करता है, वह सदाचारी श्रावक वन सकता है।

अभय छजलानी . मै तो इस मत का हूँ कि किशोर, युवा उम्र के लोगो को सिखाने की अपेक्षा अधेड उम्र के लोगो को भी शिक्षित किया जाए; वे फिर वच्चो को धर्म के व्यवहार-पक्ष का ज्ञान दे। हमारे यहाँ जो साधु समाज की स्थापना की गयी थी, वह इन्ही वातों को क्रियान्वित करने के लिए थी। कडियाँ (लिंक्स) टूटती चली गयीं और सव कुछ विखरता गया। अव यदि इस लिक को पुन शुरू करना है, तो जहाँ जिस तरह के कार्यकर्ता उपलव्ध हो, वहाँ उस कड़ी को पुन जोडा जा सकता है, उस काम को फिर से शुरू किया जा सकता है।

श्रीमती सौ. शरयू दफ्तरी : मै सोचती हूँ, महिलाओ को वैज्ञानिक सूचनाएँ देना बहुत जरूरी है, क्योकि स्कूलो मे बच्चो को अंग्रेजी के माध्यम से सबकुछ सीखना होता है। इससे उनके जो सस्कार बन जाते है, तदनुसार कई बार वे ऐसे सवाल पूछ बैठते है, जो शाकाहारी समाज के बच्चो को नहीं पूछने चाहिये। ऐसी स्थिति मे महिलाएँ ज्ञान-विज्ञान से लैस हो कर ही अपनी सस्कृति को कायम रख सकती है। उनके लिए अल्पकालीन (शार्ट टर्म) और दीर्घकालीन (लांग टर्म) पाठ्यक्रम (कोर्स) तैयार करने चाहिये। अल्पकालीन पाठ्यक्रम तो तुरन्त शुरू करना जरूरी है; दीर्घकालीन के लिए समय लग सकता है।

मै सहमत हूँ पूरी तरह से कि 'फूड टेक्नालॉजी डिपार्टमेंट' (खाद्य तकनीक विभाग) तो हर राज्य मे है, लेकिन उसमे शाकाहार को जो महत्ता मिलनी चाहिये, वह प्राप्त नहीं है। शाकाहार के जघन्य और उत्तम जैसे प्रकार हो सकते है जिन पर हमारी संस्थाएँ अनुसंधान करे और तदनुसार प्राप्त निष्कर्षों का प्रचार-प्रसार करे।

बाबूलाल पाटोदी : यदि हमे कुछ प्राप्त करना है, तो जैनधर्म की मोटी बातो के साथ-साथ हमे सबसे ज्यादा जोर शाकाहार पर देना चाहिये। चौका-शुद्धि और शाकाहार से सबन्धित संस्थाएँ खुलनी चाहिये। ऐसी पुस्तकें सुलभ करवाना चाहिये, जिन्हे महिलाएँ, बच्चे, और प्रौढ़ आसानी से पढ सके। अब हमे धर्म के साथ टेक्नॉलॉजी को जोड़ना चाहिये। मै 'जैनधर्म' को सम्प्रदाय नही मानता, उसे एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन मानता हूँ। जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है अहिसा, और अहिसा का व्यावहारिक अर्थ है शाकाहार, अत शाकाहार से होने वाले फायदो पर कुछ पुस्तके लिखवानी चाहिये तथा लिखने वालो को पुरस्कार प्रदान करना चाहिये। कुछ ऐसी संस्थाएँ स्थापित की जानी चाहिये जो शाकाहार के प्रायोगिक/व्यावहारिक पक्ष का प्रदर्शन करे, शाकाहारी वस्तुओ/पदार्थों के निर्माण को प्रत्यक्ष बताये। प्रत्यक्ष प्रदर्शन से स्पष्टता आ सकती है। यह तथ्य गौण है कि देश इतना बड़ा है, अत शुरूआत कहाँ से करे ? शुरूआत करनी चाहिये फिर जगह कोई भी हो। ऐसा होने पर ही ठोस परिणाम सामने आ सकते है।

डॉ. नेमीचन्द जैन : निष्कर्ष हुए बेहतर मानव ही बेहतर श्रावक है, आधुनिक सदर्भों और परिप्रेक्ष्य मे अहिसक जीवन-शैली के विकास के लिए शाकाहार का व्यापक प्रचार/प्रसार किया जाए, जैनधर्म की मान्यताओ और सिद्धान्तो को वैज्ञानिक आधार पर पुष्ट करे और उन्हे लोक-जीवन से जोड़ें, तथा श्रावकीय जीवन इस अहिसक जीवन-शैली की प्रयोगशाला बने।

(श्रावकाचार-विशेषाक)

बातचीत : श्रावकाचार डॉ. नेमीचन्द जैन, संपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र), मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म प्र), टाइप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र.); प्रथम सस्करण फरवरी, १९९८ ; मूल्य · छह रुपये।

बातचीत : समाज-सेवा

डॉ नेमीचन्द जैन

- आत्महित ही समाजहित
  - एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द
- धर्म मे-से समाज-सेवा
  - आचार्यश्री समन्तभद्र
- हम बदलें : समाज बदलेगा
  - साहू श्रेयास प्रसाद जैन
- समाज-सेवा : वर्तमान में औपचारिक ही नहीं स्वार्थी
  - रामकृष्ण बजाज
- महिलाएँ आत्मनिर्भर के साथ कर्तव्यनिष्ठ हो
  - प सुमतिबाई शहा
- भारतीय नारी/जैन नारी महत्ता और अस्मिता को पहचाने
  - श्रीमती शरयू दफ्तरी
- समाज में सिर्फ उपदेश/भाषण से क्रान्ति नही
  - रमेशचन्द जैन
- सामाजिक क्रान्ति : कैसी, कहाँ से ?
  - सौभाग्यमल जैन
- समाज-सेवा और जैन समाज
  - सरदारमल काकरिया

आत्महित ही समाजहित

डॉ. नेमीचन्द जैन . आप सारा देश पाँव-पैदल घूमते है और एक व्यापक लोक-सप
अनायास ही आपका बनता है। फिर भी मैंने देखा है आप आठो पहर आत्मोन्नयन मे डू
रहते है। इस तरह आत्मोत्थान करते हुए आप समाज को एक उदात्त-उदार अन्तर्दृष्टि प्रदान कर
है। आज भारतीय, कहे, विश्व-समाज हिसा, आतक और भीषण सन्त्रास से घिरा हुआ है
उसका खान-पान विकृत है और रहन-सहन तृष्णाओ से कराह रहा है। ऐसे क्षणो मे उस
उत्थान के लिए क्या किया जाए ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द प्रश्न व्यापक और गूढ है। यदि हम इसे आध्यात्मिक दृष्टि
ले, तो हमारे आचार्यों ने बहुत कम शब्दो मे बहुत गहन कह दिया है। उनका कथन है कि व्यक्ति
को आत्महित करना चाहिये, क्योकि आत्महित मे ही लोकहित सन्निहित है। सन्निहित क्यो है
इसलिए कि आदर्श यदि व्यक्ति स्वय बन जाएगा, तो उसे देख कर दूसरे व्यक्ति भी आदर्श बन
का प्रयत्न करेगे। और यदि खुद को उठाये बिना हम समाज-सेवा मे लगेगे, तो वह कोरमक
बात होगी, उसके पीछे आचरण-बल नही होगा। इसलिए खुद वह जितना उस रास्ते चलेग
दूसरो के लिए वह उतना ही प्रेरक और उपकारी सिद्ध होगा।

ने. अर्थात् समाज-सेवा के लिए आत्मोत्थान आवश्यक है।

वि. हाँ, क्योकि उसमे एक आदर्श की स्थापना है। जो व्यक्ति एक आदर्श जीवन व्यती
करता है, उसके लिए समाज-सेवा बहुत सुगम हो जाती है।

ने. समाज ऐसे लोगो का ही अनुकरण करता है।

वि. हाँ, वह अपने-आपमे आदर्श बन जाएगा। आत्महित करने वाला परहित कर सक
है, क्यो ? जैसे आप एम ए तक पढे है, तो आप एम ए तक पढा सकते है। यदि आप अठ
कमाते है, तो इकन्नी दे सकते है। यदि आप तैरना जानते है, तो तैरना सिखा सकते है।

ने.. यदि पूँजी ही नही होगी, तो लगेगी क्या ?

वि.: खुद की शक्ति अर्जित करने के लिए स्वय को आदर्श बनना होगा और आत्महि
करना होगा। स्वार्थ इसमे दीखता है, पर इस स्व-अर्थ (स्वार्थ) मे परम-अर्थ (परमार्थ
निहित है। यह जैनाचार का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। आत्महित के साथ जिसमे परहित व
सामर्थ्य है, उसे परहित अवश्य करना चाहिये। जब पूछा गया कि आत्महित और परहित
इन दोनो मे श्रेष्ठ कौन-सा है ? तो हमारे महर्षियो ने आत्महित को श्रेष्ठ बताया। क्यो है श्रे
आत्महित ? इसलिए कि यदि व्यक्ति अपने जीवन को ऊँचा उठायेगा, तो दूसरो व
जीवन आपोआप ऊँचा उठेगा और यदि वह दूसरो के जीवन को ऊँचा उठाने मे लगेगा, तो खु
खाली रह जाएगा।

ने.. 'आत्महित-मे-समाजहित'-अद्भुत सूत्र है।

वि.: मात्र सूत्र ही नही, मूलभूत आध्यात्मिक सिद्धान्त है। लगभग हजार वर्ष हुई आचार्य अमितगति ने कहा कि आप सामायिक करे, ध्यान करे। ध्यान के सूत्रो से भी उन्होंने ऐसे लोकहित के सूत्र बया पक्षी की तरह गूँथ दिये। कहा - 'सत्येषु मैत्री' समस्त प्राणियो के लिए समताभाव रखे। उनके मित्र बने।

ने.: समाज के सखा बने । एक व्यापक सख्यभाव विकसित करे।

वि.: फिर कहा 'गुणिषु प्रमोदम्'- जो गुणवान् व्यक्ति है, उनके प्रति आह्लाद का भाव रखे। इससे यह होगा कि व्यक्ति सोचेगा, मुझे और भी गुणवान् बनना चाहिये। आगे कहा- 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्'- जो दु खी है, तन,मन, वचन से उनके दु ख दूर करने का यत्न करे।

ने.: यह सब तो सेवा का मूलाधार हुआ।

वि : बहुत बडी बात कही। वह भी सामायिक/ध्यान/योग-जैसे सूत्र मे 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्' दु खी लोगो का दु ख दूर करना ध्यान है, तप है, धर्मचर्या का एक अभिन्न अग है, सामाजिक/राष्ट्रीय चर्या का एक महत्त्व का अंग है। समझाया उन्होंने कि देखो कि यदि अपनी झोपडी मे आग लगी हो या किसी दूसरे की झोपड़ी मे आग लगी हो तो जब तक सब मिल कर बुझाते है। तो ठीक है, क्योकि दूसरो के जो दु ख है, उन्हे दूर करने के लिए तन,मन,धन से निष्काम समर्पित होना सुन्दर सामाजिक वातावरण तैयार करना ही है। 'क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरतत्वम्' -दु खी जीवो का दु ख दूर करना करुणा की यह जो भावना है, सुनिये तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध इसीसे होता है।

ने.: इतनी उत्कट भावना है यह !

वि.: जो व्रती है, साधु-सन्त है, उनके द्वारा दु खी जीवो का दु ख दूर करने का जो प्रयास किया जाता है उसमे विकास की असख्य सभावनाएँ हैं।

ने.: सेवा मे इतनी बडी शक्ति है ?

वि.: हाँ, सेवा है क्या ? असल मे आध्यात्मिक दृष्टि से लोकसेवा आत्मा-की-सेवा ही है, क्योंकि सेवा से आत्मा आनन्दित होता है। ऋषि-मुनियो ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति के मन मे धर्म समाया हुआ है। वास्तव मे सेवा करते हुए हमारे मन मे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वही धर्म है।

ने.. फिर आप कृपण क्यो हो, इस आनन्द को अपने तक मीमित न रख कर मबको बाँट दे।

वि.: इससे वह सब तक फैल जाएगा। स्वभाव ही है यह उसका। समाज-सेवा को ले। धर्मानन्द कौसाम्बी ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है कि पार्श्वनाथ के युग मे जैन समाज में दु खी जीवो के दु.ख दूर करने की बहुत बडी परिपाटी थी, कालान्तर मे जिसे हम छोडते गये। ईसाइयो

ने इसे अपना लिया और सेवा से दुनिया को जीत लिया। वस्तुत हमे दूसरो के मन जीतना है, समाज और राष्ट्र के मन को जीतना है। सेवा से ही यह सभव है और सेवा के लिए चाहिये त्याग / नि·स्पृह समर्पण।

ने.: यह तो प्राकृतिक है कि यदि त्याग मन मे है, तो उत्कृष्ट सेवा होगी। निष्काम सेवा दुनिया की सबसे बडी नियामत है।

वि.: निष्कामता जरूरी है।

ने.· नि स्वार्थ भाव और निष्काम आचरण।

वि.: सेवा मे ये दोनो हो।

ने.. और समर्पण।

वि.: अमृतचन्द्राचार्य ने कहा कि मै जो शास्त्र लिख रहा हूँ, वह मेरी आत्मा की विशुद्धि के लिए है। सभी आचार्यों ने कहा है कि यदि हम किसी की सेवा करते है, तो उस पर हम कोई उपकार नही करते, क्योकि यदि वह हमारी सेवा को स्वीकार कर लेता है , तो यह हम पर उसका उपकार है।

ने.: अच्छा।

वि.: वह धन्यवाद का पात्र है, क्योकि उसने हमारी सेवा को स्वीकार कर लिया।

ने.: इसमे विनम्रता है। विनम्रता भी सेवा है।

वि.. हाँ, असली सेवा तो वही है।

ने.: कहा गया है कि हमारा सामाजिक चरित्र आत्मचरित्र का ही प्रतिबिम्व है, क्योकि समाज मे प्रामाणिकता, विश्वसनीयता और निष्कपटता आ सकते है तभी जब व्यक्ति स्वयं निर्दोष बने, ऊँचा उठे, छल-छिद्र से बचे। लगभग सारा समाज आज हिसा की ओर दौड रहा है, क्या इसका कोई समाधान है ?

वि.. यह कलियुग है, विषमताएँ इसमे कभी बढती है, कभी घटती है।

ने.: उतार-चढाव चलता है।

वि.: हाँ; मुझे यह लग रहा है कि आज जो विषमता है, वह बहुत समय टिकने वाली नही है। जैसे दीया है, और तेल चुक रहा है, तो वह बुझ जाएगा, उसी तरह समाज मे/राष्ट्र मे हिसाचार की दुष्प्रवृत्ति बढेगी, तो वह अधिक दिन टिक नही पायेगी। हिसा मनुष्य का मूल स्वभाव नही है।

ने.: पराकाष्ठा आ रही है।

वि.: हाँ; वह ज्यादा दिन टिकने वाली नही है। बात यह है कि दुनिया बदलती है, खान-पान बदलते है, मकान की, कपडो की डिजाइने भी बदलती है। खाद्य वस्तुओ के बनाने की पद्धतियाँ बदलती है। लिपि, भाषा, व्याकरण-सब बदलते है, परन्तु धर्म कभी नही बदलता।

ने.. अच्छा।

वि.: क्योकि अहिसा अहिसा है, क्योकि आचार्यो ने धर्म की असन्दिग्ध परिभाषा दी है- 'वत्थु सहावो धम्मो' (वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है)। जैसे, अग्नि का अपना धर्म है जलाना, वह बदलता नही है। सूर्य का अपना धर्म है प्रकाश देना, चन्द्रमा का शीतलता देना है, वह कभी बदलता नहीं है। जो वस्तु की मौलिकता है, उसमे कोई परिवर्तन नहीं होगा। वह शाश्वत, ध्रुव है, पर्यायें बदलती रहेगी।

ने.: अस्तित्व जहाँ-का-तहाँ रहता है, उसमे कोई परिवर्तन नही होता।

वि.: सामाजिक परिवर्तन भी होते है। समाज परिवर्तनशील है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

ने. परिवर्तन आकृतिमूलक होते है, द्रव्यमूलक नही।

वि. इसलिए जो परिवर्तन हो रहा है, उसे हिसा से बचाये रखने के लिए तदनुरूप वातावरण बनाना होगा। इस दृष्टि से जनता, सरकार, और समाज तीनो को ही कुछ करना होगा।

'तत्त्वार्थसूत्र' मे समाज-सेवा का एक बहुत प्रेरक सूत्र आया है 'पस्परोपग्रहो जीवानाम्'- हम परस्पर उपकार करके ही जी सकते हैं; शिष्य आज्ञा पालन कर सेवा करता है। ताँगे वाले को हमने अठन्नी दी, उसने सामान-सहित घर पहुँचा दिया। यदि हम कहे कि हमने अठन्नी दे कर उपकार किया, तो वह कहेगा कि मैंने अठन्नी ले कर घर पहुँचाया। समाज मे परस्पर उपकार यानी सेवा बहुत जरूरी है। दुनिया परस्पर उपकार से चल रही है। पेड/वृक्ष है, छाया देते है, सूखने के बाद लकडी देते है, उससे अलमारी-टेबल इत्यादि बनते है। एकेन्द्रिय - जैसे वृक्ष का यदि उपकार हो सकता हे, तो पंचेन्द्रिय जीव, जो पढा-लिखा और समझदार है, उपकार कर ही मकता हे, लेकिन उपकार की प्रक्रिया में मुझे खयाल रखना होगा कि मेरी सेवाएँ लोगो ने स्वीकार की, अत मैं धन्य हूँ, मुझ पर उनका उपकार है। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत सेवा व्यक्ति को ससार से मुक्त भी कर सकती है और समाज मे प्रतिष्ठित भी।

ने. सेवा ?

वि.· हाँ।

ने.. एक उलझन है कि नामालूम क्यो बुराइयाँ जल्दी संगठित हो जाती है, और अच्छाइयो को सगठित होने मे बहुत समय लगता है।

वि.. है यह। जैसे, यदि कोई आपको धक्का दे दे, तो आप एकदम गिर जाते है। जब ऊँचाई चढते है, तो साँस फूलता है। मकान बनाने मे बहुत पुरुपार्थ करना होता हे , लेकिन किसी को गिराने मे देर नही लगती। ग्लास बनाने मे समय लगता है, लेकिन तोडने मे नही। इसी तरह एक अच्छा घराना पैदा करने मे पीढियाँ लग जाती हे और उसी घराने को खत्म करने मे एक पीढी काफी है। बुराई मे छल, षड्यन्त्र, अच्छाई मे सद्भाग्य, पुरुपार्थ है।

ने.: हिसक दल यानी सेना तो बहुत जल्दी बन जाती है, लेकिन अहिसक जन सगठित क्यं नही होते ? मारने के लिए तो शक्ति पैदा कर लेते है, किन्तु

वि.: अहिसा भावना है, वह व्यक्तिगत है, इसलिए इसमे सगठन की बात कदाचित् नही है एक बात बताऊँ, यह बहुत वैज्ञानिक है, अहिसा के बारे मे आपने पूछा, इसलिए बता रहा हूँ 'भगवती आराधना' के रचयिता कहते है 'दुनिया मे जितनी भी आत्माएँ है, वे सब बीज-रूप अहिसक है'। आप कहेगे कि शेर तो हिसक है, फिर भी वह अपने बच्चो तथा शेरनी के लि अहिसक है। कसाई भी अपनी पत्नी, बच्चो, दूध देने वाले पशुओं को नही मारता। एक रू हिसक, दूसरा अहिसक। दुनिया मे ऐसा कोई प्राणी नही है, जिसके हृदय मे अहिसा नही, तथा अपने-पराये के कारण हिसक भाव बन जाते है।

ने. यानी हम आत्मीयता का विस्तार करेगे, तो हिसा आपोआप समाप्त हो जाएगी।

वि.. हाँ।

ने.: सेवा के माध्यम से उस आत्मीयता का विकास हो सकता है ?

वि क्यो नहीं, अवश्य हो सकता है। सम्पत्ति, या सत्ता के कारण भी हिसा होती है, जैस हम सुनते है कि सम्पत्ति, या सत्ता के कारण पुत्र ने अपने पिता को जेल मे डाल दिया, या प ने पत्नी को जहर दे दिया। दुनिया मे अहिसक भाव स्वत सिद्ध विद्यमान है। भव्य आत्माओ उसे वटवृक्ष-जैसा विशाल रूप दे दिया, लेकिन अन्यो में वह बीज-रूप मे तो है ही।

ने.: बीज है, किन्तु सुषुप्त।

वि.: उसे जागृत करने का काम बुद्धिजीवी, धार्मिक, साधु-साध्वी, ब्रह्मचारी, त्याग इत्यादि कर सकते हैं।

ने. स्त्री-शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। आधी मानव-जाति स्त्रियो की है-थोडा-सा फर्क ह सकता है। स्त्री को सेवा का प्रतीक मानते है-माँ के रूप मे। महिलाओ के सामने सेवा की कौन सी दृष्टि रखनी चाहिये ?

वि. वास्तव मे, उनका अपना जो परिवार है, यदि वे अपने परिवार को आदर्श रूप मे सँभाल ले, तो आश्चर्यजनक कुछ हो सकता है। बच्चे पर इतना अच्छा सस्कार करे कि वह भगवान् ऋषभदेव बन जाए, राम बन जाए, महात्मा गाँधी बन जाए, आचार्य शान्तिसागर बन जाए, आचार्य समन्तभद्र बन जाए। यदि स्त्रियाँ अपना घर सँभाल ले, तो समाज सँभल सकता है।

ने. परिवार भी तो मिनी समाज ही है।

वि. है ही, यदि इकाई ठीक होगी, तो पूरा समाज ठीक होगा।

ने. घटक को सस्कार देना जरूरी है।

वि. हाँ।

ने. इससे पूरा समाज सुसंस्कृत हो सकता है।

वि. हो सकता है। महात्मा गाँधी ने एक बात कही थी-बहुत मार्के की कि दुनिया बढती जा रही है, या तो उसके साथ बढते जाओ या फिर ऐसी शक्ति अर्जित करो कि दुनिया को अपने विचार-आचार के साथ चला सको। हमे स्वय मे ऐसी शक्ति अर्जित करनी चाहिये कि हम समाज को साथ ले जा सके।

ने.: यह सभव है, यदि हम अशत करते चले जाएँ, तो एक दिन वह वट वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

वि. बहुत अच्छी बात कही आपने।

ने.: हमारे समाज मे लगभग १० हजार साधु है, दिगम्बर नही, वे तो क़रीब ३०० होगे। साधुओ को सेवा के सदर्भ मे क्या करना चाहिये ? ऐसे वे 'आत्मसेवा' तो करते ही हैं।

वि.: सच बात तो यह है कि आत्मकल्याण मे मग्न रहना सबसे बड़ी समाज-सेवा है। सिन्धु और बिन्दु अलग -अलग होने पर भी एक अखण्ड है। यदि समुद्र मे-से एक बूँद निकाल कर पत्थर पर रख देते है, तो सूरज की किरणे उसे सुखा देती है। इसी प्रकार जल-बिन्दु की तरह ही साधु भी समाज से अलग नही रह सकता, अत उसे चाहिये कि वह आदर्शो पर स्वयं यथाशक्ति चले और फिर ज्ञान दे, विचार दे, दिशाबोध दे।

ने.. उसे समाज को स्वस्थ चिन्तन देना चाहिये।

वि.. यथासंभव/यथाशक्ति। उसे सेवा-कार्य का परिचालन करना चाहिये।

ने.· आपने कहा कि साधु भी समाज का अग ही है, लेकिन विशिष्ट अंग है।

वि.: विशिष्ट तो है ही।

ने. इसलिए उसका दायित्व बढ जाता है।

वि.. बढेगा, बढना चाहिये। बात यह है कि साधु यदि केवल दूसरो को सुधारने के पीछे चलेगा, तो वह आत्मबोध खो सकता है, इसलिए स्वरूप को न खोते हुए, उसे विकासोन्मुख रखते हुए उसे क्वचित्, कदाचित्, किंचित्, थोडा चिन्तन समाज को अवश्य देना चाहिये। यह भी धर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

ने. वह स्वयं आदर्श बने।

वि. उसकी सबमे बडी जिम्मेदारी ही यह है कि वह आदर्श बने, लेकिन इसकी पूरी-पूरी सावधानी रखे कि दूसरो को सुधारने मे वह स्वय को खो न बैठे। यदि कदाचित् ऐसा हुआ, तो वह सेवा के स्थान पर अ-सेवा ही होगी।

(तीर्थंकर, वर्ष १३, समाज-सेवा विशेषाक, अक ७-८, नव -दिस , '८३)

धर्म में-से समाज-सेवा

डॉ. नेमीचन्द जैन · सबमे पहले ज्योति (स्पार्क, चिनगारी) होनी चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र : कार्यकर्ता मे कोई ज्योति होनी चाहिये, कार्य तब होगा। जब य
प्रज्वलित हो जाएगी, तब सर्वत्र प्रकाश हो जाएगा।

ने.: धर्म और समाज-सेवा का कोई सबन्ध है क्या ?

स.: धर्म सब कुछ है। समाज-सेवा आदि सब कुछ धर्म मे-से है। अगर धर्म का पाल
किया जाए, तो इससे आत्म-कल्याण भी होता है। धर्म के परिपालन से ही समाज-सेवा पुष्ट हो
है। धर्म के पालन से क्या नही हुआ, क्या नही होता और क्या नही होगा ? आप ही बताइये। ध्य
रखिये, जो भी उत्तम कार्य होते है, वे सब समाज-सेवा के अन्तर्गत ही आते है। उत्तम कार्यों क
समाज पर अमिट प्रभाव पडता है।

(तीर्थंकर, वर्ष १३, समाज-सेवा विशेषाक, अक ७-८, नव -दिस , '८३)

हम बदलें : समाज बदलेगा

डॉ. नेमीचन्द जैन सेवा का स्वरूप क्या हो ? सेवा आप किसे कहे ? सेवा यानी क्या

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन सेवाएँ बहुमुखी हो सकती है।

ने.. सेवा कहेगे किसे ?

श्रे.. सेवा का लक्ष्य हो समाज-कल्याण। देखे आप कि आपके द्वारा जो भी हो रहा है, क
उससे समाज ऊपर उठ रहा है, उसमे कोई कल्याणकारी परिवर्तन आ रहा है ? यदि हाँ, तो अ
इसे 'सेवा' कहे।

ने.. यह एक कसौटी हुई सेवा की ?

श्रे.. हाँ।

ने.. समाज के लिए जो कल्याणकारी है, वह सेवा है।

श्रे.: समाज के लिए क्या कल्याणकारी है, इसमे किचित् मतभेद हो सकता है।

ने.. समाज के निमित्त जो सेवा हम करते है, उसके साथ कोई-न-कोई स्वार्थ अवश्य जु
होता है। क्या ऐमा हो सकता है कि स्वार्थ न हो, मात्र सेवा हो ?

श्रे. स्वार्थ तो रहेगा, ऐसा मेरा मानना है।

ने. आपने कहा है कि सेवा बहुमुखी हो सकती है, वह किस प्रकार ?

श्रे.. वात्सल्य, करुणा, दया- ये सब सेवा की ही शक्ले है।

ने.. ये तो मनुष्य के व्यक्तिगत गुण है।

श्रे. व्यक्तिगत गुणो में-से ही उत्कृष्ट सेवा उत्पन्न होती है। यदि करुणा न हो, तो क्यो वह किसी अनाथ की सेवा करने दौडेगा ? सेवा के लिए मन मे एक तरह की धडकन बननी चाहिये।

ने.. उसका होना ज़रूरी है। सेवा के लिए भीतर-भीतर के स्रोत अवश्य उमड़ने चाहिये।

श्रे.: वात्सल्य, सामाजिक वात्सल्य, भी ऐसा ही एक झरना है।

ने. आपके मन मे ऐसा होता होगा। जब कभी आप समाज-सेवा के लिए निकलते होगे, तो एक तरह की समाज-वत्सलता का अनुभव आप करते होगे।

श्रे. यह सब परिस्थिति पर निर्भर करता है। स्थिति क्या है ? किसी क्षण करुणा हो सकती है, किसी क्षण नही भी। कई बार समाज के लिए दृढता उपयोगी होती है, फिर वहाँ करुणा का प्रश्न शायद नही उठता, हाँ, पृष्ठभूमि पर उसका नियन्त्रण हो सकता है।

ने.· 'समाज-सेवा' के कितने प्रकार हो सकते है ?

श्रे.. समाज-सेवा दो प्रकार की हो सकती है-धर्म-संबन्धी, समाज-सबन्धी। समस्त सेवाओ को हम इन दो भागो मे रख सकते है।

ने.. धर्म-से-सबन्धित सेवा का क्या स्वरूप होगा ?

श्रे.· जैसे-चरित्र का ऊँचा उठाना, स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त करना, धार्मिक ग्रन्थो को प्रकाशित करना, सगठित होना, धर्म के मूल सिद्धान्तो पर आँच आने पर उनका रचनात्मक प्रतिकार करना, वात्सल्य को फैलाना/प्रगाढ बनाना आदि।

ने.. नेता को आप किस तरह 'सतर्क' रखना चाहते है ? उसे क्या सावधानी बरतनी चाहिये ? सामाजिक नेतृत्व करने वाला खुल कर अपनी बात नही कह सकता। किसी-न-किसी कौशल से, व्यवहार-कुशलता से उसे काम लेना होता है। परिस्थिति मे असमजस पैदा होने पर उसमे से वह अपना रास्ता कैसे निकाले ?

श्रे.. परिस्थिति ?

ने. हाँ, ऐसी कि एक समर्थन कर रहा है, दूसरा विरोध, तब वह क्या करे ?

श्रे. किस चीज का ? सवाल तो विषय का आयेगा न ?

ने.. सो तो है ही।

श्रे.: एक तो उसमे होनी चाहिये अपने काम के प्रति आस्था।

ने. आस्था किस सदर्भ मे ?

श्रे.: जो काम लिया है वह ठीक है, अच्छा है। इस तरह का अडिग विश्वास।

धर्म में-से समाज-सेवा

डॉ. नेमीचन्द जैन : सबमे पहले ज्योति (स्पार्क, चिनगारी) होनी चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र · कार्यकर्ता मे कोई ज्योति होनी चाहिये, कार्य तब होगा। जब य प्रज्वलित हो जाएगी, तब सर्वत्र प्रकाश हो जाएगा।

ने.: धर्म और समाज-सेवा का कोई सबन्ध है क्या ?

स.: धर्म सब कुछ है। समाज-सेवा आदि सब कुछ धर्म मे-से है। अगर धर्म का पाल किया जाए, तो इससे आत्म-कल्याण भी होता है। धर्म के परिपालन से ही समाज-सेवा पुष्ट होत है। धर्म के पालन से क्या नही हुआ, क्या नही होता और क्या नही होगा ? आप ही बताइये। ध्या रखिये, जो भी उत्तम कार्य होते है, वे सब समाज-सेवा के अन्तर्गत ही आते है। उत्तम कार्यो क समाज पर अमिट प्रभाव पडता है।

(तीर्थंकर, वर्ष १३, समाज-सेवा विशेषाक, अक ७-८, नव -दिस , '८३)

हम बदलें : समाज बदलेगा

डॉ. नेमीचन्द जैन सेवा का स्वरूप क्या हो ? सेवा आप किसे कहे ? सेवा यानी क्या

साहू श्रेयांस प्रसाद जैन . सेवाएँ बहुमुखी हो सकती है।

ने.· सेवा कहेगे किसे ?

श्रे. सेवा का लक्ष्य हो समाज-कल्याण। देखे आप कि आपके द्वारा जो भी हो रहा है, क्य उससे समाज ऊपर उठ रहा है, उसमे कोई कल्याणकारी परिवर्तन आ रहा है ? यदि हाँ, तो आ इसे 'सेवा' कहे।

ने. यह एक कसौटी हुई सेवा की ?

श्रे.. हाँ।

ने.: समाज के लिए जो कल्याणकारी है, वह सेवा है।

श्रे.. समाज के लिए क्या कल्याणकारी है, इसमे किचित् मतभेद हो सकता है।

ने.· समाज के निमित्त जो सेवा हम करते है, उसके साथ कोई-न-कोई स्वार्थ अवश्य जुड होता है। क्या ऐसा हो सकता है कि स्वार्थ न हो, मात्र सेवा हो ?

श्रे.· स्वार्थ तो रहेगा, ऐसा मेरा मानना है।

ने. आपने कहा है कि सेवा बहुमुखी हो सकती है, वह किस प्रकार ?

श्रे. वात्सल्य, करुणा, दया- ये सब सेवा की ही शक्ले है।

ने.. ये तो मनुष्य के व्यक्तिगत गुण है।

श्रे.. व्यक्तिगत गुणो मे-से ही उत्कृष्ट सेवा उत्पन्न होती है। यदि करुणा न हो, तो क्यो वह किसी अनाथ की सेवा करने दौडेगा ? सेवा के लिए मन मे एक तरह की धडकन बननी चाहिये।

ने.. उसका होना जरूरी है। सेवा के लिए भीतर-भीतर के स्रोत अवश्य उमडने चाहिये।

श्रे.· वात्सल्य, सामाजिक वात्सल्य, भी ऐसा ही एक झरना है।

ने. आपके मन मे ऐसा होता होगा। जब कभी आप समाज-सेवा के लिए निकलते होगे, तो एक तरह की समाज-वत्सलता का अनुभव आप करते होगे।

श्रे.: यह सब परिस्थिति पर निर्भर करता है। स्थिति क्या है ? किसी क्षण करुणा हो सकती है, किसी क्षण नही भी। कई बार समाज के लिए दृढता उपयोगी होती है, फिर वहाँ करुणा का प्रश्न शायद नही उठता, हाँ, पृष्ठभूमि पर उसका नियन्त्रण हो सकता है।

ने.· 'समाज-सेवा' के कितने प्रकार हो सकते है ?

श्रे. समाज-सेवा दो प्रकार की हो सकती है-धर्म-संबन्धी, समाज-सबन्धी। समस्त सेवाओ को हम इन दो भागो मे रख सकते है।

ने. धर्म-से-सबन्धित सेवा का क्या स्वरूप होगा ?

श्रे. जैसे-चरित्र का ऊँचा उठाना, स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त करना, धार्मिक ग्रन्थो को प्रकाशित करना, सगठित होना, धर्म के मूल सिद्धान्तो पर ऑच आने पर उनका रचनात्मक प्रतिकार करना, वात्सल्य को फैलाना/प्रगाढ बनाना आदि।

ने.. नेता को आप किस तरह 'सतर्क' रखना चाहते है ? उसे क्या सावधानी बरतनी चाहिये ? सामाजिक नेतृत्व करने वाला खुल कर अपनी बात नही कह सकता। किसी-न-किसी कौशल से, व्यवहार-कुशलता से उसे काम लेना होता है। परिस्थिति मे असमजस पैदा होने पर उसमे से वह अपना रास्ता कैसे निकाले ?

श्रे.. परिस्थिति ?

ने. हाँ, ऐसी कि एक समर्थन कर रहा है, दूसरा विरोध, तब वह क्या करे ?

श्रे. किस चीज का ? सवाल तो विषय का आयेगा न ?

ने सो तो है ही।

श्रे.· एक तो उसमे होनी चाहिये अपने काम के प्रति आस्था।

ने.: आस्था किस सदर्भ मे ?

श्रे.: जो काम लिया है वह ठीक है, अच्छा है। इस तरह का अडिग विश्वास।

ने.. ऐसा कि उसमे-से कोई आदर्श प्रकट हो।

श्रे.· दूसरे उसमे लोककल्याण की रचनात्मक दृष्टि होनी चाहिये।

ने.: सक्षेप मे, समाजसेवी मे कम-से-कम तीन गुण होने चाहिये। दृढ विश्वास, स्पष्ट कार्य पद्धति तथा लोककल्याणकारी दृष्टि।

श्रे. वास्तव मे यह सेवा का चिन्तन-पक्ष है, जब इम्प्लीमेंटेशन (क्रियान्वयन) की बा आती है, तब परख होती है।

ने.: चेतना और चिन्तन।

श्रे.: चिन्तन मे तो उसकी आस्था है, लेकिन व्यवहार मे वह कैसा सिद्ध होता है ? व्यवहा मे भी उतना ही प्रामाणिक उसे होना चाहिये।

ने. आपने 'मौका-देने-की-बात' कही है, क्या 'मौका-लेने-की-बात' नही हो सकती युवा-शक्ति मौका ले, तो फिर उसे कौन रोक सकता है ?

श्रे.· सेवा के दो प्रकार है इडिविज्युअल (व्यक्तिगत), 'ऑर्गेनाइज्ड' सेवा पर जो लो बैठ है, जब तक वे हिलेगे-डुलेगे नही, तब तक युवा-शक्ति को मौका कैसे मिलेगा ? इस जग हमे अपने युवको को बैठाना होगा, उनके लिए जगह खाली करनी होगी।

ने.· इसका मतलब यह हुआ कि जो लोग स्थापित है, उन्हे अपनी जगह से हटना पडेगा

श्रे.. हटना चाहिये। एकदम न हटे धीरे-धीरे हटे, लेकिन हटने की प्रक्रिया किसी तरह शु करनी होगी।

ने.· यदि हटेगे नही, तो हटा दिये जाएँगे, 'मौका-लेने-का' मतलब शायद यही है।

श्रे. हटा दिये जाने मे तो मनोमालिन्य और अनावश्यक टकराव होगा, मेरे ख्याल से य दोनो पक्षो के हित मे नही है।

ने.: एक प्रश्न उठता है, सुयोग्य/कुशल/अच्छे नेता में क्या गुण हो सकते है ?

श्रे.: अच्छा नेता अर्थात् समाज का पूर्ण विश्वास-पात्र।

ने.· जो समाज का परिपूर्ण विश्वास संपादित कर ले।

श्रे.. और जो कार्य वह कर रहा है, उसमे भी उसका पूर्ण विश्वास हो, उसमे उसकी स्वय कं अविचल आस्था हो।

ने.· यह बहुत जरूरी है।

श्रे.. समाज के विश्वास की बात तो बाद की है। पहले स्वय को आस्था होनी चाहिये यह वि जो कार्य मैंने लिया है, या जो जिम्मेदारी मैंने ली है, वह महत्त्वपूर्ण और समाजोपयोगी है। समा
े विश्वास-संपादन का प्रश्न इसके बाद का है।

ने.· इसे तो काम की पद्धति, लक्ष्य, और स्वरूप से संपादित किया जा सकता है, अव्वल आस्था होनी चाहिये।

श्रे.· हॉ।

ने.· यह कि जो सेवा वह कर रहा है, वह पुख्ता है।

श्रे.. उसमे उसका अखण्ड/अटूट विश्वास है।

ने.. समाज-सेवा की 'दृष्टि' देने के लिए हमारे देश मे विद्यालय खुले है, और शिविर भी लगाये जाते है। जैन समाज मे सेवाएँ विविध है, स्थितियाँ भी बहुत है, लेकिन क्या ऐसा कुछ अपने यहाँ होता है ?

श्रे.· शिविर (कैम्प्स) तो लगते है।

ने. वे सिद्धान्त के प्रचार के लिए चलते है, आप चाहते है कि इसके अलावा भी कुछ हो ?

श्रे. विचार करने की जरूरत है।

ने.. क्या आप चाहते है कि ऐसे विद्यालय, या शिविर आदि हो ?

श्रे.: इस पर व्यापक विचार-विमर्श की आवश्यकता है, बाद को जो भी निष्कर्ष निकले।

ने.. मै व्यक्तिगत रूप से आप से पूछता हूँ कि क्या हमे इस तरह के प्रोफेशनल्स (पेशेवर) पैदा करना चाहिये 'सेवा' के लिए।

श्रे.· समाज-सेवा के क्षेत्र मे भी दो तरह के पेशेवर लोग होते है, एक जो वेतनभोगी है और समाज-सेवा करते है। इस वर्ग के लोग भी कई बार बहुत अच्छा सेवा-कार्य करते है, दूसरे वे है जो सेवा के लिए समयोचित परामर्श देते हैं। दोनो स्थितियाँ भिन्न है। वस्तुत आदर्श सेवा से अनुप्राणित व्यक्ति बहुत ही कम है।

ने.· समाज मे ऐसे व्यक्ति हो, इसके लिए हम क्या करे ? नही है, यह तो ठीक है।

श्रे.· सबमे पहली बात तो यह है कि जब तक ऐसे लोगो की, जो समय दे सकते है और सेवा के लिए मन से तैयार है, आर्थिक स्थिति नही सुधरेगी, तब तक ठोस कुछ हो नही सकेगा। जिनकी सेवाएँ आप ले रहे है, उनकी आर्थिक स्थिति अवश्य सुधारनी चाहिये और इस हद तक सुधारनी चाहिये कि उन्हे एक औसतन जीवन-यापन के लिए आवश्यक साधन-सुविधाएँ सुलभ हो, मार्ग-व्यय आदि की यथोचित व्यवस्था हो।

ने.· ये तो हुई सम्मान की रक्षा के लिए कुछ शर्तें, लेकिन समाज-सेवा के लिए ऐसे व्यक्ति तैयार कैसे करेगे ?

श्रे.· समाज-सेवा के लिए कोई व्यक्ति जब तक स्वय तैयार नही होगा, कैसे क्या हो पायेगा ? कोई कहे कि 'मुनि' को कैसे तैयार करे ?

ने. 'मुनित्व' की तैयारी तो 'ब्रह्मचर्य' से शुरू होती है।

श्रे. यह तो ठीक है, लेकिन उसके मन मे कुछ चिनगारी तो बनी होगी।

ने. कोई चिनगारी (स्पार्क) तो होनी ही चाहिये ?

श्रे.. हाँ। इसी तरह समाज-सेवा को ले कर जब तक व्यक्ति के मन मे कोई रुचि, कोई स्फूर्ति, कोई ज्योति प्रज्वलित नही होगी, तब तक कही कुछ हो नही पायेगा।

ने.: 'स्पार्क' (चिनगारी) कहाँ से लायेंगे ? कौन पैदा करेगा ?

श्रे.. अन्तरात्मा।

ने.: यह तो अनिश्चित कुछ हुआ, उसकी तो प्रतीक्षा करनी पडेगी।

श्रे. महात्मा गाँधी। उन्होने एक उद्देश्य स्थिर किया। वे नही होते, तो देश-सेवा का इतना कार्य ही नही होता। उन्होने लोगो के सामने ठोस कुछ रखा, जिसे लोगो ने अपनाया और रचनात्मक रूप दिया। सेवा का कोई कार्य करना हो, तो पहले समाज-सेवा के प्रति लोगो के अनुराग उत्पन्न करना होगा, तभी वह होगा। यदि लोगो मे रुचि नही होती तो गाँधीजी के युग मे भी कुछ नही होता। देखिये ने, जैन समाज मे बहुत-से-कार्य रोज-रोज खडे होते है, बहुत-सी अपीले छपती है, किन्तु जब तक रुचि नही होती, तब तक कुछ घटित नही होता है।

ने.. यह बात आपने बहुत अच्छी कही है। गाँधीजी का आश्रम था वर्धा मे और विनोबाजी का पवनार मे। क्या इस तरह का कोई आश्रम हम जैन समाज को नही दे सकते ?

श्रे. लेकिन गाँधीजी के बाद गाँधी-आदर्श खत्म हो गये और विनोबाजी के बाद विनोबा के, पूरा फॉलोअप और निष्ठा आवश्यक है।

ने.. किन्तु हमारे यहाँ तो अभी ऐसा कुछ हुआ ही नही है।

श्रे. आप जो समझे, इस बारे मे कुछ भी निष्कर्ष ले, लेकिन जो उद्देश्य सामने है, यदि उसकी अपील लोगो को नही छुएगी, तो कोई कार्य नही होगा। अपील होनी चाहिये, उसे जनजीवन को छूना चाहिये।

ने.. यह ठीक है।

श्रे.. अपील ऐसी हो कि उसमे कोई स्वार्थ न हो। जब यह बू आने लगेगी कि इसमे उसका कोई स्वार्थ है, अच्छे-से-अच्छा कार्यक्रम तब चल नही पायेगा।

ने.. देखना यह है कि वह अपील लोगो को छू पाती है या नही। समाज-सेवा के लिए एक उपयुक्त मानसिकता भी तो बननी चाहिये।

श्रे. सेवा का जो कार्य है, वह बहुत कठिन है। एक तो लोगो के पास समय नही है, दूसरे, आर्थिक स्थितियाँ प्रतिकूल है। रुचि भी नही है। जब तक ये सब स्थितियाँ नेता बनने के लिए नही होगी, कोई सेवा करे, यह असभव है।

ने.: आज ये अनुपस्थित हो गयी है, इन्हे लौटाने की जरूरत है। कैसे हो सकती है यह वापसी ?

श्रे.: इसके लिए सारा वातावरण बदलना होगा। जब कोई गाँधी पैदा होगा देश मे, समाज मे, तब कही वह हो पायेगा।

ने.· यह तो आप महसूस करते है कि अब ऐसा कोई आदमी आना चाहिये।

श्रे.· पर आदमी कोई कहने से तो आयेगा नही।

ने.: तो क्या समाज को उसके भाग्य पर छोड दे ?

श्रे.· देखिये, महावीर एक ही हुए, राम भी एक ही हुए, कृष्ण भी एक ही थे, किन्तु जैसा कृष्ण के जमाने मे हुआ, राम के युग मे हुआ, या बुद्ध/महावीर के समय मे हुआ, वह/वैसा आज कोई कर तो नही सकता।

ने.. इतिहास से कोई बहाना हम ढूँढेगे, तो वह ठीक नही होगा।

श्रे.· यह बहाना नही है, वास्तविकता है।

ने. युगान्तर जरूरी है, जिसे हमारा वर्तमान नेतृत्व ही लायेगा।

श्रे.. परिवर्तन लायेगा, लेकिन परिवर्तन वही ला सकेगा, जिसके प्रति समाज की श्रद्धा होगी।

ने. क्षु गणेशप्रसादजी वर्णी का नाम हम कई बार लेते है। विद्यानन्दजी का नाम भी लिया जा सकता है। ऐसा कोई व्यक्तित्व चाहिये। वर्णीजी की समकालीन परिस्थितियो की समीक्षा हम करे।

श्रे.. उन परिस्थितियो मे वर्णीजी का अपना 'एप्रोच' था। वे जो करना चाहते थे तदर्थ उनका भीतर-बाहर एक-जैसा था।

ने. बात वहुत अच्छी है। समाज-सेवी के अन्दर जो हो बाहर वही हो और बाहर जो हो वही भीतर हो, तभी सार्थक कुछ हो सकता है।

श्रे. कुछ करा लेने के लिए वर्णीजी किसी प्रकार का प्रलोभन नही देते थे। जो उन्हे जँचता था, वही करवाते थे। उनका व्यक्तित्व विचक्षण था।

ने. उन्होंने हमारे सामने आदर्श उपस्थित किया कि समाज-सेवा करना हो, तो व्यक्ति मे 'भीतर-बाहर की एकरूपता' जरूरी है।

श्रे. लेकिन इसमे बडी सावधानी की जरूरत है। जो भीतर है, उसे वाहर प्रकट करने के लिए वातावरण भी देखना आवश्यक है। यदि एकदम सारी वात भीतर की वाहर कह दे

तो जो उद्देश्य उसके सामने है, उसे क्षति पहुँच सकती है। मै इसमे इतना सशोधन चाहूँगा कि जो अन्दर है, वह बाहर तो होना ही चाहिये, लेकिन यदि कोई परिस्थिति ऐसी आती है कि 'बाहर' कहने से, बजाय ध्येय-पूर्ति के, कोई क्षति पहुँचती है, समाज का विघटन होता है, तो इस अद्वैत को कुछ समय के लिए स्थगित भी कर देना चाहिये।

ने.. मै 'कथनी-करनी' की आदर्श एकता की बात कर रहा था।

श्रे.: वह तो होनी ही चाहिये।

ने.. मै आपकी बात को इस तरह से ले रहा था कि जो नेता हो, उसकी कथनी-करनी मे एकता हो यानी जो वह कहे, वह करे, जो करे, वह कहे।

श्रे.. जो बात आप कहते है, वह बिलकुल ठीक है। करनी तो ठीक है , किन्तु कथनी मे काफी संयम की जरूरत है। वस्तुत जितना उपयोगी हो सकता है, उतना कहना चाहिये। यदि किसी कथन का दुरुपयोग होता हो, उससे वैमनस्य फैलता हो, कुछ लोग उसका लाभ ले कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हो, या उसमे व्यर्थ की मीनमेख निकलते हो, तो निश्चित मानिये कि जो काम करना / करवाना हो, वह हो नही पायेगा। उसके सपन्न होने मे विघ्न खडे होगे।

ने. यानी कथनी को भी प्रसगानुसार काम मे लाना चाहिये, कोई कौटिल्य (डिप्लोमेसी) तो नही ही होना चाहिये।

श्रे. हाँ। आप जो कर रहे है, वह किसी चतुराई के लिए नही कर रहे है, छल नहीं कर रहे है, बल्कि इसलिए कर रहे है कि आपको अपने उद्देश्य की सफल पूर्ति करनी है।

ने.: एक बडी बात आपने, जो प्राय किसी महाविद्यालय मे ही कही जाती है, यहाँ कह दी है। सामाजिक नेतृत्व कैसे बने ? या नेतृत्व सहन कर सके, ऐसा समाज कैसे विकसित हो ? एक पूरी प्रक्रिया आपने इसमे दे दी है। इसमे आप कुछ और जोडना चाहेगे क्या ?

श्रे.: कहना चाहूँगा कि नेता बनाने से नही बनते। महात्मा भी नही बनते। ये तो जन्मजात होते है। उन्हे ऐसा सत्सग मिला, चाहे वर्णीजी का, गाँधीजी या तिलक का कि वे खुद को तदनुरूप ढाल सके।

ने.: दो शब्द है - 'समाज-सेवा' और 'मानव-सेवा'। इन दोनो मे क्या कोई फर्क है ?

श्रे. मानव-सेवा यानी व्यक्ति-सेवा और समाज-सेवा यानी ऐसी सेवा जिसका किसी समुदाय पर प्रभाव पडता हो।

ने.: ईसाई मिशनरियाँ जो काम करती है वह मानव-सेवा ही तो है ?

श्रे.. इस सेवा का उद्देश्य क्या है ?

ने.. धर्म-प्रसार हो सकता है; लेकिन वे मानव-सेवा के साथ समर्पित मन से यह काम भी करते है।

श्रे.: एक तो यह कि मिशनरियो के पास अपार धन विदेशो से आता है। जनसंख्या-वृद्धि को भी जन-सेवा का लक्ष्य बना लिया गया है, क्योकि जिनका सख्याबल अधिक है, उनका राजनैतिक प्रभाव भी उतना अधिक है। साफ-सुथरे शब्दो मे मैं इसे जन-सेवा या समाज-सेवा नही कहूँगा। यद्यपि वे जन-सेवा करती है, तथापि यह जानना जरूरी है कि उनका इस सेवा की पृष्ठभूमि क्या है, क्योकि इसे समझे बगैर उसकी 'क्वालिटी' के बारे मे हम कुछ कह नही सकेगे।

ने.. उस पैटर्न (अनुकरण) पर यदि कुछ काम हो, तो वह ठीक होगा क्या ?

श्रे.: ईसाइयो की दृष्टि से ठीक है।

ने.: वे जिस काम को उठाते है उसे सेवा और समर्पण की भावना से करते है, इस 'स्पिरिट' (चेतना/भावना) को तो हम लें ही।

☐☐

ने.· छोटे-से-छोटे, गरीब-से-गरीब आदमी सौ-मे-से एक रुपया बचाने की कोशिश करे और डाल दे अपदे अशदान के रूप मे उसे समाज-सेवा के निमित्त, मै समझता हूँ, ऐसा कोई प्रयोग अवश्य होना चाहिये।

श्रे.· हमारे जो मुनिजन/साधुजन है , वे लोगो को समझाये कि यह भी धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ऋषि-मुनियों ने ही बहुत से विषयो को धर्म के दायरे मे ले लिया, ताकि लोग भय, या श्रद्धा के कारण उन्हे करे, या उनसे बचे। ऐसे ही विषय ये है, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिसा, अचौर्य। इन सब की अच्छी /नि शक धार्मिक व्याख्याएँ की जानी चाहिये।

ने. अच्छी यानी क्या ?

श्रे.· यानी व्यापक, स्पष्ट, प्रेरक, और प्रभावशाली।

ने. उदार, या विस्तृत, कैसी ?

श्रे.· यह जरूरी नही है कि बहुत विस्तार हो, यदि हजार-मे-से एक आदमी भी प्रेरित/ प्रभावित होता है, तो यह एक बहुत बडी उपलब्धि होगी।

ने. पहले 'उद्धारक' को 'उद्धृत' होना होगा। क्या दीया-तले अँधेरा उचित होगा ? वह आत्मोद्धार नही करेगा ?

श्रे. सब मे पहली कसौटी ही आत्मोत्थान होगी, यदि कोई व्यक्ति उपदेश तो दे रहा है, किन्तु उसे अपने-जीवन मे नही उतार रहा है, तो वह सिर्फ मजाक होगा। उसका लोक-हृदय पर कोई प्रभाव नही पडेगा।

ने.. आप धनी-मानी, संपन्न है, अत· मानते हैं कि सेवा के लिए धन जरूरी है ? जिसके पास धन नही है, उसके लिए सेवा का स्वरूप क्या होगा ? क्या वह सेवा कर सकता है ?

श्रे.. वह तन-मन से सेवा कर सकता है। सेवा के लिए समर्पण आवश्यक है।

ने. मै 'धन' की बात कर रहा हूँ।

श्रे.. मै भी वही कह रहा हूँ। छोटे-से-छोटा काम हो, मसलन आश्रम बनाना है, तो धन के बगैर वह बन सकता है ?

ने. नही, लेकिन यदि किसी का सकल्प वैसा है, तो फिर उस सकल्प के लिए धन आ जाएगा।

श्रे.. आज की परिस्थिति मे, जब तक दूसरो को उसके कार्य के प्रति श्रद्धा नही होगी, धन नही आयेगा। सिर्फ कहने-भर-से धन नही आयेगा। उदाहरण के लिए शंकराचार्य के मठ हो, या जैनो के गुरुकुल/आश्रम, कोई बगैर धन के नही चल सकता। इस तरह सोचे तो लगेगा कि पहली अनिवार्यता धन ही है। कोई आश्रम ऐसा नही है, जो यह पाठ पढाता हो कि बगैर धन के कोई कार्य हो सकता है, फिर भी धन की एक सीमा है, जो मै नही देख पा रहा हूँ।

ने. आप यह मान कर चल रहे है कि सेवा के लिए जरूरी है, धन के बिना सेवा होगी नही। सकल्प से धन बडा है, या धन से सकल्प ?

श्रे. दोनो जरूरी है। एक कर्मठ कार्यकर्ता धन ले आयेगा, लेकिन उसे भी धन ही लाना होगा। आश्रम चलाने के लिए अथवा कोई और कार्य के लिए।

ने. इसमे नम्बर-१, किसको देगे ?

श्रे. आदमी को।

ने.: आदमी के सकल्प को ?

श्रे. आदमी के चरित्र को, सकल्प की बात पीछे है।

ने.. पहले चरित्र, फिर सकल्प, फिर धन।

श्रे.. हाँ।

ने.· इनका जब त्रिकोण बनेगा, तभी समाज-सेवा हो सकती है। इस त्रिभुज मे धन को आधार (वेस) मान ले, और अन्य दो भुजाएँ माने चरित्र तथा सकल्प, इस तरह समाज-सेवा का एक प्रशस्त त्रिकोण बन जाएगा। यह एक वात हुई। क्या दान को सेवा कहेगे ?

श्रे.· 'दान' शब्द अच्छा नही है, क्योकि जिसे भी वह दिया जाता है, वह हीन/छोटा दीख पडता है। मेरी राय मे 'दान' शब्द ही गलत है।

ने. 'दान' का एक अर्थ आया है 'सविभाग', अधिक का समान, किन्तु सद्भावनापूर्ण वितरण।

श्रे. लेकिन 'दान' मे-से जो प्रचलित ध्वनि निकलती है, वह तिरस्कारपूर्ण है। देने वाले और लेने वाले मे कोई भावनात्मक खाई नजर आती है, छोटे-बडे होने की स्थिति बनती है।

ने. देने वाले मे 'दभ' लगता है ?

श्रे.: हाँ।

ने. लेकिन दान की परम्परा तो है, उसे उखाडना मुश्किल है। 'दान' की जगह और क्या शब्द ला सकते है, धन को समाज तक पहुँचाने की प्रक्रिया के लिए ?

श्रे. 'योगदान' कह सकते है।

ने.. 'दान' तो उसमे भी है।

श्रे. कैसा 'दान' ?

ने.· 'योगदान' मे 'दान' है (हँसी)।

श्रे. दान केवल धन का होता है, योगदान उसके अलावा और बहुत कुछ है।

ने. शब्द तो बहुत अच्छा है योगदान।

श्रे इसमे दृष्टिकोण बदल जाता है।

ने.. धर्म के सिलसिले मे 'योगदान' कैसे कहेगे ? वह किसी पर भी लागू हो सकता है, जैसे मै लिख रहा हूँ, तो यह भी योगदान है। आप धन दे रहे है, तो वह भी योगदान है।

श्रे. जिसके पास जो है वह उसे दे तो वह योगदान है।

ने. 'दान' की जगह 'योगदान' शब्द काम मे लाना चाहिये, यही न ? अर्थात् दान को अव इस्तीफा दे देना चाहिये।

श्रे. इस्तीफा दिला दे, लेकिन वह देनेवाला है नही (हँसी)।

ने.: उसकी जगह योगदान आ जाए। यह एक अच्छा मूल्य आपने सामने रखा। कुछ लोग ऐसे है, जो नाम के लिए सेवा करते है। कुछ लोग ऐसे है, जो निष्काम सेवा करते है, वे कम है। नाम-के-लिए-सेवा, या काम-के-लिए-सेवा, दोनो मे श्रेयस्कर कौन-सी सेवा है ?

श्रे.· नाम-के-लिए-सेवा करना, और सेवा के द्वारा बाद को नाम हो जाना दोनो स्थितियो मे काफी अन्तर है।

ने. क्या अन्तर है ?

श्रे. सिर्फ इसलिए सेवा करना कि मेरी प्रसिद्धि हो, या लोग मेरे गीत गाये, ठीक नही है, किन्तु जो सेवा करता है, उसके मन मे थोडी-बहुत यशोकामना होती ही है। जीवन-मे-सेवा हो सकती है, पर सेवा-के-लिए-जीवन थोडा मुश्किल है।

ने.· यदि कोई सेवा-के-लिए जीवन अर्पित कर दे तो ?

श्रे. यह आदर्श की बात है और हम बात कर रहे है व्यापकता की। करोडो-करोड मे सभव है कोई आदमी हो जिसने सेवा-के-लिए अपना समग्र जीवन निष्काम भाव से समर्पित कर दिया हो।

ने.· वह दुर्लभ (रेअर) है।

श्रे.· हाँ, उसका उदाहरण नही दिया जा सकता।

ने.· वह युगापेक्षा (युग की माँग) से पैदा होता है।

श्रे.· 'यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' गीता वाली बात है।

ने. हो जाए तो हो जाए।

श्रे. हो जाए तो बहुत शुभ है, लेकिन उदाहरण नही दिया जा सकता। उदाहरण तो उसी का दिया जा सकता है, जो लोकविश्रुत हो।

ने.. 'जीवन-के-लिए-सेवा' और 'सेवा-के-लिए जीवन' - इन दोनो मे-से कौन-सी स्थिति उत्कृष्ट है ?

श्रे. इसे मै यो कहूँगा जीवन-मे-भोग हो सकता है, किन्तु भोग-के-लिए-जीवन नही है।

ने.· 'खाने-के-लिए जीवन' या 'जीवन-के-लिए-खाना' ?

श्रे. जीवन मे भोग हो सकता है। केवल खाना ही नही, उसमे सब प्रकार की भोग-सामग्री शामिल है। यदि कोई माने कि मेरा जीवन सिर्फ भोग-के-लिए है, तो यह उचित नही है।

ने.· सेवा (योग) और भोग मे तो बहुत अन्तर है। आप फिर उन्ही शब्दो को लीजिए। इन्हे सेवा पर कैसे लागू करेगे ?

श्रे.. जीवन मे जो सेवा हो सकती है, उसे जरूर करे, लेकिन कौन आदमी ऐसा है (दुर्लभ विभूतियो को जाने दीजिये), जो केवल सेवा करता है ? ऐसे लोग अवश्य है जो अपने परिवार का पालन भी करते है, दोस्तों का ध्यान भी रखते है, समाज को भी देखते है। वे यदि केवल सेवा ही करते रहे, तो अन्य कुछ कर ही नही सकते। मेरी दृष्टि मे सेवा-के-लिए-जीवन नही, वरन् 'जीवन-मे सेवा' हो सकती है, होनी चाहिये, किन्तु यदि सेवा-ही-

सेवा होगी, तो व्यक्ति का जीवन-यापन मुश्किल हो जाएगा। जब तक समाज ऐसे लोगो को सपूर्ण सरक्षण नही देता, हम उनके होने की कल्पना भी नही कर सकते।

ने. 'जीवन-मे-सेवा' अधिक व्यावहारिक लगता है, इसे हम 'सेवामय जीवन' भी कह सकते है ?

श्रे.. कह सकते है।

ने.. क्योकि सेवा-मे-निमग्न कोई आदमी चले और एक गृहस्थ के कर्तव्यो का पालन भी करे।

श्रे.: सेवा असल मे कुछ खास लोग ही कर सकते है, उसके लिए त्याग और समर्पण की ऊँची भावना चाहिये।

ने. हालात ही चुनते है, कोई और आदमी तो चुनाव कर नही सकता।

श्रे. इसे तो मै मानता ही नही हूँ कि कोई आदमी निष्काम सेवा करता है, लेकिन निष्कामता कमोबेश हो सकती है। सारे लोग लोकेषणा के लिए ही सेवा नही करते, कई बार ऐसा भी होता है कि सेवा के माध्यम से शोहरत अनायास मिल जाती है।

ने. यह महत्त्वपूर्ण है कि सेवा के माध्यम से ख्याति मिल जाती है।

श्रे.: उसे सतोष होता है कि मेरे काम को लोगो ने सराहा, उसे आदर की दृष्टि से देखा।

□□

ने.: माता का इतना अपरपार वात्सल्य और अभिभावन आपको मिला, सचमुच आप बहुत भाग्यशाली है।

श्रे.· उनमे कठोरता नही थी, पारदर्शी कोमलता थी। कितने सयोग प्राप्त थे खराब होने के, किन्तु उनके स्नेह ने मुझे बचाये रखा।

ने. चारो ओर विषम वातावरण था।

श्रे.. संयोग ऐसे थे कि मै कभी भी विचलित हो सकता था, पर हुआ नही। इसमे केवल माँ ही कारण है। मैंने कभी शराब नही पी, सिगरेट नही पी, कोई व्यभिचार नही किया, यह सब उनके शुभाशीष है।

ने.. बहुत बडी बात हुई।

श्रे. कारण एकमात्र माँ ही थी।

ने. माँ को केन्द्र मे रख कर ही यह सब हुआ, वैसा नही होता तो ·

श्रे.. माँ के प्रति मै पूर्णत समर्पित था। मेरे पिताजी का मस्तिष्क थोडा विकृत था। माँ ने मेरे लिए जितनी वत्सलता और ममता होनी चाहिये, उससे थोडी अधिक ही थी। आज जब मै उन्हे याद करता हूँ, तो आँखे डबडबा आती है। कैसा · (बच्चो-जेसे बिलख-बिलख कर रो पडे।)

ने.: माँ के अन्तिम क्षणो मे आप उन्ही के पास रहे होगे ?

श्रे. उन्होंने अन्तिम साँस ही मेरी गोद मे ली।

ने.. सब कुछ बड़ा मर्मान्तिक था। उनकी गोद मे आपका जन्म हुआ था और आपकी गोद मे उनका निधन, अजव है विधाता का विधान !

(तीर्थंकर, वर्ष १३, समाज-सेवा विशेषाक अक ७-८, नव -दिस , '८३)

समाज-सेवा : वर्तमान में औपचारिक ही नहीं; स्वार्थी

डॉ. नेमीचन्द जैन . आजादी के पहले सेवा आध्यात्मिकता समर्पण की भावना तथा मनुष्य के उदात्त गुणो के साथ जुडी हुई थी। उसके बाद जो परिवर्तन घटित हुआ, उसका अहसास आपको कब हुआ ?

रामकृष्ण बजाज : आजादी के बाद समाज-सेवा मे बुनियादी फर्क आता गया, जैसे-जैसे सत्ता हमारे हाथो मे अधिक-से-अधिक आती गयी, सत्ता की तरफ हमारा अधिक आकर्षण बढता गया - हम सत्तालोलुप होते गये और सत्ता के साथ-साथ पैसे हमारा जोर जाने लगा। जिन्होंने गाँधीजी के साथ सेवा की थी, वे लगातार पीछे छूटते चले गये, उनकी पूछ कम होने लगी, जो लो सत्ताधारियो के आजू-बाजू घूमते थे, उनकी पूछ अधिक होने लगी। इसलिए जो लोग आज सत्ता मे है, सबका मै नही रह सकता, लेकिन अधिकतर ऐसे लोगो की समाज आज बहुत इज्जत नहीं है।

ने. यानी पहले जो समाज-सेवी था, वह अब दिखायी नही देता। समाज-सेवा कुछ औपचारिक हो गयी है।

रा. औपचारिक ही नही, मतलब की बात गयी है, हम चाहने लगे है कि समाज-सेवा के बदले हमे कुछ मिले। पहले जो समाज-सेवा थी। वह केवल देने-ही-देने की थी, अब वह ऐसी नही है। आज भी असली समाज-सेवी है, उन्ही के भरोसे देश चल रहा है, ममाज टिका हुआ है, लेकिन आज जो वृत्ति हो गयी है कि हम जो भी सेवा करे, उसके बदले मे हमे कुछ मिले।

ने. इस सेवा से हम क्या अर्थ ले ? थोडा स्पष्ट कीजिए कि सेवा हम किसे कहे।

रा.. सेवा के दो प्रकार है, एक सस्थागत है। ऐसी सस्थाएँ जो मानव-हित के काम करती है, जो परोपकारी है, जो लोगो को हर तरह से राहत पहुँचाती है। ऐसी सस्थाओ मे कार्य करने पर हम बदले मे कुछ चाहते नही है। दूसरी राजनैतिक सेवा है। जिसे सेवा तो कहा जाता है, क्योकि देश को चुने हुए लोग उसे करते है, लेकिन उसमे देखा यह गया है कि अधिकाश लोगो की अपेक्षा रहती है कि मै यह सेवा करता हूँ, तो बदले मे कोई ओहदा, कोई अधिकार, या कुछ सुविधाएँ मुझे मिले। सेवा के बदले मे कुछ मिले- ऐसी वृत्ति उनकी रहती है। इसे निष्काम सेवा हम नही कहेगे। (तीर्थंकर, वर्ष १४, अक १, मई, ८४)

महिलाएँ आत्मनिर्भर के साथ कर्तव्यनिष्ठ हों

डॉ. नेमीचन्द जैन : क्या आप जैन महिलाओ को कोई सदेश देना चाहती है ?

पं.: सुमतिबाई शहा : जैन महिलाओ को स्वावलम्बी बनना चाहिये। उन्हे यह भी समझना चाहिये कि जैनधर्म निराशावादियो के लिए नहीं है। उन्हे धैर्य रखते हुए उत्साहपूर्ण रहना चाहिये। जैन सस्कृति के सरक्षण और सवर्धन का दायित्व महिलाओ पर विशेष रूप मे है। पारिवारिक जीवन को स्वस्थ, सुन्दर और सुखद बनाने का कर्तव्य महिलाओ का ही है, वे अपने बच्चो को सुसस्कार देने के लिए घर मे सत्साहित्य का सेट रख सकती है। घर-घर मे पुस्तकालय-वाचनालय खोलने/खुलवाने का काम वे कर सकती हैं। चरित्र-निर्माण करने वाला साहित्य घर मे रख कर बच्चो मे सुरुचि पैदा कर सकती हैं। सुरुचि और सुसस्कार का संवर्धन महिलाएँ ही कर सकती है। धर्म और सस्कृति की रक्षा के साथ उसे बढाने का कार्य भी महिलाएँ अपने घर-परिवार मे कर सकती है। यह उनकी समाज-सेवा का सृजनात्मक अग हो सकता है। वे आत्मनिर्भर होने के साथ-साथ इस कर्तव्य को भी निभा सकती हैं। मै तो जहाँ जाती हूँ यही करती/कहती हूँ। (तीर्थंकर, वर्ष १४, अक २, जून, '८४)

भारतीय नारी / जैन नारी अपनी अस्मिता को पहचाने

डॉ. नेमीचन्द जैन : भारतीय सस्कृति मे नारी को दर्जा कैसा है, स्थिति कैसी है ?

श्रीमती शरयू दफतरी : अमेरिका, यूरोप आदि मे कही भी स्त्री का इतना ऊँचा स्थान नही है, जितना भारत मे है। भले ही यहाँ के लोग कभी-कभार उसका तिरस्कार करते हो, उसे मारते-पीठते हो, किन्तु मन मे उसके प्रति श्रद्धा है, सम्मान है। माँ के प्रति हमारे देश मे जो भक्ति-भाव है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हमारे यहाँ समूची स्त्री-जाति को इसी तरह देखने की परम्परा है। माँ-बेटे का रिश्ता प्यार/प्रणाम/वात्सल्य का रिश्ता होता है। माँ जितने प्यार से अपनी सतान का पालन-पोषण करती है, संतति के मन मे वैसी ही गहरी श्रद्धा और गहन आदर घर करता है। भारतीय समाज में ज्यादातर प्रतिशत ऐसे ही भावनाशील लोगो का है। जैन समाज को ही लीजिये। मै तो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि उसमे नारी के प्रति कितना सम्मान है। भले ही उसे घर से बाहर आने-जाने की अधिक छूट नही है, लेकिन घर मे उसके लिए अपरपार प्यार है। यूरोप आदि देशो मे स्त्री को वह पारिवारिक, सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नही है। इसीलिए वहाँ नारी-स्वातन्त्र्य का आन्दोलन चलता है। ऐसे आन्दोलनो की भारत मे कभी आवश्यकता ही महसूस नही हुई।

ने.: फिर भी हमारे देश मे स्त्रियो की दशा सुधारने की आवश्यकता तो है ही।

रा.: हमारे देश मे नारी के लिए जो पवित्र आदर भाव है, वह औरों के लिए नही है।

ने.: आप अपनी विशेषताएँ खुद तक ही सीमित क्यो रखना चाहती है। अपने इस रचनात्मक विचारो को फैलाइये, बढने दीजिए। चतुर्दिक, ताकि दूसरों को भी लाभ मिले, लेकिन नारी-गौरव फिर से लौटे यह तो मुझे असभव लगता है।

रा.: मुझे किन्तु असभव नही लगता।

ने.: आप एक महानगर मे रहती हैं फिर भी आपको यह सब संभव दीखता है।

रा.: विदेशी लोगो के अनुभव हमे मिले हैं, किन्तु यदि उन्हे जिन बुराइयो, दु खो, अभिशापो और विकृतियो को भोगना पडा है, उसे जान पायेगे तो इन सब आपत्तियो से बच जाएँगे, इनकी पुनरावृत्ति से हमारी रक्षा हो सकेगी। यदि स्त्री को विवेकपूर्वक इन बुराइयो का बोध हो जाए, तो फिर वह उस रास्ते नही जाएगी। असल मे यह सब समझने/समझाने की बात है। काम निश्चय ही आसान नही है, मुश्किल वह है, किन्तु असंभव नही है।

(तीर्थंकर, वर्ष १२, अक ३, जुलाई '८२)

समाज में सिर्फ़ उपदेश/भाषण से क्रान्ति नहीं

डॉ. नेमीचन्द जैन युवाओ के मानस को समझनेवाले पंडित या प्रोफेसर है कहाँ, जो उनकी धार्मिक जिज्ञासा को तृप्त कर सके ?

रमेशचन्द जैन : युवाओ को वैज्ञानिक पद्धति से जैनधर्म के सिद्धान्तो को समझानेवाले पडित या धर्माध्यापक जो भी है, तैयार होने ही चाहिये, अन्यथा वे धर्म की सही समझ से वचित रह जाएँगे।

ने.· आपका तो अपने व्यापार या व्यवसाय के कारण हर वर्ष विदेश जाना होता है। आप देखते होंने कि विदेशो मे जो जैन हैं। वे भारतीय जैनो से कुछ भिन्न हो गये है।

र.. लेकिन मै समझता हूँ, अनुशासन हमसे ज्यादा है। उनका अपना चरित्र है। वे शाकाहारी है और अपने धर्म यानी जैनधर्म को निभाने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करते है। हमारे चारो समाज (दिगम्बर, श्वेताम्बर-तेरापन्थी स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी) का वहाँ समत्वत है, वे सब मिलकर सामाजिक / धार्मिक कार्य करते है, मैं इग्लैड की बात कर रहा हूँ। मै उनके बहुत करीब गया हूँ।

ने.: जैन नारी की क्या स्थिति है आज ? इस सबन्ध मे आप क्या सोचते है ?

र.· सामाजिक दृष्टि से उसे अभी बहुत जगाना होगा, और यह तभी हो सकता है, जब पुरुष अनुशासित हो। जब तक पुरुषो की प्रधानता रहेगी, नारी आगे कैसे बढ पायेगी ?

ने.. क्या दोनो समानान्तर नही चल सकते।

र. कैसे चलेगे ? दोनो मे वह समानता और सुसवद्धता कहाँ है ? इस दिशा मे सहानुभूतिपूर्वक ही कुछ कहना होगा।

ने.. बच्चो को जैनधर्म का तर्कसगत ज्ञान मिलना चाहिये । इस विषय पर आपका सोच क्या है ?

र.: यह काम आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टि - सपन्न व्यक्ति ही कर सकते है, फिर चाहे उन्हे आप पडित कहे, या प्रोफेसर। बच्चो मे भाषण या उपदेश कम देना होगा, उनके प्रश्नो के सही उत्तर देना जरूरी है । बाल मन-मस्तिष्क मे उठने वाले धार्मिक प्रश्नो-शकाओ का समुचित समाधान किस प्रकार हो, इसका प्रावधान हमारी धार्मिक शिक्षा-पद्धति मे होना चाहिये। अब केवल भाषण या उपदेश देने से काम चलने वाला नही है।

ने.. अब धार्मिक शिक्षा को तर्कसगत, वैज्ञानिक और आधुनिक बनाना आवश्यक हुआ है, अन्यथा हम अपने बच्चो को अनायास ही एक उत्कृष्ट धार्मिक धरोहर से वचित कर बैठेगे।

(तीर्थंकर, वर्ष १४, अक ४, अगस्त , '८४)

सामाजिक क्रान्ति : कैसी, कहाँ से ?

डॉ. नेमीचन्द जैन : हम सामाजिक क्रान्ति पर विचार कर रहे है। जैन समाज मे समय-समय पर सुधारवादी आन्दोलन चले है । कुछ लोगो ने रचनात्मक क्रान्तियाँ भी की हैं, लेकिन अब सन्दर्भ कुछ दूसरे हो गये है । आप समाज मे किस तरह का परिवर्तन चाहते है ?

सौभाग्यमल जैन समाज मे आज सबसे बडा अकाल है सुसस्कार का । अधिकतर नयी पीढी के व्यक्ति को कोई संस्कार नही मिल रहे है । घर मे सस्कार की बड़ी कमी है और बाहर का वातावरण दूषित है, इसलिए मै जिसे सबसे पहले महत्त्व देता हूँ, वह है सस्कार-निर्माण । यदि नयी पीढी मे ऐसा करना सँभव हो जाएगा, जो क्रान्ति के तमाम रास्ते खुल जाएँगे।

ने. सस्कार से आपका तात्पर्य क्या है ?

सौ.· सात्त्विकता, सादगी, शाकाहार और जैनत्व के जो उदात्त मौलिक सिद्धान्त है, उनके प्रति आस्था।

ने.· इन्हे समाज मे किस प्रकार लाया जा सकता है ?

सौ.· आज युग मे प्रचार के अलावा शायद कोई रास्ता नही है। व्यक्ति-दर-व्यक्ति (मैन-टू-मैन) प्रचार होना बहुत मुश्किल है। चाहे वह सामाजिक पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से वैसा करे अथवा किसी अन्य माध्यम से, लेकिन व्यक्ति-दर-व्यक्ति सम्पर्क आज मुश्किल है, अत प्रचार की बजाय हमारा स्वयं का जीवन ही सबसे बडा उदाहरण बन सकता है। प्रचार का इससे ठोस/असरकारक शक्तिशाली साधन शायद कोई और हो नही सकता। इस तरह सामाजिक क्रान्ति के सूत्रो को हम जितना-जितना अपने जीवन मे प्रकट करते जाएँगे, उतना-उतना उनका स्वत

प्रचार-प्रसार होता जाएगा। वह दूरगामी और स्थायी भी होगा। प्रचार के इस सशक्त साधन (चरित्र) पर ही हमारा जोर अधिक होना चाहिये। (तीर्थंकर, वर्ष १७, अक १, मई, '८७)

समाज-सेवा और जैन समाज

डॉ. नेमीचन्द जैन : समाज-सेवा मे आपको कुछ कठिनाइयाँ तो आती ही होगी ?

सरदारमल कांकरिया · आती है, समाज मे जब कोई काम करता है, तो चाहे वह काम सही ही क्यो न, कुछ लोग उसके विरोधी अवश्य हो जाते है। फिर भी मेरा मानना है कि जैन समाज मे ज्यादातर लोग प्रशंसा ही करते है। कुछ विरोधी तो सब कहीं होते है।

ने.· इन्हे विघ्न-संतोषी कहिये।

स.: कह दीजिये, फिर भी जैन समाज काफी अच्छा है।

ने.. शायद आपका यह आशय है कि जैन समाज अच्छे कामो की ज्यदातर प्रशंसा करता है।

स.. हाँ, ऐसा मै मानता हूँ।

ने. यह आपका अपना अनुभव है।

स.· हाँ।

ने.· यह तो अच्छी बात है। इससे अच्छे कामो का सिलसिला आगे बढेगा।

स.. काम तो बढ़ रहे है, लेकिन कुछ काम ऐसे भी है जो नही, या कम होते जा रहे है।

ने.. कौन-से-काम ?

स.· शिक्षा, सेवा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रो मे काम कम हो रहा है। स्कूल भी वही पुराने ढर्रे के है।

ने.: नया कुछ नही हो रहा है क्या ?

स.: धर्म-स्थान बन रहे है। ऐसे ही स्थूल कार्यों पर भारी खर्च हो रहा है।

(तीर्थंकर, वर्ष १३, अक १२, अप्रैल, '८४)

बातचीत समाज-सेवा डॉ. नेमीचन्द जैन, सपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन; प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१, (म प्र.) मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर - ४५२००९ (म प्र), टाइप सैटिंग प्रतीति टाईपोग्राफिक्स, इन्दौर - १ (५५६४४५) (म प्र), प्रथम सस्करण फरवरी, १९९८, मूल्य पाँच रुपये।

बातचीत : साहित्यकारों से

डॉ. नेमीचन्द जैन

- 'सूरत नहीं, 'सीरत' देखें; 'मुख' नहीं, आमुख देखें'
  - डॉ प्रभाकर माचवे
- अहिंसा का आरंभ अपरिग्रह से; व्यक्ति स्वयं करें
  - जैनेन्द्रकुमार
- 'मुक्ति दूत' और 'अनुत्तर योगी' : जन्म/विकास-कथा
  - वीरेन्द्रकुमार जैन
- कोश-रचना-पद्धति : वह सहज विकसित होती गयी
  - क्षु जिनेन्द्र वर्णी
- साहित्य में मेरी रुचि का स्वाभाविक विकास
  - लक्ष्मीचन्द्र जैन
- जैन पत्र-पत्रिकाएँ : समाज का सच्चा प्रहरी बनें
  - अक्षयकुमार जैन
- मैं बोधकथाएँ स्वान्तः सुखाय लिखता हूँ
  - नेमीचन्द पटोरिया
- मैं अगले जन्म में भी बोधकथाएँ लिखना चाहूँगा
  - मोतीलाल सुराना

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर - ४५२००१ (मध्यप्रदेश)

‘सूरत’ नहीं, ‘सीरत’ देखें; ‘मुख नहीं, ‘आमुख देखें’

डॉ. नेमीचन्द जैन : लोग कहते है कि धर्म अब निरर्थक हो गया है , उसका कोई मतलब ही नहीं रह गया है।

डॉ. प्रभाकर माचवे . जो धर्म रूढ़ है, वह निरर्थक हुआ है। रवीन्द्र के अनुसार आचार की यह बालू विचार के स्रोत-पथ मे जमा हो गयी है, इससे स्रोत-पथ आगे बढता नही है। लोग रूढ़ियो को धर्म समझते है, जैसे, मन्दिर जाना, तिलक लगाना, जप-माला, छापा-तिलक, उपवास करना, अमुक करना, अमुक न करना आदि।

ने.: कर्मकाण्ड करना।

प्र.: लेकिन यह कर्मकाण्ड धर्म नही है। वह तो धर्म का केवल बाह्य रूप है। यह रूढिगत धर्म है।

ने.. खोल ही रह गया धर्म का अब।

प्र.: हाँ, रूढ़ियो के कारण धर्म मे जो प्राणवत्ता है, वह उसी अनुपात मे कम हो गयी है। उस प्राणवत्ता को हम पुन जागृत करे। मेरा मत यह है कि दो हजार वर्ष पुराने पात्र मे जो बीज मिले थे, वे जीवन्त थे, उन्हे अँकुराया गया। प्राण ऐसी चीज है। अग्निकण तो बराबर छिपा रहता है, चाहे राख कितनी ही हो।

ने.: कोई चीज है, जो मनुष्य को जीवन्त रखती है/रख सकती है।

प्र.· ‘जीव’ शब्द का अर्थ ही है- जीवन्तता, यानी गति।

ने.· इस तरह यदि ‘जीवन्त’ होंगे, तो ‘जयवन्त’ भी होगे।

प्र.. बिल्कुल सही है, जीवन्तता हमारी मन्द पड़ गयी है, उसे गतिशील बनाना है। ‘भागवत’ मे कहा है- वह जो शैवाल है पानी के ऊपर। पानी पर काई जमी है, उसे यदि साफ कर दे, तो प्रतिबिम्ब हम देख सकते हैं।

ने.· अभी तो शायद प्रतिबिम्ब अच्छा नही पड़ेगा।

प्र.: यहाँ ‘प्रति’ का अर्थ है मेरे अन्दर जो भगवान् बैठा (विराजमान) है, उसे देखना, अन्तर्मुख होना। बाहर का आईना नही।

ने.: अभी तो चेहरा ही बड़ा गड़बड़ है।

प्र. वह जैसा है, वैसा है। चेहरे पर न जाएँ, मोहरा देखे, ‘सूरत’ नही, ‘सीरत’ देखे, ‘मुख’ नही, ‘आमुख’ देखे।

(कलकत्ता, १४ मार्च, १९८३, ‘तीर्थंकर’ वर्ष १३, अक ९, जनवरी, १९८४)

अहिंसा का आरंभ अपरिग्रह से; व्यक्ति स्वयं करे

डॉ. नेमीचन्द जैन . यह जो अहिसा है, उसका बीज-रूप कहाँ से शुरू किया जा सकता है, क्योकि बिना बीज के कोई वृक्ष कैसे बनेगा ?

जैनेन्द्रकुमार · मुझे लगता है कि जो अहिसा की दिशा मे बढना चाहते है, उन्हे अपरिग्रह से आरभ करना चाहिये।

ने.: अपरिग्रह का कोई ऐसा स्वरूप भी निश्चित हो, जो आदमी की पकड मे आ सके।

जै.: अपरिग्रह का मतलब आदमी को जो प्राप्त होता है, उसमे सतोष माने और कर्त्तव्य के प्रति अभिमुख हो।

ने : फिर उसमे-से प्रश्न उठेगा कि कर्त्तव्य क्या है ?

जै.· जो भी वह मानता हो, कर्त्तव्य का निर्णय कही बाहर से आना है नही, जो भी वह अपना कर्त्तव्य मानता हो।

ने. अपने स्व-विवेक को अधिक महत्त्व दे ?

जै.. हाँ।

ने.: कर्त्तव्य-निर्धारण मे ?

जै.. हाँ।

ने.. आपने यह कहा कि वह प्राप्त करना है, या जो कुछ भी उसे प्राप्त होता है, किन्तु प्राप्त 'होने' की बजाय प्राप्त 'करना' आजकल अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जै. बस, वही है न। जब हम किसी फल को अपने प्रति खीचना चाहते है, तो फल जो है वह एक सार्वत्रिक नियम के अनुसार इधर-से-उधर जाता है। इसमे तृष्णावश जब हम चलते है, तो उसमे 'फ्रस्ट्रेशन' (नैराश्य) आता है। अब वह प्रतिफल के परिपाक से कुछ वस्तु मेरे पास आ नही रही है, मै खीच कर लाना चाहता हूँ, तो टकराहट हो जाती है, और जहाँ यह टकराहट आयी वहाँ अहिसा कठिन हो जाती है। इसलिए कर्त्तव्य मे प्रवृत्ति और सर्वसतोष- इन दोनो चीजो के सहारे हम अहिसा की ओर बढ सकते है।

ने.: जो आदमी अभाव मे जी रहा है, उसके लिए प्राप्त होने की बजाय तृष्णा तो जगेगी ही।

जै.· अभाव और सद्भाव। अभाव की काट सद्भाव। सद्भाव की कमी मे अभाव हमेशा उत्पन्न होता है।

ने.· सद्भाव को थोडा स्पष्ट कीजिये।

जै.· सद्भाव जो शुभ अर्थ मे है, उसका अर्थ आगे बढ जाता है। 'सत्' माने अस्तित्व। यदि मै अपने जीवन के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता हूँ, तो अभाव लगभग समाप्त है। अभाव माने यह कि जो 'सत्' है, उसमे मै निष्ठ नही हूँ। तो यह जो 'सत्' से भर गया, तो अभाव रहा नहीं।

ने.: 'फ्रस्ट्रेशन' और अभाव साथ-साथ चलेगे ?

जै.· कैसे चलेगे ? फस्ट्रेशन, तो सद्भाव का अभाव ही है।

ने.: पर अधिकाशत. आज तो फ्रस्ट्रेटेड है लोग।

जै.: यही तो मै कह रहा हूँ।

ने.: तो मैत्री कैसे हो ?

जै.: नही होगी। फ्रस्ट्रेशन मे मैत्री का प्रश्न ही नही है।

ने.. सारी समस्याएँ इसी के कारण है।

जै.: यही तो मै कह रहा हूँ कि समस्या के समाधान का आरभ यहाँ से होगा कि व्यक्ति ऐसी परिस्थिति मे रहे कि फ्रस्ट्रेशन सभव ही न हो।

ने.: ऐसी स्थिति कौन लायेगा ?

जै. वह स्वय ही लायेगा।

ने.· व्यक्ति पर आपका ध्यान अधिक होगा ?

जै.· हाँ, क्योकि मै समझता हूँ कि सारी समम्या उत्पन्न होती है मन.स्थिति और परिस्थिति की टकराहट से, तनाव से। आप परिस्थिति के स्वामी हो नहीं सकते। आप यह सोचे कि परिस्थिति के बदलने से हम समस्या का निराकरण करेगे, वह आपके बस की बात नही है। क्योकि इधर मनुष्य भी है, वह अवश्य ऐसा है कि जहाँ आपकी थोडी-बहुत चल सकती है। इसलिए आरभ मनुष्य से ही करे, तो आप समस्या के निकट आते है। परिस्थिति से आरभ करने वाली जो पद्धति है, वह निष्फल होती है।

ने. 'अहिसा' का कोई विकल्प शब्द है क्या ?

जै.. मै तो मानता हूँ कि 'अहिसा' शब्द मे सबसे पहले घोषणा है, भाषा के अपर्याप्त होने की। 'अ' से शुरू करना पड़ता है। अहिसा मे 'अ' जैसा कुछ है ही नही, लेकिन भाषा मे है। यानी 'वायलेन्स' 'निगेशन' है। अहिसा जिसको कहते है, 'पॉजीटिव' तो वही है। 'अहिसा' शब्द मे तो 'निगेशन' है यानी यह नही करना, इसका अहिसा से कोई सबन्ध नही है।

ने.· इसके लिए दूसग शब्द नही मिल सकता ?

जै.: शब्द है प्रेम, सहानुभूति वगैरा, लेकिन ये बडे अधूरे है। जैसे कि बुद्धि की भाषा मे भगवान् के लिए 'नेति' शब्द ही रहेगा। इसी प्रकार यह अहिंसा है, जो सर्वथा 'पॉजीटिव' है। उसको आप इगित ही कर सकते है, सूचित ही कर सकते है। उसको आप शब्द नहीं दे पायेगे।

ने.· अहिंसा शब्द खाली हो गया है।

जै. अहिसा को हम 'अ' से शुरू करके 'अ' पर ही समाप्त कर दे, तो खाली-खाली वह होगा ही।

ने.· अहिसा (शब्द) अव चित्त को पकड़ती नही।

जै · मैंने कहा कि आप किसी को दु ख न दे, किसी का जी न दुखाये, किसी को न मारें-बस, हो गयी अहिसा।

ने.: यानी हमने शब्द के बजाय व्याख्या की।

जै.· मै यही कह रहा हूँ कि इससे अहिसा का कोई सबन्ध ही नही है। यह न करे, वह न करे-इसका हिसा से क्या सबन्ध ? मै मानता हूँ कि मुझसे अन्य-इतर प्रथम हों, मै अपने को दोयम रखूँ-यहाँ से हिसा का आरभ होता है। और अन्य के, दूसरे के निमित्त मै न होऊँ, यहाँ तक की तैयारी हो, तो यह हिसा है। मै कहता हूँ कि स्वार्थ-विसर्जन और अहम्-विसर्जन, आत्म-विसर्जन है। यानी अहिसा रने वाला जब तक 'मै' है, तब तक वह 'अहिसा' के नाम पर 'हिसा' करता है। पहले तो यह 'मै' तम होना चाहिये; और उसकी अन्तिम सिद्धि इस बात पर है कि दूसरा ही है, मै तो उसके काम आ ने मात्र के लिए हूँ। इसके अतिरिक्त कुछ नही।

मै मानना हूँ कि जिस अहिसा मे हिसा समायी हुई है, उसका कोई मूल्य नही है। अहिसक की रता और कठोरता तो अपने ऊपर और अपनो पर होती है, दूसरो पर नही।

(इन्दौर, १६ दिसम्बर, १९७२ , तीर्थंकर, वर्ष २, अक ९, जनवरी, १९७३)

'मुक्तिदूत' और 'अनुत्तर योगी': जन्म / विकास--कथा

डॉ. नेमीचन्द जैन : जब 'मुक्तिदूत' समाप्त हुआ, वह कौन-सा वर्ष रहा होगा ?

वीरेन्द्रकुमार जैन : होना चाहिये सन् १९४४।

ने.: 'मुक्तिदूत' तो आपका उपन्यास है ?

वी.. उपन्यास है, जो करीब ३२ वर्ष पहले १९४७ के आस-पास निकला था।

ने.: आपने सन् १९४४-४५ मे इसे लिखा ?

वी.: हाँ।

ने.· निकला कब ?

वी.: निकला तो सन् १९४७ मे। भारतीय ज्ञानपीठ ने इसे प्रकाशित किया।

ने.: आजादी के बाद।

वी.: हाँ। मन्दसौर से हम लोग श्रीमहावीरजी गये। हमने वहाँ पूजा का आयोजन किया। उसमे मुक्तिदूत' को समर्पित किया। उस समय भी एक खास तरह का रोमाचक एक पुस्तक-कम्पन कहिये- ने जरूर अनुभव किया होगा।

ने.: किया होगा या किसा ?

वी.· सचोट स्मृति नही है।

ने.. जव दूसरी बार आप श्रीमहावीरजी गये और 'अनुत्तर योगी' की परिकल्पना हुई, वह कौन-सा र्ष रहा होगा ?

वी.: होना चाहिये सन् १९७२।

ने.· आप कह सकते है कि 'अनुत्तर योगी' का जन्म श्रीमहावीरजी मे हुआ।

वी.: या यो कहिये कि 'अनुत्तर योगी' का गर्भ-धारण हुआ, गर्भाधान हुआ। वहीं यह निर्णय लिया गया। अन्दर भगवान् बैठे है मन्दिर मे और बाहर विद्यानन्दजी महाराज बैठे हैं।

ने.: और 'अनुत्तर योगी' (उपन्यास का गर्भकल्याणक हो रहा है, क्या बात है !!

वी.: यह बड़ी चमत्कारिक घटना थी। फिर इन्दौर से बाबूलालजी पाटोदी आये। उनके साथ श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति के अन्तर्गत अनुबान्धित करने का प्रस्ताव हुआ। तो कहना यह चाहता हूँ कि उस रात जो रोमाचन हुआ; दिल्ली मे जो बात नही बन सकी और उस रात को अचानक जाग उठना, यह कृपा के अन्तर्गत ही है। एक तीर-सा लगा।

ने.: आप कहना यह चाहते है कि श्रीमहावीरजी की प्रतिमा एक अच्छी धनुर्धर है।

वी.: हाँ। बडी कमाल की बात कही आपने ! आपने उसके लिए इतनी बढ़िया उपमा योजित कर दी, अचम्भित कर दिया।

ने.: अब आप कब श्रीमहावीरजी जाने की सोचते है ?

वी.: दरअसल मुझे कई बार जाना चाहिये था और यह १० वाँ वर्ष है 'अनुत्तर योगी' के लेखन का । पाँचवाँ खण्ड लिख रहा हूँ। औसतन दो वर्षों मे एक खण्ड। कम नही लिखा गया , क्योकि जयशकर प्रसाद २० वर्ष लगा सकते है 'कामायनी' मे, टॉलस्टॉय १५ वर्ष मे 'वार एण्ड पीस' लिखते है, तो इसका 'वाल्यूम' (विशालता) भी देखे। इसमे इतना सूक्ष्म काम किया गया है, मुझे इतनी गहराई मे उतारा गया है, (मै कौन होता हूँ उतरनेवाला)। कुछ चीजों का आविष्कार होता चला गया- अद्भुत विधाएँ, साहित्य के विभिन्न स्वरूप और विभिन्न टेकनीक, युक्तियाँ अपने-आप आविष्कृत होती चली गयी।

ने.· विद्यानन्दजी महाराज ने तब क्या कहा था ?

वी.: आज तुम जहाँ हो, आज से दो वर्ष बाद तुम कहाँ होगे, मै जानता हूँ। तब मैंने 'अनुन्तर योगी' के लिए कलम नही उठाती थी, अप्रैल १९७३ मै मैंने लिखना शुरू किया, लेकिन वाकई दो वर्षों मे मै कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया।

ने.· वैसे लेखन मे मैंने आपकी मदद नही की हो, लेकिन मैंने प्रूफ-रीडिग मे काफी मदद की है।

वी.: केवल प्रूफ-रीडिग मे मदद नही की है 'अनुत्तर योगी' का जो स्वरूप है, उसके कलेवर मे, मुद्रण मे जो सारा परिष्कार किया, उसका जो 'फॉर्मेट' मैं चाहता था, पत्राचार द्वारा मिलना बहुत कम होता था, आपने मुझे पूरा-का-पूरा ग्रहण कर लिया भीतर से, प्रथम खण्ड से ही। आपने तो मेरी कल्पना को साकार किया है।

ने.. वह सब श्रीमहावीर की कृपा है।

वी.: और यह भी देखिये, आपकी प्राप्ति भी उसके बाद ही होती है। ऐसी मित्र-रत्न मिला, यह कोई मामूली बात नही है । यह तो इस जीवन का नही, कई जन्म-जन्मान्तरो का साथ हो गया। अजीव वात्सल्य बढ़ता है।

ने.: वीरेन भाई, ऐसे 'तीर्थंकर' आपका अपना है, वह आपको धन्यवाद क्यो दे ? फिर भी आप से तचीत बहुत सुन्दर रही।

वी.: मगर एक बात है नेमीभाई, मै अन्त में कहना चाहता हूँ कि हिन्दी मे 'तीर्थंकर' शब्द मुझे हले से प्रिय था। इस नाम मे (हिन्दी मे) जैन पत्रिका नही थी, और भाषा का मुझे पता ही था। 'तीर्थंकर' निकाल कर आपने पूर्ति की। आपसे मिला भी नही था, तब से आकृष्ट गया था। पहली बार जैन जगत् मे कुछ शताब्दियो के बाद कोई युगान्तरकारी व्यक्ति आया है, जिसने यी इमेज (छवि) दी, ऐसी जिसमे आधुनिकता भी है।

ने.: उसकी बुनियाद मे वीरेनभाई की पराकथाएँ है।

वी.· मै आया, उसके पहले ही 'तीर्थंकर' स्वरूप ग्रहण कर चुका था।

ने.: पीछे से आये या आगे से चले आये, जुड़ गये, कैसे कुछ कहा नही जा सकता।

वी.: पता नहीं,आपकी और हमारी पर्याय एक हो गयी होगी, मै आकृष्ट हुआ।

ने.: आपने तो लिखना ही बन्द कर दिया 'तीर्थंकर' के लिए ।

वी.: आप जान रहे है, दस वर्ष हो गये है और मुझे स्वीकार करना चाहिये। मुझमे अजस्र प्रेरणा-क्ति विजन (दृष्टि) होते हुए भी शरीर तो थका है और अकेला छूट गया हूँ।

ने.. 'अनुत्तर (योगी)' का पाँचवाँ खण्ड आ जाए, तो यह एक समग्र उपन्यास हो जाए। पता नहीं, कब-किस सन् मे वह सपूर्ण होगा ?

वी.: १९८३ मे आ जाना चाहिये।

ने.: ऐसा आपका प्रयत्न तो है ही।

वी.: अपनी ओर से, जितना भार मेरे ऊपर है, उसे पूरा करना है।

ने.: इस खण्ड को तो आप श्रीमहावीरजी को ही समर्पित कीजिये वहाँ पहुँच कर।

वी.· हाँ। उसके पहले भी मै श्री महावीरजी जाना चाहूँगा। समापन के समय तो मै ज़रूर जाऊँगा और आपके साथ जाऊँगा।

ने.: ज़रूर चलूँगा।

(बम्बई, ९ अगस्त, १९८२, 'तीर्थंकर' वर्ष १२, श्रीमहावीरजी तीर्थ विशेषांक-अक ७, नवम्बर,१९८२)।

कोश–रचना–पद्धति : वह सहज विकसित होती गयी

डॉ. नेमीचन्द जैन · पूज्य वर्णीजी, पहला प्रश्न यह कि कोश के सबन्ध मे प्रेरणा आपको कैसे, किससे मिली ?

क्षु. जिनेन्द्र वर्णी : प्रेरणा का प्रश्न नही है। पिताजी की प्रकृति मुझे प्राप्त हुई। उनकी प्रकृति थी कि वे जो पढते थे, उसके नोट्स लेते थे। मै भी जो पढ़ता था, उसके नोट्स लेता था।

ने. उत्तराधिकार मे नोट्स लेने की प्रकृति मिली, यही न।

जि.· मै जो भी पढ़ता हूँ, उसके नोट्स अवश्य लेता हूँ।

ने.: नोट्स यानी टीपे तैयार करते है ?

जि.: हाँ, सन् १९४९ से जो पढा, उसके नोट्स लिये। नोट्स बढते गये। ज्यो-ज्यो विकास होता गया, अधिक अच्छे नोट्स लेता गया। पाँच वर्षो मे १००-१२५ ग्रन्थो का अध्ययन-मन्थन मैंने किया। इनके नोट्स का सग्रह इतना बड़ा हो गया कि चार मोटे-मोटे रजिस्टर भर गये।

ने.· अर्थात् सन् १९४९ से '५४ तक आप नोट्स तैयार करते रहे। इन्हे तैयार करने की प्रक्रिया क्या थी ?

जि.: पहले कुछ पता नही था। मै सामान्य नोट्स ले लिया करता था, किन्तु जब मेरा स्वाध्याय पूरा हुआ, तब तक चार रजिस्टर भर चुके थे। अब मै पत्रो मे लेख देने लगा। मुझे संदर्भ (रेफ़रेन्स) की जरूरत पड़ती। धारणा थी कि रजिस्टरो मे-से छाँट लूँगा, किन्तु जब छाँटने बैठता, तो बहुत समय लग जाता, कही कुछ लिख रखा था, तो कही कुछ।

ने.: यह है कोश की जन्म-कथा।

जि.. मुझे लगा कि ऐसी कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये कि आवश्यकतानुसार सदर्भ तुरन्त मिल जाए। जी मे आया कि अब इन्हे दूसरे ढग से तैयार करना चाहिये। शास्त्रो को पढ़ना मैंने बचपन से ही शुरू कर दिया था। पढ़ते-पढ़ते बौद्धिक विकास होता ही है। विगत पाँच सालो के स्वाध्याय से मै सन्तुष्ट नही था, क्योकि अब तक वह सतही रहा। उसमे और अधिक गहरे उतरना था-आत्मकल्याण के लिए, और तो कोई प्रयोजन था नही।

ने.: किया आपने यह सब आत्मकल्याण के लिए, किन्तु हुआ इसमे से लोककल्याण।

जि.: केवल आत्मकल्याण के लिए। कोश की बुद्धि नही थी। कल्पना भी नही थी कि कोई कोश बनेगा। मैंने 'स्लिप सिस्टम' (कोश मे शब्द-प्रविष्टियो के लिए कार्डस् बनाये जाते है) काम मे लिया। लेज़र पेपर मे-से कागज काटे। उन पर विषयानुसार नोट्स लिखता गया। अलग-अलग विषयो के शीर्षक लिखे, जैसे-ज्ञान का ज्ञान मे, दर्शन का दर्शन मे। जो-जो विषय आये, उन्हे शीर्षकश लिखता गया। इतनी बुद्धि विकसित हो गयी थी। मूल विषयो को ध्यान मे रख कर उनके अन्तर्गत विषयो को लिखता रहा। एक-एक विषय/शब्द के अन्तर्गत पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस परचे इकट्ठा हो गये। इस तरह कुछ होता चला गया। पहले, पाँच वर्षों मे मेरा स्वाध्याय पूरा हुआ था (सन् १९५८ तक), इस बार चार वर्षों मे पूरा हो गया। इस अवधि मे डेढ रीम लेज़र पेपर की स्लिपे (परचे) बन गयी।

ने.. मै यही जानना चाहता था कि आपने कोश-रचना के दायित्व को सहज रूप मे, प्रकृति से या उत्तराधिकार से अपनाया, या वह आकस्मिक था। क्या आपने कोश-रचना-प्रक्रिया का अध्ययन किया था ?

जि.· वस्तुत मै कोश-रचना जानता ही नही था। वर्गीकरण मुझे सीखना पडा। मुझे हिन्दी या अग्रेजी डिक्शनरी (कोश) देखने का अभ्यास भी नही था। सहज ही सब होता चला गया। मेरा स्वाध्याय पूरा हो गया था। जब मुझ मे कोश की बुद्धि (परिकल्पना) उपजी (अकुरित हुई) कि यह जो परचो का इतना सारा ढेर है, इसे वर्णानुक्रम (अकारादि-क्रम) से जमाऊँ। तब मैंने इन्हे व्यवस्थित रूप से लिपिबद्ध किया। ऐसा करने पर कोश के आठ खण्ड हो गये।

ने.: 'जैनेन्द्र प्रमाण-कोश' के नाम से ?

जी.: हाँ, उसमे इसका चित्र छपा है।

ने.: 'शान्ति-पथ दर्शन' मे भी आपने चार्ट (सारणी) दे दिया है। 'भूमिका' मे भी आपने यही ;खा है।

जि.: ये आठ खण्ड अब भी मेरे पास है। बहुत सुन्दर जिल्दे बनायी थी मैंने अपने हाथ से। कोश ; पहले दो खण्डो का नाम था - 'जैनेन्द्र शब्द-कोश' और शेष छह खण्डो का 'जैनेन्द्र प्रमाण-कोश'। ।ब मै पहली बार इन्दौर गया था, तब इन्हे अपने साथ ले गया था। 'जैनेन्द्र शब्द-कोश मे केवल शब्द ौर उनके अर्थ थे, विषय का विस्तार 'जैनेन्द्र प्रमाण-कोश' मे था।

ने.: मानूँ कि 'जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' 'ब्रह्मास्मि' की माला-गणना है। क्या आप मेरे इस कथन पर स्ताक्षर कर सकेगे ?

जि.: कुछ अनुचित नही होगा। 'ब्रह्मास्मि' से प्रारभ हुआ था। प रूपचन्दजी गार्गीय मेरी न स्थिति देखते हुए, जो शास्त्र मैंने शुरू किये थे, उन्हे बराबर प्रेम से देखते थे, मै नोट्स लेता रहता ा। धीरे-धीरे इस 'स्टेज' तक आ पहुँचा। कोश चार बार लिखा गया है।

ने.: पहली बार, कौन-सा वर्ष था वह ?

जि.: सन् १९१४, चार रजिस्टरो मे तैयार हुआ वह।

ने.: दूसरी बार ?

जि.: १९५८, परचो (स्लिपो) के रूप मे। तीसरी बार परचो का सग्रह करके आठ खण्डो वाला ोश तैयार किया, इस कोश को प गार्गीयजी ने लक्ष्मीचन्द्रजी जैन (भारतीय ज्ञान पीठ) को बताया। मै ो जानता नही था। कमरे मे बन्द अकेला अपना काम करता था। मेरा किसी से परिचय भी नहीं था। मुझे ी कोई नहीं जानता था।

ने.: अब आप 'अनेकान्त' मे है, पहले 'एकान्त' मे थे।

जि.: मै 'एकान्त' मे ही रहता आया हूँ।

ने.: तो 'अनेकान्त' कब जागेगा।

जि.: 'अनेकान्त' लेखनी-द्वारा सध जाता है, प्रवचन आदि मे भी।

ने.: अब मै सुनता हूँ कि पाँचवी बार भी कुछ चल रहा है।

जि.: 'जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' का सस्करण समाप्त हो गया, तो लक्ष्मीचन्द्रजी ने लिखा कि इसे ुन प्रकाशित होना है। मैंने कहा कि जब कोश का पुन प्रकाशन ही कर रहे हैं, तब उसमे जो अशुद्धियाँ/भूले रह गयी है, भी दूर कर लीजिये। उत्तर आया कि हम तो कोश का 'फोटोप्रिंट' निकाल देंगे। यदि संशोधन के चक्कर मे पडेगे, तो पुन कपोजिग कराना पडेगा। मैंने कहा अशुद्धियाँ तो बहुत ज्यादा है, मुद्रण मे भी भूले रह गयी है। मै मूल मे भी कुछ सशोधन करना चाहता हूँ, कुछ जोड़ना चाहता हूँ। इस पर उत्तर आया, अच्छा, आप वैसा कर ले।

ने.: कोश का जो आगामी सस्करण आयेगा, क्या वह परिवर्धित होगा ?

जि.: परिवर्धित तो नही, सशोधित होगा।

ने.. क्या कुछ जोड़ रहे है उसमे ?

जि.: जोड़ा जाएगा। जो ऐतिहासिक विषय थे-आचार्यों के, शास्त्रो के उन पर तब इतना अनुसधान-कार्य (रिसर्च) नही हो पाया था। मेरे पास 'प्रस्तावना' के सिवाय कोई आधार नही था। आजकल इन विषयो पर व्यापक खोजे (रिसर्च) हुई है, अत तदनुसार 'परिवर्तन' आवश्यक है। पहले विद्वानो ने प्रस्तावना में ऐतिहासिक दृष्टि से जो पाद-टिप्पणियाँ लिखी, उन पर आज विस्तार से मिलता है।

ने.: डिलीशन (निकालना) कुछ नही होगा, एडीशन (जोडना) ही हो सकता है, यही न।

जि.: 'एडीशन' थोड़ा-बहुत हो सकता है। अब मुझमे इतनी शक्ति नही है कि नये शब्द जोडूँ।

ने.: सुना है, आपने एक खण्ड का सशोधन भी सपन्न कर लिया है ?

जि.. एक पूरे खण्ड का। दूसरे का चल रहा है। लक्ष्मीचन्द्रजी को लिखा है कि पहले खण्ड का सशोधन पूरा हो चुका है, आप जब चाहे तब भेज दूँ। पहले आप अपनी अनुकूलता देख लीजिये।

ने.: उन्होंने मुझे लिखा है कि हम एक वर्ष की अवधि मे दो खण्डो का प्रकाशन कर सकेगे। दूसरे वर्ष मे शेष दो लेंगे।

जि.· यह काफी है।

ने.: उन्होंने मुझे सूचना दी है कि कोश का पाँचवाँ खण्ड भी आ रहा है, यह क्या है ?

जि.: 'पाँचवे खण्ड' का अर्थ विषय-परिवर्तन नही है। विद्वान् इसमे-से विषय छाँट सकते है इसमे 'वर्ड इन्डैक्स' (शब्द-अनुक्रमणी) रहेगा। सारे खण्ड मे जो शब्द आये है, वे कहाँ-कहाँ आये है, उनकी पृष्ठ-सख्या इनमे रहेगी।

ने.· इससे कदाचित् शब्द ढूँढ़ने मे सुविधा होगी ?

जि.. हाँ।

ने.: यह सुविधा आप जोड़ रहे है, नया शायद कुछ नहीं होगा ?

जि.: हाँ।

ने.: ऐसा भी तो कर सकते है कि प्रत्येक खण्ड के साथ उसका वर्ड-इन्डैक्स (शब्द-अनुक्रमणी) दे।

जि.: वह काम नही देगा, क्योकि वह तो सारे कोश का 'इन्डैक्स' होगा। जैसे 'सम्यग्दर्शन' चौथे खण्ड मे है और उसका सबन्ध 'चारित्र्य' के साथ है, तो वह दूसरे खण्ड मे है।

ने.: अब चूँकि सारा कोश पुन अपने सशोधित रूप मे तैयार हो गया है, तो इससे लगता है, आपने 'कोश-रचना-पद्धति' पर विचार किया है।

जि.· कोश-रचना-पद्धति मेरे लिए धीरे-धीरे विकसित हुई। पहले मैंने परचे बनाये, फिर जब चौथी बार लिखा, तब शब्दो के प्रमाण को समानान्तर मिलाया, तब दूसरी पद्धति बनी। अभी तक

प्रमाण-कोश मे अवान्तर शब्द नही आये थे, फिर अवान्तर शब्दो को छाँट कर उनका समावेश किया। इस तरह धीरे-धीरे विकसित हो कर कोश-रचना-पद्धति पर पकड आपोआप बन गयी। जब कोश की चौथी पाण्डुलिपि तैयार की, तब सूचियाँ तैयार करनी पड़ी।

ने.: क्या आपने अन्य किन्ही सभावनाओ पर भी विचार किया है ? जब आप पाँचवाँ खण्ड सपादित कर रहे है, तब क्या यह सोच सके हैं कि सपूर्ण कोश का कोई लघुसस्करण भी आ सकता है?

जि.: पाँचवे खण्ड का ?

ने.: चारो खण्डो का एक 'लघुखण्ड'।

जि.: यह विचार जब मै नसीराबाद मे था, तब आया था। मैंने वहाँ 'लघुजैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' के नाम से एक पुस्तक भी लिखी थी। कोश के 'प्रथम खण्ड' का सक्षिप्तीकरण किया था। इसमे शब्दो की व्याख्याएँ न दे कर केवल सदर्भ दे दिये थे। स्रोत का उल्लेख-भर कर दिया था। शास्त्रो को खोल कर नही देखना पड़े, इसलिए उनका पृष्ठ-सख्या-सहित उल्लेख कर दिया था। इस तरह मैंने 'लघु जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' लिखा था।

ने.: *यह तो रचना-प्रक्रिया पर थोड़ा विचार हो गया, अब बताये कि कोश की* लोकोपयोगिता क्या है ?

जि.: समाज मे ज्ञान की बहुत कमी है। समझिये, सभी समाजो मे है। लौकिक ज्ञान तो है, लेकिन धार्मिक ज्ञान नही है, अत· हमे भक्तिभाव से ही लाभ उठाना पड़ेगा। सभव हो, तो यह प्रचार करना चाहिये कि यह कोश जिनवाणी का प्रतिनिधि है।

ने.· 'प्रतिनिधि' की बात लोगो को कैसे कहेगे ?

जि.: समस्त दिगम्बर जैन आगम/वाङ्मय है, वह सब इसमे सम्मिलित है। आगम मे कुछ बचा नही है, जो इसमे न हो। हो सकता है, छोटी-छोटी पुस्तके इसमे न हो, लेकिन मूलाचार्यों या प्राचीन आचार्यों के जितने ग्रन्थ है, वे सब इसमे आ गये है। इस प्रकार यह सपूर्ण दिगम्बर जैन वाङ्मय का प्रतिनिधि है, ऐसा कहने मे कोई आपत्ति नही है।

ने.: कोश-रचना कोई सर्जनात्मक लेखन (क्रिएटिव्ह राइटिग) तो है नही, यह तो सकलन-कार्य (कम्पाइलेशन) है, लेकिन ऐसा करने-करते कभी लगा आपको कि आप सर्जनात्मक कुछ लिखते तो अच्छा होता।

जि.: यह सब जो मैंने किया है, वह आत्मकल्याण के लिए, या अन्त प्रेरणा से। बाहर के लिए कुछ किया ही नहीं। जो कुछ हुआ है, उसमे-से कुछ सर्जनात्मक भी है। 'नय-दर्पण' और कर्म-सिद्धान्त' है, ये मौलिक है। ये भी दूसरे के लिए है, ऐसा नही है। जो सहज प्रवचन थे, उनका सग्रह है शान्ति-पथ-दर्शन। जो प्रवचन इन्दौर मे हुए उनका सग्रह है 'नय-दर्पण'। पहले जब यहाँ (भोपाल) आया था, उस समय के प्रवचनो मे 'कर्म-रहस्य' नामक पुस्तक बन गयी।

ने.: ऐसा लगता है कि सम्यक्त्व की सरिता ही बाहर उमग रही है।

जि.. समझ सकते है ऐसा।

ने.: अब तो किताबे निकल रही हैं वहाँ से। पहले किताबे गयी होगी वहाँ। अब तो नदी समुद्र वनने जा रही है।

जि.: ठीक है। (हँसी)

ने.· मैं देख रहा हूँ कि ऐसे कोश भी तैयार होते है, जो व्यक्ति या ग्रन्थ पर होते है, जिन्हे 'व्यक्ति-कोश' या ग्रन्थ-कोश हम कह सकते है। जैसे जयशकर प्रसाद पर 'प्रसाद साहित्य-कोश' या 'प्रसाद काव्य-कोश'। इस सभावना पर विचार कीजिए- 'समयसार-कोश', 'कुन्दकुन्द-कोश', क्या ऐसे कोश तैयार किये जा सकते है ? आप कोशकार है, थोडा मार्गदर्शन दीजिये।

जि.: अच्छा विचार है। 'समयसार-कोश' न रखकर 'कुन्दकुन्द'-कोश' रखिये, उसमें रखिये। शीर्षक-उपशीर्षक मे विभाजित करके विविध विषय प्रतिपादित कीजिये।

ने.· आपने तो सारे आगम का मन्थन किया है। इसलिए बताइये कि ऐसे कौन-कौन से आचार्य है, जिन्हे लेकर और 'व्यक्ति-कोश' बनाये जा सकते है ?

जि.· कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति आदि।

ने.: यदि प्रक्रिया निर्धारित की जा सके, तो ऐसे 'व्यक्ति-कोश' बनाये जा सकते है।

जि.. व्यापक दृष्टिकोण रख कर एक वृहद् जैन कोश तैयार किया जाना चाहिये - जैन विश्व कोश (एनसाइक्लोपीडिया) जिसमे दिगम्बर-श्वेताम्बर आगमो का परिमन्थन हो और जो सबके लिए उपयोगी हो।

ने.: कोश से सबन्धित आपके अनुभवपूर्ण विचार हमारे लिए मार्गदर्शक तो है ही, सहजता और सरलता भी इसके मूल मे है। आपका यह अवदान सदैव उल्लेखनीय और स्मरणीय रहेगा।

(भोपाल, २१ अक्टूबर, १९८१, 'तीर्थंकर' वर्ष १३ अंक ३, जुलाई, १९८३)

साहित्य में मेरी रुचि का स्वाभाविक विकास

डॉ. नेमीचन्द जैन भाई साहब, आपकी साहित्य मे रुचि कैसे हुई ? कब हुई ? और यह सस्कार है या रुचि ?

लक्ष्मीचन्द्र जैन : पाँच-छह साल का जब मै था, सन् १९१४-१५ की बात होगी। पहले क्या होता था कि देहात या गाँव मे जो व्यक्ति मुखिया या मुख्य होता था उसे साहित्य का, धर्म का, थोडा-बहुत दर्शन का, वैद्यक का इस तरह के बहुत सारे विषयो का बहुविध ज्ञान होता था, और यह एक सस्कारशीलता उत्पन्न होती थी परिवार के बच्चे मे। साहित्य से सीधा नाता बना बी ए / एम ए मे जहाँ मैंने साहित्य लिया। अग्रेजी और सस्कृत मे एम ए किया। यो भी साहित्य पढ़ने मे रुचि थी।

ने.· साहित्य-रुचि कैसे विकसित होती गयी ?

ल.. जब मै कॉलेज मे था तब मेरे साथी बगाली थे, अत सहज ही बगला साहित्य से प्रेम हो गया। मै समझता हूँ कि यह कुछ मुश्किल ही है तय करना कि सस्कार और रुचि मे अन्तर कहा है ? साहित्य मे मेरी रुचि स्वभावत ही मानिये जो विकसित होती गयी।

ने.: आपकी विशेष रुचि किसमे रही है ? निबन्ध तो आप लिखते ही रहे है। 'ज्ञानोदय' के सपादकीय और 'लोकोदय ग्रन्थमाला' के ग्रन्थो की 'भूमिकाएँ' भी आपने सैकड़ो लिखी है तो आपको साहित्य की इन सारी विधाओ मे-से किसमे अधिक रस आता है।

ल.: जिसे ललित निबन्ध-शैली कहते है उसमे मेरी अधिक रुचि है।

ने.: श्रवणबेलगोला पर आपकी जो किताब आयी है-'अन्तर्द्वन्द्वो के पार' यह मै समझता हूँ, आपकी इसी शैली का परिपक्व रूप है। वहाँ घटनात्मकता, रचनाशीलता, कल्पनाशीलता, पात्रो की परिकल्पना सभी कुछ आपके कथन के अनुरूप है।

ल.: आपने ठीक पकड़ा बात को। शायद वही जो मै करता रहा और जिन नये माध्यमो मे, विधाओ और शैलियो मे मेरी जो गति थी, और जिस तरह का मेरा लेखन होता था वह सब 'अन्तद्वन्द्वो के पार' मे प्रतिविम्बित है। वहाँ उसके कई रूप समाहित हो गये है।

ने.: उस कृति से आपको काफी सतोष हुआ होगा ? मै नही मानता वह मात्र एक धार्मिक कृति है।

ल.: अवश्य सतोष हुआ।

ने. पहला लेख आपका कौन-सा था ?

ल.· पहला लेख मैंने महावीर पर लिखा, वह भी उर्दू मे।

ने.· उर्दू मे और महावीर पर !!

ल.: महावीर-जयन्ती वहाँ (लाहौर मे) मनती थी, दिल्ली मे भी, जिसमे एक कवि-सम्मेलन/मुशायरा भी होता था। मुशायरे मे जो लोग आते थे, उन्हे जिज्ञासा हुई कि महावीरजी क्या है /कौन है/ कब हुए ? लेख मैंने उर्दू मे लिखा, किन्तु लिपि उसकी देवनागरी रखी। समझता हूँ यही मेरा सर्वप्रथम लेख था। (सन् १९२८-२९)।

ने.· पहली कृति जो पुस्तकाकार प्रकाशित हुई उसका नाम क्या था ? 'कागज की किश्तियाँ' तो नही ?

ल.. हाँ, वही, जो सन् १९६० मे भारतीय ज्ञानपीठ से दृपी हैं। इसमे आख्यायिकाओ की वह माला भी है जो 'यथागत' मे नाम से मैंने कभी 'ज्ञानोदय' के लिए पिरोयी थी।

ने.: 'ज्ञानोदय' जब जैनत्व से शुरू हुआ था, जैनधर्म/जैनदर्शन के प्रतिपादन इत्यादि के प्रतिपादन से, तो वह तो कुछ दिनो बाद अपने प्रस्थान-बिन्दु से हट गया, अब उसका कोई विकल्प नही है क्या ?

ल.: 'ज्ञानोदय' का विकल्प सामने नही आया।

ने.: क्योकि वह शुद्धत साहित्य मे चला गया। 'मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला' के समानान्तर 'लोकोदय ग्रन्थमाला' का उदय हुआ, तब 'ज्ञानोदय' के समानान्तर कोई रेखा खीचने की 'ज्ञानपीठ' की तैयारी नही है ?

ल.: प्रश्न आपका बिलकुल ठीक है। मै समझता हूँ जब हमारे पास 'तीर्थंकर' है तो शायद और किसी विकल्प की आवश्यकता नही होनी चाहिये। आपने उसे बहुत अच्छा विकसित किया है। उसे आपने एक ऐसा रूप दे दिया है जो साहित्यिक भी है और जो जैन सिद्धान्तो को भी सुग्राह्य बनाता है, उन्हे फैलाता है। समाज के जो वर्ग हैं, सम्प्रदाय है, उन्हे पाट कर वह बढ़ रहा है, तो मै समझता हूँ, तत्काल आपने जो प्रश्न कर दिया उसका उत्तर मै आपको दे सकता हूँ ।

ने.. यह तो बहुत अकिंचन प्रयास है। आप तो जानते ही है कि मै कोई सस्था नही हूँ।

ने.: समाज को कोई सदेश दीजिये (उम्र ७४ वे जन्म-दिवस : २८ सितम्बर, १९८२) की इस मजिल पर खड़े होकर, कुछ सुझाव दीजिए उसे, या जो कुछ चल रहा है उसमे नावीन्य लाने का कोई उपाय बताइये, उसकी रचनात्मक समीक्षा कीजिये।

ल.: कोई निष्कर्ष रूप कुछ कहूँ तो मेरे निष्कर्ष भी अजीब फैले हुए है। किसी चीज को केन्द्रित करके समाज को दू, सदेश-जैसी चीज़, वह सभव कहाँ है ? मै तो यही कह सकता हूँ कि यह जो धर्म की, साहित्य की निधि हमे मिली है, जो उपलब्धियाँ हमारी हैं और समाज का जो अवदान है साहित्य, धर्म तथा जनकल्याणकारी सस्थाओ के माध्यम से वह बहुत है। उसके प्रति हम जागृत हो और अपनी सकीर्णताओ से उबर कर सारी जनता तक पहुँचे। दूसरे मनुष्यो की धड़कन को अपनी धडकन के साथ मिला कर कुछ करे, किन्तु जब मै इतनी बड़ी बात कह रहा हूँ तब मुझे उन लोगो का ध्यान आ रहा है जो तीर्थों को ले कर लड़ रहे है और जिनकी नज़र तग है। इतनी बडी विरासत ले कर, इतनी बडी बातें करते हुए, उन्हे समझते हुए, उस सिद्धान्त को हम आचार मे नही ला पा रहे है, यह आश्चर्यजनक है। अनेकान्त की बात हम इतने व्यापक ढँग से करते है, उदाहरण देकर करते है, और फिर भी यह नही समझ पाते है कि अमुक मूर्ति वहाँ रखी है तो क्या हुआ, और किसी दूसरे ढँग से रखी है तो क्या हुआ ? और शास्त्र रख दिया तो क्या, मूर्ति रख दी तो क्या ? और दोनो मे-से कुछ भी नही रखा तो क्या ? इतने तरह के जो विवाद, जो विसगतियाँ उत्पन्न हुई तो समाज से मै यही कहना चाहूँगा कि हमे धर्म के मर्म तक पहुँचना चाहिये और अपनी दृष्टि को उदार/सहिष्णु बनाना चाहिये। धर्म को समझना चाहिये और उसे जीवन मे उतारना चाहिये।

(बम्बई, प्रात ६ बजे/ ९ अगस्त, १९८२, 'तीर्थंकर' वर्ष १२ अंक ५-६; सितम्बर-अक्टूबर १९८२)

जैन पत्र–पत्रिकाएँ : समाज का सच्चा प्रहरी बनें

डॉ. नेमीचन्द जैन : जैन पत्रकारिता को आप एक लम्बे अरसे से देखते आ रहे है, तो आपके मन पर इसकी कैसी प्रतिक्रिया है ?

अक्षयकुमार जैन : सच बात अगर आप से कहूँ तो दो-तीन जैन पत्रो को ही मै पढ़ता हूँ। एक पर तो मेरा नाम भी छपता है, (वीर दिल्ली)। 'तीर्थंकर' मुझे जरूर ऐसा लगता है कि जिसमे कुछ सामग्री है, उत्सुकता बनी रहती है कि वह आये और पढ़ूँ। जैन पत्रो मे क्या-क्या होना चाहिये, इस पर अवश्य विचार किया जाना चाहिये। पहली बात यह कि जैन पत्रो मे जैनधर्म के दार्शनिक पक्ष की चर्चा के साथ विशिष्ट/मौलिक पहलुओ को स्पष्ट करना चाहिये।

ने.. वैविध्य लाने के लिए चाहिये लेखक, लेकिन समाज मे है कहाँ ऐसे रचनाकार ? मौलिक लेखन होता कहाँ है ? इधर-उधर से सामग्री जुटानी होती है। वैविध्य मे गुणवत्ता भी तो होनी चाहिये।

अ.: हमारे धनिक वर्ग को यह बात समझ मे आनी चाहिये या उन्हे यह बात समझानी चाहिये कि जैन पत्रो के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उन्हे अपने धन का सदुपयोग करना चाहिये ताकि जैन पत्र-पत्रिकाएँ विविधता लाने के अभियान मे लेखको/रचनाकारो को पारिश्रमिक दे सके। समाज मे कम-से-कम एक-दो पत्र उच्च स्तर के प्रकाशित हो सके, इसके लिए उन्हे आगे आना चाहिये।

ने.: जैन समाज की भूमिका का आपने उल्लेख किया था, वह क्या है ?

अ.: जैन समाज की भूमिका यह रही है कि वह देश की मुख्यधारा से सदैव सम्बद्ध रहा है। चाहे गाधी के चेले बनने की बात हो, स्वतन्त्रता-सग्राम मे जूझने का प्रसग हो, चाहे गोली खाने की या जेल जाने की स्थिति हो, चाहे चिकित्सालय/औषधालय बनवाने हो, इनमे जितनी हमारी सख्या है, उससे अधिक काम हमने किया है और करते जा रहे है।

ने.: आपके कहने का आशय यह है कि जैन समाज के इस उज्ज्वल पक्ष को भी जैन पत्र-पत्रिकाओ द्वारा सामने लाया जाना चाहिये।

अ.· जिस प्रकार जैन समाज का उज्ज्वल पक्ष प्रेरक और विधायक है, उसी प्रकार जैन पत्र-पत्रिकाओ का भविष्य भी उज्ज्वल हो सकता है। उन्हे समाज का सच्चा प्रहरी बनना चाहिये।

(नई दिल्ली, ४ मई, १९८६, 'तीर्थंकर' वर्ष १६ अंक २ जून १९८६)

मैं बोधकथाएँ स्वान्तःसुखाय लिखता हूँ

डॉ. नेमीचन्द जैन : आप एक लम्बे अरसे से बोधकथाएँ लिख रहे है सबसे पहले यह बताइये कि इनका उद्देश्य क्या है ?

नेमीचन्द पटोरिया : वास्तव मे जब बोधकथाएँ लिखना आरभ किया था, तब उनका उद्देश्य 'स्वान्त सुखाय' था, आज भी है। जैसा कि मैंने 'सोना और धूल' (प्रथम बोधकथा-सग्रह, हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर द्वारा १९७५ मे प्रकाशित) मे लिखा है। इन्हे लिखने मे ऐसा आनन्द आया कि जो आत्मा को निखारने का काम करता है। फिर मुझे लगा कि मै इन्हे अपने तक ही सीमित न रखूँ, दूसरो मे भी परोसूँ, जिससे उन्हे भी फायदा हो। ख्याल यह भी आया कि जब दूसरे पढेगे, तब वे जो त्रुटि रह गयी है, उसे बता सकेगे।

ने.· बोधकथाएँ लिखने की प्रेरणा आपको किससे मिली ?

ने.प.: एक, पुराणो की कथाएँ। जैन पुराणो से मुझे बहुत सी सामग्री मिली, अन्य पुराणो से भी। दो, जीवन के प्रसग-अपने और दूसरो के, विशेषकर महापुरुषो के। तीन, कुछ सत्य घटनाएँ भी हुईं। सत्य घटनाओ को भी मन पर असर हुआ। या, कल्पनात्मक। कुछ ऐसी कहानियाँ भी लिखीं, जो बिलकुल कल्पनापरक है।

ने. बोधकथाएँ लिखना कब शुरू किया ? (उम्र के अनुसार ६० के बाद, या उससे पहले)?

ने प.. ६० के बाद। पहले भी लिखा है, लेकिन स्कूल-कॉलेज की पत्र-पत्रिकाओ मे। कहा जा सकता है, मै विद्यार्थी-जीवन से ही लिख रहा हूँ।

ने.: जो खुद को समझ मे आ जाए, वह दूसरो को-सबको समझमे आ ही जाएगा। आपकी कसौटी यह है कि खुद को समझ मे आना चाहिये और उससे दूसरो को सुख मिलना चाहिये।

ने.प.: बिलकुल ठीक। जो खुद को पसन्द नही आयेगा, वह दूसरो को कभी पसन्द नही आयेगा-आ भी कैसे सकता है।

ने.: आम आदमी 'स्वान्त सुखाय' ही तो जीता है।

ने.प.: हाँ।

ने. इसीलिए आपका 'स्वान्त सुखाय' उसे पसन्द आता है।

ने.: पाठक भी तो 'स्वान्त सुखाय' पढता है; इसलिए जो स्वान्त. सुखाय लिखा गया है, उसी मे-से खुशियाँ और प्रेरणाएँ मिलती है। जो दूसरो के लिए लिखा जाता है, मेरी समझ मे वह बनावटी है।

(इन्दौर, २५ जून, १९८७, 'तीर्थंकर' वर्ष २ अक २, जून १९८७)

मैं अगले जन्म में भी बोधकथाएँ लिखना चाहूँगा

डॉ. नेमीचन्द जैन . बोधकथाएँ के पीछे आपका नैतिक लक्ष्य रहता है, या कुछ और ?

मोतीलाल सुराना : केवल नैतिक। पहले जब मै लिखता था, उसमे जैनधर्म की शब्दावली का समावेश करता था, क्योंकि जैन धर्मवलम्बी उन्हे पढते थे; लेकिन अब मेरी बोधकथाओ मे केवल नैतिक पक्ष ही रहता है। उनमे किसी सम्प्रदाय या धर्म-विशेष का आग्रह या आधार नही रहता।

ने.: अब तक कितनी कहानियाँ लिख चुके है ?

मो.: हजार से ऊपर।

ने.: बोधकथाएँ लिखना पसन्द करेगे अगले जन्म मे ?

मो.: जरूर करूँगा। अगले जन्म मे भी बोधकथाएँ लिखना चाहूँगा। लिखने का काम सतत् / लगातार जारी रखूँगा, जिससे मुझमे सुधार होने के साथ-साथ मेरे पाठक भी अपना जीवन सुधार-सँवार सके। बोधकथाओ के नाते इस जन्म और अगले जन्म मे मेरा और पाठको का परस्पर सबन्ध तो बना ही रहेगा। अभी भी मै पाठको की प्रेरणा से ही लिखता हूँ। यदि उनसे प्रेरणा न मिले, तो शायद मेरा लिखना कम हो जाए, या बन्द ही हो जाए। उनकी प्रेरणा से मुझे सहारा मिलता है कि और लिखो, और लिखो।

(इन्दौर, ७ दिसम्बर, १९८६, 'तीर्थंकर' वर्ष १७, अंक २, जून १९८६)

बातचीत : साहित्यकारों से : डॉ. नेमीचन्द जैन; संपादन प्रेमचन्द जैन © हीरा भैया प्रकाशन, प्रकाशन हीरा भैया प्रकाशन, ६५ , पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१,(म.प्र.); मुद्रण नईदुनिया प्रिन्टरी, इन्दौर-४५२००९ , टाइप सैटिंग · प्रतीति टाइपोग्राफिक्स, इन्दौर-१ (५५६४४५) ; प्रथम सस्करण फरवरी, १९९८ ; मूल्य चार रुपये।

मुख़ातिब : ख़ुद-ब-ख़ुद

(बातचीत : स्वयं की, स्वयं से)

डॉ. नेमीचन्द

पूर्वकथन

मेरी इस कृति मे बीस बातचीत (समालाप/इटरव्यू), जो 'तीर्थंकर' के जून '९४ के अक से अप्रैल '९६ तक के अंको मे प्रकाशित हुए है, सकलित है।

इनकी अलग से अपनी कोई विशेषता नही है; किन्तु जहाँ तक मुझे खयाल पड़ता है, अब तक ऐसा किसी ने किया नहीं है। यह प्रयोग है। कैसा है, इसे आप जाने-परखे। वैसे हर आदमी इस ढग से सोचता है, खुद से वक़्त-दर-वक़्त मशवरा करता है, किन्तु उसे रोशनी मे नही लाता। मैंने अपने खुद से हुए विचार-विमर्श को अपने पाठको के सामने रखा है।

इन समालापो मे मैंने कई समस्याओ पर विचार किया है, अत· मै चाहूँगा कि आप इन्हे ध्यान से पढे और जो भी विषय, जब भी, जहाँ भी आपके सामने आये, उसे आप टाले नही, बल्कि उस पर गंभीरता से विचार करे।

मै जानता हूँ कि खुद से मुख़ातिब होना कोई आसान काम नहीं है। प्राय. हम दूसरो से तो आँखे मिलाते है, किन्तु ख़ुद से नही मिला पाते। मानिये, इत्तफाक़न् जब भी ऐसा करते है, कही से कोई किरण हमारे जन्म-जन्मान्तर के अँधेरो को चीर कर हमे राह दिखाने आती है। यह किताब ऐसी ही किरणो का एक रचनात्मक समुच्चय है।

इन इंटरव्यूज़ मे मैंने मज़ा लिया है अर्थात् इन्हे 'एंजॉय' किया है, यही वजह है कि सारे इंटरव्यूज रसाप्लावित है, उनमे ज्ञान की झिरियो के साथ-साथ धरती की सौंधी सुवास भी आपोआप समाविष्ट है।

एक बात और। 'ने.' और 'जै ' की संक्षिप्तियो का भी एक राज है। 'ने ' (प्राश्निक) सामान्य है, 'जै.' (उत्तरदाता) विशिष्ट है। 'जै.' शब्द जुडते ही, जिम्मेवारी बढ़ गयी है (बढ जानी चाहिये), तब तीर्थंकरो/सिद्ध पुरुषो की याद आयी है और विवेक अप्रमत्त रहा है; अत न तो कोई असम्यक्, असंतुलित, असंयत, विवेकशून्य कथन हुआ है, और न ही वैसा करने की कोई प्रेरणा हुई है। वस्तुत· जो ऐसा करते है, वे जैन नहीं है, नट है, जो जैन होने का मिथ्या ढोग करते है। विकल्प आपके सामने है, आप जो जी मे आये करे। हाँ, जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मै उस सबसे बचा हूँ, बचने की कोशिश मे आठो याम रहता हूँ।

७ जुलाई १९९६

- नेमीचन्द जैन

सपादक 'तीर्थंकर'/'शाकाहार-क्रान्ति'

मुख़ातिब : ख़ुद-ब-ख़ुद

(बातचीत स्वय-की, स्वय-से)

डॉ. नेमीचन्द

हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर

मुख़ातिब · ख़ुद-ब-ख़ुद , डॉ नेमीचन्द © हीरा भैया प्रकाशन , प्रकाशन : हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कालोनी, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश, मुद्रण · नई दुनिया प्रिटरी, वाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२००९, मध्यप्रदेश, चित्र विश्वास जैन, प्रथम संस्करण : ७ जुलाई १९९६ , मूल्य : दस रुपये ।

ISBN / 81-85760-41-1

अन्तर्राष्ट्रीय मानक पुस्तक सख्या

८१-८५७६०-४१-१

क्रम

स्वाध्याय / मैं

जै. नमस्कार। कैसे है भाई श्री नेमीचन्दजी ?

ने. ठीक हूँ। चल रही है गाडी। अन्तर्विरोधो के बीच गाडी हाँकने का अपना अलग ही
जा है। आप कैसे है ?

जै. भीतर से निराकुल, बाहर से व्यथित।

ने. निराकुल - वह कैसे ? मै तो उस अवस्था की कल्पना भी नही कर सकता, और आप
वैसे है, कैसे है? अजीब बात है।

जै. जैनधर्म के गहन स्वाध्याय के फलस्वरूप स्वाध्याय अमृतोपम कुछ है। वह आदमी
को आदमी बनाये रखता है सिर्फ इतना ही नही, वरन् उसे प्रतिपल नवोत्थान भी देता है। स्वाध्याय
से चित्त शान्त रहता है, चचलताएँ दुम दबा कर भाग खडी होती है। यह स्थितप्रज्ञता को जन्म देता
है।

ने. मै वैसा हो नही पाता हूँ । यह काम, वह काम, यह खत, वह खत, इसका फोन,
उसका फोन, इससे मिलो, उससे मिलो, इसे यह पसद है, उसे वह पसद है, जानते नही वह रिश्ते
मे है, और देखिये वह अजनबी है तो क्या हुआ अन्तत है तो अपना ही न; 'शाकाहार-क्रान्ति'
की तारीख, 'तीर्थकर' के लिए 'मैटर', प्रेस, लेखक, खबरे, खबरो के साथ चेक या ड्राफ्ट और
तस्वीर, भेटवार्ता, निमन्त्रणदाता, प्रशसक, निन्दक . आदि-आदि। इन दिनो 'मै' को अखण्ड-अक्षत
'मै' किन्तु, भीड मे 'मै' बना रहता हूँ।

जै. लेकिन 'मै' किन्तु, भीड मे 'मै' बना रहता हूँ। इन दिनो 'मै' को अखण्ड-अक्षत
ना बडा मुश्किल है। 'मै' पर आज जितने हमले है, पहले कभी नही थे।

ने. मसलन।

जै. सूक्ष्म आक्रमण तो है ही, ठोस हमले भी है। लोभ, मोह, क्रोध, परिग्रह के हमले तो
ोते ही है, वे अ-लख है, दिखायी नही देते, किन्तु आज एक दूसरी किस्म का हमला भी है। समूह
ने 'मै' को निगल लिया है। कुछ ऐसी सामूहिक विवशताएँ है, जिन्होंने व्यक्ति को ढँक लिया है-
उसकी प्रभा को आच्छादित कर दिया है। आप वैसा रहने पर विवश है, जैसा समूह चाहता है,
आपकी अपनी निजता अब सिर्फ एक धोखा है, वास्तविकता नही है।

ने. वह कैसे ?

जै. · क्या आप वह खा सकते है, जो खाना चाहते है ? क्या आप वह पढ सकते है, जो
पढ़ना चाहते है ? क्या आप वह पहन सकते है, जो पहनना चाहते है ? क्या आप वह खरीद सक

है ? जो खरीदना चाहते है ?

ने. हॉ।

जै. नहीं। आपको किसी भी वस्तु की उन्ही क़िस्मो मे-से किसी एक को चुनना होगा, जो बाजार मे है। आपके लिए अलग से कुछ हो, यह संभव ही नही है। आपकी रुचियाँ और दिलचस्पियो के हाथ मे हथकडियाँ है। आप स्वाधीन नहीं है; स्वावलम्बन आपका बहाना हो सकता है, आप वास्तव मे बदी है।

ने. बंदी ?

जै. हाँ, बदी। पराधीनता सिर्फ बेड़ी, हथकड़ी या जेल नही है, उसका सबन्ध आदमी की मानसिकता से है। आज सपूर्ण देश मानसिकता की दृष्टि से पराधीन है। उसकी अपनी अस्मिता लगभग समाप्त है। उसकी रुचियो/आकांक्षाओ का नियन्त्रण अब सात समदर पार से होता है। सुनिये, अब पराधीनताएँ बढेगी ही, घटेगी नही। आज वह/ वैसा सब नहीं है, जो पहले कभी होता, या हुआ करता था। आप अहिसक, सत्यवादी, अपरिग्रही, या अचौर्यव्रती अब नही हो सकते। हज़ार क़समे खाये, वैसा होना अब सभव नही है।

ने. कठिन तो हुआ है।

जै. कोशिश हम करे, किन्तु उसकी भी सीमा है। पूरी दुनिया पैसे के पीछे दीवानी है, इसने लोभ-लिप्सा के उन्माद मे उन मूल्यो को गौण कर दिया है, जिन्हे कभी नैतिक/आध्यात्मिक कहा जाता था। आज स्वाधीनता का मुख्यार्थ बाधित है, वह पक्षाघात-पीडित है। व्यक्ति अब वह नही है, जो चद दशक पूर्व था। मडी ने उसे मद कर दिया है।

ने. कोई उपाय .

जै. उपाय शायद कुछ भी नही है। एक ऐसे खतरनाक मोड पर आज हम आ खडे हुए है, जहाँ हिसा को अहिसा, असत्य को सत्य, चौर्य को अचौर्य, परिग्रह को अपरिग्रह और असंयम को सयम कहा जाने लगा है। सर्वेक्षण कीजिये तो पता लगेगा कि देव-दर्शन, पूजा-पाठ, पर्युषण इत्यादि तो सब कर रहे है, किन्तु भीतर से सब कोरे ही नहीं काले भी हुए है। वस्तुत. 'लेबल' कुछ और 'सामग्री' कुछ की दुई (द्वैत) से प्राय सारा समाज पीडित है।

ने. आप भी तो 'नेमीचन्द जैन' लिखते है।

जै. : लिखता था, अब कभी लिखता हूँ और कभी नहीं लिखता हूँ। चित्त के शुद्ध/अशुद्ध होने की सूक्ष्मताओ/गहराइयो से इसका सबन्ध अब हुआ है। जब चित्त शुद्ध होता है 'जैन' लिखता हूँ, उस पर गर्द होती है, नही लिख पाता हूँ। इसे मैंने चित्त के शुद्धाशुद्ध होने का माप-दण्ड बना लिया है।

ने. : बडा विचित्र है, अर्थात् आप इन दिनों दोहरा जीवन जी रहे है, क्या यह 'दोगलापन' नही है ?

जै. . दोहरे जीवन जीने की विवशता है मित्र, किन्तु 'दोगलापन' इसे मत कहिये। मै भीतर से सुबहोशाम कूडा-करकट बुहार फेकता हूँ। आत्म-निरीक्षण ही नही, आत्म-परीक्षण तथा आत्म-शोधन के क्षण भी एक दिन मे अनेक बार आते है। असली विकास इन्ही क्षणो मे होता है। आप क्या समझते है - स्वाध्याय सिर्फ ग्रन्थो का होता है, निर्ग्रन्थ हो कर जीने से बडा स्वाध्याय सभवत· कुछ है ही नही। बस ऐसे क्षणो को बढाने का अभिलाष बना रहता है। यह प्रक्रिया कठिन भले ही हो, स्वाभाविक है किन्तु।

ने. · टाल गये न मूल विषय, अरे भाई बात पराधीनता की चल रही थी - ठीक है न ?

जै. . मै वही हूँ, जहाँ मुझे होना चाहिये। संदर्भ से रेशे-भर भी नही हटा हूँ। स्वय मे हो-गुजर कर जीने से बडी स्वाधीनता कोई है नही। यह एक ऐसी स्वाधीनता है, जिसे कोई भी हथकडी नही डाल सकता। मै जब अपनी जरूरते कम करता हूँ, तब स्वाधीन होता हूँ, इन्हे बढाता हूँ तो पराधीन होता हूँ - इसलिए मैंने अपनी जरूरतो को काफी घटा लिया है। जरूरतो का काफिला बहुत बडा है। इस पर नियन्त्रण पाने का शिल्प बहुत सूक्ष्म है। यदि अनुमति दे तो हम इस पर कल विचार करे। नमस्कार।

ने. : नमस्कार।

- जून '९४ □

संबन्ध-तत्त्व

ने. : कल आपने जिस मुद्दे को उठाया था वह है काफी महत्त्वपूर्ण, किन्तु पेचीदा है- आप क्या सोचते है ?

जै. : सोचने की फुरसत ही नही है। क्षण आता है और अतीव वेग से उम्र की लकडी पर रद्दा मार कर निकल जाता है। जैसे ही मै उसे पकडने को होता हूँ, लगता है पहला मुट्ठी से खिसक गय है, और दूसरा उसकी जगह मेहमान हो गया है, फिर भी महसूस करता हूँ कि एक तो समस्याएं आज पहले से अधिक है, इनमे-से हर एक अकेली नही है, वह कई समस्याओं की गठरी है इनमे-से एक को भी खोलने की हिम्मत जुटाना आज मुश्किल हुआ है। नदी की तरह बहने और प्रवाह मे आते नुकीले पत्थरो को गुलाई देते जाने का सुख भी अलग ही तरह का है। आज व्यक्ति जितना जटिल/ ग्रन्थिल (कॉम्प्लेक्स) है, उतना पहले कभी नहीं था।

ने. : व्यक्ति ही क्यो समाज के हालात भी वैसे ही है।

जै. : समाज व्यक्तियो से ही तो बनता है। असल मे सबसे बड़ी कठिनाई 'सबन्ध-तत्त्व' की है।

ने. : संबन्ध - सबन्ध से आपका आशय क्या है ?

जै : संबन्ध का मतलब बहुत साफ है। किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को खुद से जोड़ कर सोचना। आज तटस्थ और सार्वभौम दृष्टि रखना कठिन ही नही असभव भी हुआ है। हम इस तरह कुछ सोचने लगे है कि अमुक आदमी, अमुक चीज या अमुक स्थिति हमारे कितने काम की है; हम यूँ तो कभी सोच ही नही पा रहे है कि अमुक इंसान, चीज या हालत समाज के कितने काम की है। 'बहुजन या सर्वजन हिताय' को स्वार्थ का नाग डस गया है। क्या हम कभी इसे निर्विष अथवा विषमुक्त कर पायेगे ?

ने. : देखिये, व्यक्ति अपने सबन्ध मे न सोचे, या स्वय को हाशिये मे डाल कर चले, यह कभी सभव ही नही है। क्या आप चाहते है कि वह अपने तमाम सुख और सारी जिन्दगी औरो की भलाई मे झोक दे ?

जै. : चाहता तो यही हूँ, कोशिश भी करता हूँ; किन्तु अपनी सफलताओ/असफलताओ को कभी कसौटी पर नही डाल सका हूँ। मेरा खयाल है कि यदि मनुष्य अपना 'सार्वभौमीकरण' करे तो तय है कि उसके निजी सुख स्वयमेव उसके चरण-दास बन जाएँगे। जब हम पूरी वसुधा - की परिधि मे रहते है, तब हम और हमारे हित उसमे न आये यह कैसे सभव है? नही है।

ने. · जो हो, मै नही चाहूँगा कि आप समस्या का दर्शनीकरण (फिलॉसफाइजेशन) करे। र्शन व्यक्ति को गहराइयो मे तो ले जाता है , किन्तु व्यवहार मे उसे असफल सिद्ध कर देता है।

जै. · ऐसा नही है। दर्शन का भी व्यवहार-पक्ष है, जो प्राय ढँका रहता है। इसे ढूँढ़ निकालने बहुत कम लोग सफल होते है। सोने-की-खदान मे सोना मिलता है, किन्तु वह माटी मे भिदा रहता है, उसे आँच दे कर अलगाना होता है। आज हम स्वस्थ चिन्तन का तप कहाँ करते है ? सबन्धो के गोरखधन्धे मे इतना उलझ जाते है कि निजता का छोर लगभग लुप्त हो पडता है।

ने. . 'सबन्ध' - मतलब ?

जै. . यह मेरा, यह तेरा, यह उसका, यदि यह मेरा है तो बावजूद सारी बुराइयो, कमजोरियो और खामियो के उसे हर तरह का लाभ मिलना ही चाहिये। यह मेरी है - बस फिर यह चाहे जैसी है - इसकी हिफ़ाजत तो जान दे कर मुझे करनी ही है। सबन्ध-तत्त्व जब हमारे जेहन पर सवार या हावी होता है, तब हम निष्पक्ष हो ही नही सकते। सबन्ध खुद एक पक्ष बन कर पहले से आसदी पर आ बैठता है - यह कठिनाई है। बहुत बडी कठिनाई। इसे जीतते ही व्यक्ति अजर-अमर हो पडता है।

ने. · सबन्ध तो तरह-तरह के होते हैं .

जै. होते क्या है, है। और दिन-ब-दिन सबन्धो के खजाने से और-और नये-नये रिश्ते उघडते जाते है। सामाजिक विकास - तथाकथित - जटिलता तक को जटिल बना दिया है। पिता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, बहिन, पोता, पोती, भाई, भाभी, भतीजा, भतीजी, जैसे कौटुम्बिक रिश्ते तो है ही, धन-दौलत, जमीन-जायदाद के रिश्ते भी हैं। राजनैतिक रिश्ते भी है। व्यक्तिगत सुख-दु ख के संबन्ध भी है। भूत, भविष्य, वर्तमान के कालगत रिश्ते भी है। आर्थिक रिश्तो की ग्रन्थियाँ समझ पाना बेहद मुश्किल हुआ है। स्वामी-सेवक, मकान-मालिक/ किरायेदार, अफसर-नौकर जैसे सबन्धो के भी अलग आयाम है। मतलब यह, कि आखिरी सॉस तक आदमी का रिश्तो से खाली या रिक्त होना सभव नही है। तन-मन / देह-आत्मा के रिश्तो के भी शास्त्र-शिल्प है। इन सबसे ऊपर उठने/निकलने की बात सोचना कठिन तो है , किन्तु असभव नही है।

ने. आप तो व्यवहारातीत बात कुछ कर रहे है। व्यवहार मे लिफाफा अधिक सार्थक होता है, उसमे क्या है, इसकी चिन्ता व्यर्थ है। लिफाफा जितना आकर्षक और सुन्दर होगा - उतना सार्थक यदि मजमून नही है तो चिन्तित होने की कोई बात नही है। काम सर जाएगा। आप जैसा सोचते है, उसकी व्यवहार-के जगत् मे कोई प्रासगिकता नही है। ऐसी बाते करने वालो को लोग अक्सर पागल समझते हैं। और उन्हे पागलखाने मे भर्ती कराना पसंद करते हैं।

जै. . जो ऐसा सोचते है वे शायद इस तथ्य को नही जानते कि आज पूरी दुनिया एक पागलखाने मे बदली हुई है। आप ही बताये कि आज पागल कौन नही है ? होश मे - भीतर के होश मे - शायद हममे-से एक भी नही है।

ने. : अलंकृत भाषा से काम नही चलता है, जैन साहब, इस दुनिया मे। आप तो साफ-साफ बताइये कि समस्याओ की गठरी सिर पर उठाये आदमी को आज करना क्या चाहिये ?

जै. : उसे अपनी शक्तियो को समझना चाहिये। अपनी अस्मिता को पहचानने का पुरुषार्थ करना चाहिये लेकिन इस तरह नहीं कि दूसरो की अस्मिता की अवहेलना हो। उसका ध्यान रख कर, अर्थात् दूसरो की निजता को निर्विघ्न रख कर अपनी अस्मिता को समझने और प्रकट करने से कई समस्याएँ हल हो सकती है।

ने. : बात गहरी है। इसके तलातल मे उतरने की जरूरत है। मै समझता हूँ हम आसानी से इसे कल पर छोड सकते है। कल फिर इसी जगह, इसी वक्त, इसी हालत मे। नमस्कार।

– जुलाई '९४ □

३

नमस्कार

ने. : प्रात कालीन नमस्कार, कैसे है श्री जैन?

जै. : अच्छा हूँ, भीतर से स्वस्थ, बाहर से अंशत अस्वस्थ।

ने. : अच्छा, एक बात बताइये। आप 'नमस्कार' करते है, 'जय जिनेन्द्र' 'सुप्रभात' अथवा 'गुड मॉर्निंग' क्यो नही करते ?

जै. . देखिये, जहॉ तक शब्दो का प्रश्न है, उनकी सीमाएँ है। वे एक हद तक है, दूसरी हद पर उनके पाँव रुके हुए हैं। आदरसूचक शब्दो की अपनी गरिमा है, और वे अलग-अलग समयो मे, अलग-अलग सदर्भों मे अस्तित्व मे आये है।

ने. · माफ कीजिये, मै इतिहास नही माँग रहा हूँ, आपकी पसद पूछ रहा हूँ।

जै. · पसंद ही बता रहा हूँ, लेकिन ऐसा करते हुए भी कुछ सबब तो देना ही होगा। हॉ, यदि आप कहे तो ऊलजलूल कुछ कह डालूँ।

ने. · नही, बात अपनी तरह से , अपनी रौ मे कहिये। वक्त लीजिये, किन्तु, कृपया, न्याय कीजिये।

जै. : वस्तुत मुझे 'नमस्कार' शब्द बहुत प्रिय है। लोग मुझसे 'राम-राम' 'प्रणाम' 'जय श्रीकृष्ण' 'जय जिनेन्द्र' 'सलाम अलैकुम' आदि कहते है, किन्तु मै उन्हे 'नमस्कार' ही लौटाता हूँ।

ने. : आप जैन है, आपको 'जय जिनेन्द्र ' कहना चाहिये।

जै. · यह सुझाव है, या हुक्म, या आदेशपरक परामर्श ?

ने. : समझिये, ऐसा ही कुछ है।

जै. . ठीक है, आप 'जय जिनेन्द्र' कहिये, मै, किन्तु, 'नमस्कार' ही कहूँगा। यह शब्द मुझे बेहद प्रिय है और ऐसे सारे शब्द आरम्भक है। इनसे हम कोई शुरूआत करते है। ये शुरूआती चुप्पी तोडने वाले शब्द है, बिल्कुल 'सुबह-की-चाय-की तरह'।

ने. . शब्द और चाय। बहुत अच्छी कल्पना है।

जै. मुझे 'नमस्कार' प्रिय है। एक तो इसमे किसी वर्ग या सप्रदाय की कोई गंध नही है, दूसरे यह मानव-सभ्यता का एक बुनियादी शब्द है, और जैनो को तो प्रसन्नता होनी चाहिये इससे, चूँकि उनका विश्व-विख्यात महामन्त्र 'नमस्कार मन्त्र' के नाम से ही जाना जाता है। जब

हम सिद्धो, अर्हन्तो आदि को नमस्कार कर सकते है तब एक-दूसरे को क्यो नही कर सकते ? 'नमस्कार' शब्द की जडे पाताल तक फैली हुई है। यह बडे गहन अर्थ वाला शब्द है।

ने. : लगता है 'जय जिनेन्द्र' बाद का आविष्कार है।

जै. : पूर्वापरता छोडिये। बाद-पहले के झगडे को बाद दीजिये। मूल मुद्दे पर आइये। 'नमस्कार' के लिए प्राकृत मे 'णमोकार' 'णमोक्कार' 'णमोयार' शब्द प्रचलित है। 'नमुक्कार' भी प्रचलन मे है । ये सब 'नमस्कार' के कुटुम्बी है। उसी की मुखछबियाँ है। 'जय जिनेन्द्र' प्राचीन श्रमण सस्कृति मे अप्राप्य है, यह बीसवी सदी की देन है, फिर भी यदि कोई इसका उपयोग करता है तो इसमे मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। यह तो अपनी-अपनी पसद है। सब अपनी तरह से स्वतन्त्र है, न सही बाज़ार की खरीद-फरोख्त मे - ऐसे शब्दो के चयन मे तो है ही।

ने. : तो मै अब समझा कि आप 'नमस्कार' शब्द का उपयोग क्यो करते है ?

जै. : इतना ही नही जब मे इस शब्द को काम मे लेता हूँ तब मेरे सामने पच परमेष्ठी आ खडे होते है, और मै इस शब्द मे-से उनकी साक्षी भी पा लेता हूँ। मेरे इस शब्दोच्चार मे औपचारिकता अथवा पारम्परिकता की अपेक्षा सास्कृतिकता और 'वसुधैव कौटुम्बिकता' अधिक होती है।

ने. · इस शब्द का उपयोग तो प्राय सभी करते है, फिर विशिष्ट क्या हुआ ?

जै. . प्रश्न 'विशिष्ट' होने का उतना नही है, जितना 'शिष्ट' होने का है। प्राय हम विशिष्ट होने की चित्तवृत्ति मे 'अशिष्ट' ही होते है और इस तरह न तो दूसरो को ठीक से हाशिया ही दे पाते है और न ही स्वय को विकासोन्मुख रख पाते है।

ने. : देखिये जैन साहब, मै पहले ही कह चुका हूँ कि आप स्थिति के दर्शनीकरण (फिलॉसफाइजेशन) से बचिये। मै एक सामान्य जन हूँ, मुझे सामान्य तर्क चाहिये, विशिष्ट दलील पकडने-रोकने मे मेरी मेधा प्राय असमर्थ रहती है।

जै. · ठीक है, तो इतना समझिये कि 'नमस्कार' शब्द की परिधि और हैसियत बहुत बडी है, अत यदि हम उसका भी उपयोग करते हैं तो ऐसा कुछ नही करते जिस पर कोई उज्र करे।

ने. : एक आन्दोलन चला है कि यदि आप जैन है, तो 'जय जिनेन्द्र' कहिये, अपनी पहचान (आयडेटिटी) बनाये रखिये। इस सिलसिले मे आप क्या सोचते है ?

जै. यदि ऐसा कोई आन्दोलन है तो मै उसके पक्ष मे नही हूँ। मुझे तो 'णमोकार मन्त्र' की तरह पक्षातीत होने मे जो सहज सुख मिलता है, वह अन्यत्र अलभ्य है। क्या आप चाहेगे कि एक पक्षातीत मन्त्र के विश्वासी किसी पक्षपातपूर्ण स्थिति मे आये और पक्षपातपूर्ण आबोहवा बनाने मे लग जाएँ - एकागी जीवन जिये ?

ने. : 'आकाशवाणी', 'दूरदर्शन', सभा-सोसायटियो, क्लबो आदि मे भी यह शब्द एक घटना है, क्या सामान्य हो कर आप बूँद जिस तरह समुद्र मे अपना अस्तित्व खो बैठती है तरह अस्तित्वशेष होना चाहते है ?

जै. : आप भी अजीब है। यहाँ प्रश्न अस्तित्व-लोप का नही है, वरन् अस्तित्व को बनाये रखने का है। क्या आप पानी मे डूब, या तैर कर पानी हो जाते है? क्या जिस पानी मे आप डुबकी मार रहे होते है, वह पानी सदैव एकरूप होता है ? सुनिये, जिस तरह 'नमस्कार महामन्त्र' बहुआयामी है, ठीक वैसे ही 'नमस्कार' शब्द भी बहुआयामी है। इसमे पर्त-दर-पर्त भिद कर देखिये। इसकी हर पर्त मे कोई-न-कोई सत्योन्मुख रहस्य विद्यमान है। यह स्वाधीनता और स्वाभाविकता का दिव्यघोषपरक शब्द है। इसके उपयोग से रोम-रोम खुल पडता है और अहकार शेष होने को होता है।

ने. : शायद नही।

जै. : 'शायद' एक बडा धोखेबाज लफ्ज है, इसकी जगह 'स्यात्' को दीजिये, जिसमे सभावनाओ के द्वार खुले हुए है। 'स्यात् ऐसा हो' - यह कहना ठीक है। सपूर्णता की यात्रा 'स्यात्' मे-से हो कर ही सभव है, और फिर अधूरे सफर का कोई फायदा भी तो नही है।

ने. . लगता है अब आप एक चरम बिन्दु पर आने लगे है।

जै. : हाँ, आखिर कही तो रुकना ही है, तथापि एक बात याद रखिये कि 'नमस्कार' शब्द जहाँ एक ओर आरम्भक शब्द है, वही दूसरी ओर वह जीवन-विकास के एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम का सूचक शब्द भी है। नमस्कार महामन्त्र मे विकास का जो क्रम उपलब्ध है, वह अद्‌भुत है। श्रेष्ठताओ की यात्रा की ओर इंगित करने वाले इस शब्द को 'नमस्कार' नही करेगे क्या?

ने. : नमस्कार - इसे भी, आपको भी, किन्तु पास से, दूर से नही।

- अगस्त '९४ □

४

अन्तर्विरोध

ने. : आज वडे असमंजस मे, तथापि, प्रसन्न दीख पड रहे है, ऐसा क्या हुआ है? मुझे भी इस प्रसन्नता मे भागीदारी का अवसर दीजिये।

जै. ऐसा कुछ खास है तो नही पर आज एक ऐसा निमन्त्रण मिला एक संस्था का जिसके लेटरहेड (पत्र-शीर्ष) पर 'अखिल भारतीय' शब्द मुद्रित थे, किन्तु समीक्षा और जाँच-पड़ताल से पता चला कि सवन्धित संस्था का चरित्र तो अभी ठीक से 'स्थानिक' भी नहीं है। वस, इसी अन्तर्विरोध पर क्षोभ भी हुआ, हँसी भी आयी।

ने. · अन्तर्विरोध तो आज हमारी जिन्दगी के अनिवार्य हिस्से वन गये है।

जै. : पर क्या इन्हे हम निष्कासित नही कर सकते? असल मे इन्होंने हमारे जीवन की निष्कामता और निष्कलुषता के ताने-बाने को विलकुल ही तहस-नहस कर दिया है। हमे 'तृष्णा' और अनावश्यक फैलाव की भावना ने कही का नही रहने दिया है।

ने. : निष्कासित तो हम इन्हे कर सकते है, किन्तु मुद्दा वहुत कुछ नियन्त्रण-से-परे निकल गया है।

जै. . ऐसा कुछ नही है, यदि हम चाहे तो क्या नही हो सकता? सबमे महत्त्वपूर्ण है 'परिवर्तन-की-इच्छा' का वजूद मे होना - यदि अन्तर्विरोध की पहचान वनायेगे तो उसका सफाया भी हो जाएगा। अभी तो हम इसे या इन्हे ठीक से रेखांकित ही नही कर पाये है।

ने. . 'अ भा ' या 'अखिल भारतीय' शब्द यदि किसी सस्था, परिषद् , सभा, समिति के विशेपण के रूप मे लगा दे तो इसमे आपत्तिजनक क्या है? यह तो एक स्वप्न है, जिसे ख्याल मे रखा जा रहा है। यदि योजना वडी न हो - महत्त्वाकाक्षी न हो, तो उसका एक लघु अश भी पूरा न हो, वह भी तडप कर दम तोड दे।

जै. . पर मुश्किल यह है कि हम पहले 'विशेपण' जोडते है और फिर बाद को 'विशेष्य' की चिन्ता करते है। इस वृत्ति को तो, चाहे जो हो, वदलना ही होगा।

ने. : 'अखिल भारतीय' या 'अखिल भारतवर्षीय' विशेषण जहाँ एक ओर सुहावने/आकर्षक/लाभप्रद लगते है, वही दूसरी ओर संवन्धितो की जिम्मेवारी बढा देते है। ठीक है न ?

जै. : ठीक तो है, किन्तु गौरवशाली नही है। अभी कुछ दिन पूर्व वम्वई की एक सस्था के

नाम-पूर्व विशेषण 'अ भा ' को देख चौंक पडा। वहाँ ऐसा कुछ भी नही था (नाम को छोड) कि जिसे 'अ भा ' कहा जा सके। मुश्किल यह थी कि तमाम तामझाम ठीक से बम्बई के एक उपनगर तक भी व्याप्त नहीं थे। वही हालात मद्रास और दिल्ली मे भी दिखायी दिये। क्या हम इस सार्वजनिक/सुलिखित झूठ से बच नहीं सकते ? क्या सच बोलने-लिखने मे हमे सकोच-शर्म महसूस होती है ?

ने. देखिये, मनुष्य आरम्भ से ही महत्त्वाकांक्षी/स्वप्नदृष्टा रहा है। उसे शुरू मे ही बडा कुछ चाहिये। वह विकास के काल्पनिक सयोजन मे बडी राहत महसूस करता है।

जै. · किन्तु सवाल राहत या सुकून का नही है, जिम्मेवारी का है। इस तरह तो हम गाँव - गाँव, नगर-नगर, मोहल्ले-मोहल्ले मे 'अखिल भारतीय' सस्थाएँ खोल बैठेगे - आगे चल कर यह बहुत पीडादायी सिद्ध होगा।

ने. · सो तो है , हमे ऐसी सारी सस्थाओ को आगाह करना चाहिये कि वे या तो 'अखिल भारतीयता' का निर्वाह करे, तदनुरूप अपना विस्तार करे, या फिर जैसी है वैसी रहे/ दीखे। पाखण्ड न करे। **वस्तुस्थिति या यथार्थ की ज़मीन पर खड़े होने में झिझक कैसी?** वास्तविकता की ओर से जब भी कोई आँख मूँद कर चला है, उसे ठोकर खानी पडी है।

जै. तो सबमे पहले तो हमे ऐसी सस्थाओ की एक व्यापक सूची बनानी पडेगी, और उन्हे अत्यन्त निर्मम भाव से, निर्मलीकरण-की-नीयत-से तेजाब मे डालना होगा ताकि उनकी आँखो का कीचड साफ हो, और उन्हे अपना लक्ष्य/ अपनी सीमा स्पष्ट दिखायी दे।

ने. . काम बडा है, बदनामी का भी है - इसे भला कौन हाथ मे लेगा?

जै. . आप ही ले। क्या आपमे दमखम कम है? दिन-रात तो लगे रहते है किसी-न-किसी काम मे, इतना और सही।

ने. . प्रस्ताव ठीक है, किन्तु अब तो उम्र भी वैसी नही है कि अधिक काम कर सकूँ, पहले अलबत्ता अधिक काम कर लेता था, अब नही कर पाता हूँ। सीमा आने लगी है।

जै. दो बाते है। एक, आज कोई किसी झझट मे पडना नही चाहता, दूसरे, उसे समाज-सेवा या परोपकार मे कोई रुचि नही है। नया कुछ करने या परिवर्तित होने की आकाक्षा भी अब मर चली है। लोग प्राय स्थिति-पालक है। रूढियो से चिपके रहने, या उन्हे सहते रहने अथवा अत्याधुनिक हो पडने मे उनकी दिलचस्पी है।

ने. · **किन्तु युवा में - चाहे वह किसी वर्ग का हो - बदलने और कुछ कर गुज़रने की प्रबल आकांक्षा अभी शेष है।**

जै. है, पर बुजुर्ग पीढी ने उसे लाभ-लालच मे फाँस कर लगभग विकलाग कर दिया है,

तथापि हमे उस पर भरोसा करना चाहिये - उसे आगे लाना चाहिये। वास्तव मे 'अ भा ' को प्रासगिक / सार्थक बनाने मे युवा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। उसे आगे लाइये।

ने. : आप पहल करना चाहेगे?

जै. · करूँगा। अभी तो उसके मन-मानस को समझने की कोशिश मे लगा हूँ।

ने. · निराश तो नही है?

जै. : निराशाएँ द्वार तक आती ज़रूर हैं, पर मै निराश नही हूँ। मुझे युवाशक्ति की निर्मलता, योग्यता, विवेक, और ईमानदारी पर विश्वास है - अत उन्ही के जरिये कुछ करूँगा।

ने. : नमस्कार!

जै. · नमस्कार, धन्यवाद!

- सितम्बर '९४ □

५

व्याख्या

ने. : मुझे याद पडता है आपने किसी व्याख्यान मे कहा था कि 'मूल वस्तु या कथन का महत्त्व तो होता ही है, उसकी व्याख्या और विस्तृति, उसका पल्लवन और उसकी टीका का भी महत्त्व होता है। जब तक कोई सही व्याख्या सामने नही आती, भ्रम और धुन्ध बने रहते है।'

जै. . इसमे गलत क्या है? ठीक तो है। ज्यादातर लोग मूल की गलत या स्वानुकूल व्याख्या कर बैठते है और जनता-जनार्दन को सदियो तक उलझाये रखते है।

ने. . क्यो होता है यह? क्या इसका उपयुक्त हल नही है ?

जै. : है, मगर लोग कोशिश ही कहाँ करते है, सम्यक्त्व तक पहुँचने की? माना, रास्ता कटकाकीर्ण है, किन्तु सही यह है इससे मुँह कैसे मोड़ा जा सकता है? भाई, आज सब है, सिर्फ ईमानदार कोशिश का दुष्काल है। यदि किसी कथन को स्वाध्याय-के-परिवेश मे संपूर्ण सद्भावना और नेकनीयती से लिया जाए तो उसके मूल तक पहुँचने मे कोई कठिनाई नही है।

ने. · कोई मिसाल देगे ?

जै. · अवश्य, शास्त्रो से तो शायद नहीं दे पाऊँगा, हाँ, किन्तु सामान्य जिन्दगी से कोई उदाहरण दे कर अपनी बात स्पष्ट अवश्य करूँगा।

ने. असल मे व्यावहारिक/सामान्य जिन्दगी को सँवारना, उसे सतुलित/दिशा देना सभवत हमारा शीर्ष कर्तव्य है।

जै. · बात श्रवणबेलगोला की है। मै एक मन्दिर से दर्शनोपरान्त सहज ही निकल रहा था। भक्ति-विभोर था। मूर्ति विलक्षण थी। उसमे शिल्पी ने वीतरागता-का-चुम्बक अपनी टाँकी से कुछ इस तरह टाँक दिया था कि उससे बच पाना लगभग असभव ही था। मै भेदविज्ञान-वृष्टि मे नख-शिख नहाया चला आ रहा था। अभी शायद मन्दिर के द्वार पर ही था कि एक दर्शनार्थी आये और मेरे कन्धे पर हाथ रख कर बोले - 'आपको इतना भी 'सेस' नही है कि मूर्ति के साथ कैसा सलूक करना चाहिये?' मैने कहा - 'मै समझा नही'। बोले - 'इसमे समझने को कुछ भी नहीं है, कॉमन सेस है; सिर्फ परम्परा का निर्वाह ; लीक-लीक चलना।'

ने. · कौन था वह ?

जै. · नाम की जगह मुझे तथ्य अधिक याद रहते है। मैने कहा - 'मै लीक-लीक नही चलता, परीक्षा-प्रधानी गृहस्थ हूँ'। वह चौका, बोला - 'आपने प्रतिमा की ओर पीठ दे कर उसकी अविनय की है'। 'अविनय' - मै स्तब्ध रह गया। मैने कहा - 'अविनय तो आप कर रहे

है, यह कह कर कि मैने वीतरागता को पीठ दिखायी; असल मे, मै कायर नही हूँ - और ऐसा कुछ गंभीर है भी नहीं। सुनिये श्रीमान, पहले मैंने वीतरागता को सीने पर झेला, शिरोधार्य किया, अंजलि-बद्ध किया, उसके चरणो मे मस्तक झुकाया और फिर शाबाशी पाने के लिए उसके सम्मुख पीठ कर दी। आप ही बताये, जब तक कोई वीतरागी किसी नतमस्तक भक्त की पीठ नही थपथपायेगा, उसे वीतरागता के दुर्ग मे प्रवेश कैसे मिलेगा? मैंने पीठ नही दिखायी, शाबाशी ली है।'

ने. : फिर -

जै. : फिर क्या, वह चौका और चला गया, और मै अपनी आकस्मिक/आशु तथ्य - व्याख्या पर मुस्करा पडा। ऐसा ही कुछ एक बार और हुआ।

ने. · कब, कहाँ?

जै. : एक दशक पूर्व - श्रीमहावीरजी मे। मै भक्ति-विह्वल, अजलि-बद्ध प्रभु की आराधना कर रहा था। भगवान् महावीर से भगवान् आदिनाथ तक की सपूर्ण श्रृंखला आँखो के सामने थी। चित्त पर निर्मलता आसीन थी। अचानक हाथ फैल गये। लगा तीर्थंकरत्व के पंखो पर पता नहीं कहाँ उडा जा रहा हूँ।

ने. कृपया, भावुक न हो, उदाहरण दे।

जै. . कुछ देर बाद मेरा ध्यान टूटा, और मै भगवान् के चरणो मे मस्तक नवा कर मन्दिर से बाहर आ गया। मुझे ख्याल ही नही था कि कोई व्यक्ति मेरे पीछे है, जिसने मेरी भक्ति - मुद्राओ को गौर से देखा है, और उसके मन मे कुछ सवाल उठ खडे हुए है।

ने. : कौन था वह?

जै. : याद नही पडता, था कोई स्वस्थ / साफ-सुथरा जिज्ञासु। बोला - 'जब आप प्रभु - स्मरण की प्रक्रिया मे थे तब आपकी हथेलियाँ जुडी हुई थी, और जब भावनाओ मे गहरे उतर गये तब दोनो भुजाएँ फैल गयी थी, ऐसा क्यो हुआ?

ने. : शायद मै भी यही पूछता।

जै. : मैने कहा - 'जब मैने आराधना शुरू की तब शरीर और आत्मा संयुक्त लगे, किन्तु जैसे-जैसे गहरे उतरता गया, लगा ये दोनो जुदा है। इनकी अस्मिताएँ / इनके अस्तित्व अलग है। एक जड है, एक चेतन। **भक्ति का अर्थ ही अविभक्त के दृढ़ जोड़ खोलना है। जब मैं भक्ति का सहारा ले कर भेदविज्ञान में गहरे उतर गया तो भुजाएँ स्वयमेव फैल गयी। भ्रम टूट गया कि शरीर और आत्मा एक हैं। भुजाओं का फैलना भेदविज्ञान की अनुभूति की अनजान अभिव्यक्ति है।**

ने. : बात छोटी थी -

जै. · किन्तु निष्कर्ष गहरा था। हथेलियो के जुडने और जुदा होने की घटना मे-से भी

भेदविज्ञान की गहराइयो मे उतरा जा सकता है। जो सामान्य होता है उसी मे-से असामान्य के होने का सकेत मिलता है। प्रश्न सिर्फ सही अनुभूति और समीचीन व्याख्या का है।

ने. : कबीर ने वही किया था।

जै. : उसने दिन और रात के ताने-बानो से बुने जीवन-पट को धन्य किया था।

ने. : तभी तो अपनी महीन तन-चादर को वह प्रभु से चरणो मे ज्यो-का-त्यो अर्पित कर सका था। उसने कोशिश की थी, ईमानदार प्रयास किया था।

जै. : उसने धागे-धागे मे जीवन की जीवन्त धडकने सुनी थी। उसके लिए हरेक रेशा सदेश बन गया था, इसीलिए उसने कहा है - धागा ज्यूँ टूटै त्यूँ जोरि। तूटै तूटनि होयगी, नाँ ऊँ मिलै बहोरि॥ **ग्रन्थियो में-से निर्ग्रन्थता की अनुभूति कुन्दकुन्द/कबीर की खूबी है।**

- अक्टूबर '९४ □

दान / प्रतिदान

ने. . पता नही क्यो, इन दिनो आप 'अन्तर्मुख' कुछ अधिक ही है? आपने अपने बारे मे अधिक गहराई से सोचना शुरू कर दिया है, कारण जान सकता हूँ।

जै. : अवश्य। बात यह है कि इन वर्षो मे जो तजुर्बे मुझे हुए है, वे काफी निराशाजनक है। लोगो मे स्वार्थवृत्ति बढी है। परमार्थ की ओर से वे उदासीन हुए है।

ने. : स्वार्थ और परमार्थ मे भेद करेगे।

जै. . भेद बहुत साफ है। वैसे अध्यात्म के क्षेत्र मे 'स्वार्थ' और 'परमार्थ' पर्याय शब्द है। 'स्व - अर्थ' का अर्थ सिर्फ खुदगर्ज होना ही नही है, बल्कि जो लोग आत्मोत्थान के लिए समर्पित है, वे भी 'स्व - अर्थी' है। स्वार्थी होने का मतलब अपने विकास के लिए इस तरह जीना भी है कि दूसरे को कोई क्षति न पहुँचे। यह आध्यात्मिक मायना है।

ने. · लौकिक्क मायना क्या है ?

जै. : यह कि जो, जहाँ है, सब मेरे लिए है। किसी और को वह क्यो मिले, मै ही सबकुछ क्यो न डकार लूँ? किसी के लिए कही भी, कुछ भी क्यो बचे? धन-दौलत, ज़मीन-जायदाद, शोहरत, भोग-विलास, सुख-सुविधाएँ - सब मेरे लिए - सिर्फ मेरे लिए है - फिर दुनिया मे कोई मोहताज हो, भूखा हो, नगा हो उससे मुझे क्या ? ज्यादातर लोग आज इसी वृत्ति मे जीने लगे है। वे दूसरो से झपट कर अपनी झोली भर रहे है।यहाँ स्वार्थ शोषण का प्रतीक है।

ने. : परमार्थ से आपका क्या मक्सद है ?

जै. : परमार्थ का अर्थ आत्मज्ञान है। जब व्यक्ति खुद की गहराइयो में उतरता है, तब उसकी तमाम संकीर्णताएँ कट जाती है। स्व-पर-विज्ञान के कारण वह खालिस हो पडता है। **असल में परमार्थ ही सर्वोच्च सत्य है।** इसमे दूसरो के प्रति अहित की भावना रह ही नहीं पाती, किन्तु आज जो पारमार्थिक सस्थाएँ और ट्रस्ट चलते है, वे स्वार्थिक अधिक है, परम अर्थ की छवि अब उनमे नही है।

ने. : मैदान मे आपको कैसा महसूस हुआ ?

जै. : यही कि 'एक तो सच्चे समाज-सेवी है नही , दूसरे यदि है भी तो लोग उनकी समाज-सेवा मे स्वार्थ सूँघने लगे है। **बुराई अपना प्रतिबिम्ब ढूँढ़ती है, वही आज हो रहा है।**

ने. : सुना है आप कोई दान नही लेते, इससे भी लोगो मे संदेह बनता है कि फिर आप

'शाकाहार-अभियान' चलाते कैसे है?

जै. : 'दान' की जगह मै 'सहयोग' लेता हूँ- उनसे जो मेरे मिशन की महत्ता और गभीरता को समझते है , व्यापारी हो कर भी व्यापारिक नहीं हैं , क्योकि समाज मे कई लोग ऐसे है जो 'व्यापारी' नहीं है , किन्तु 'व्यापारिक' है। ये खतरनाक लोग है। इन्होने समाज-सेवा के क्षेत्र को दूषित किया है। इन्हे पहचानना होगा।

ने. : आप 'आम आदमी' से सहयोग लेना पसंद करते है ; ऐसा क्यों है ?

जै. : सही है कि मेरे लिए आम आदमी सर्वोपरि है , किन्तु मेरा मानना है कि कोई भी 'विशिष्ट' व्यक्ति चौबीसो घटे 'विशिष्ट' नही रहता। उसके जीवन मे सामान्य होने/रहने के अनेक मौके आते है। मै 'विशिष्ट' मे 'इस सामान्य' की खोज मे सतत् बना रहता हूँ। इसमे मुझे सफलता भी मिली है।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि आप दान लेते है और कहते है कि दान नही लेते। क्या यह धोखाधडी नही है?

जै. : नहीं। **मैं दान के लिए एक स्वस्थ मानसिकता के सृजन में लगा हुआ हूँ।** दान की आज जो स्थिति है, वह अत्यन्त दयनीय है। ज्यादातर लोग 'दान' के बदले 'प्रतिदान' चाहते है। निष्काम चित्त से दान आज कौन दे रहा है?

ने. : आपने शाकाहार के प्रचार-प्रसार के लिए लोगो से 'एकासन' 'उपवास' 'प्रतिदिन एक मुट्ठी आटा' - इनकी कीमते देने के लिए कहा है, क्या यह दान नहीं है?

जै. : है, पर इनकी पृष्ठभूमि पर न तो नाम की भूख है और न कोई खुदगर्जी, त्याग की रोशनी ऐसे दान के इर्दगिर्द बिखरी हुई है। यह श्रेष्ठ स्थिति है। **दान असल में वह है, जिसकी ख़बर किसी को न हो; यहाँ तक कि दाता को स्वयं को भी न हो।** हाँ, तथापि, पात्र का ध्यान तो रखना ही होगा।

ने. : तो कहिये न कि आप दान लेते है।

जै. लेता हूँ , वर्ना 'वर्ष १९९५' को 'शाकाहार-वर्ष' के रूप मे सपन्न कैसे करूँगा? किन्तु यह दान ऐसा दान होगा जो प्रतिदान की भावना से मुक्त होगा, जिसके भीतर कल्याण की कामना धडक रही होगी, जिसमे नामवरी की भूख नहीं होगी, और जिसमे कोई अहकार नही होगा। वह जैसे फेफडो के लिए श्वासोच्छ्वास होता है, वैसा / उतना स्वाभाविक होगा। **मुझे अन्धा दान नहीं चाहिये, धन्धेबाज दान भी नहीं चाहिये; मुझे चाहिये ऐसा दान जिसमें दाता के बाहर-भीतर की आँखें पूरी खुली हों।**

ने. : इस बीच आपको कुछ कडवे अनुभव भी हुए होगे?

जै. : हुए है। कई प्रशिक्षण-शिविरो, कार्यशालाओ, व्याख्यानो आदि मे आयोजको के बर्ताव से मै कई बार सन्न रह गया हूँ। बाद को उनमे बदलाव आया, किन्तु कुल मिला कर स्थिति

सतोषजनक नही है।

ने. . क्या दान को 'गिव्ह एड टेक' से ऊपर मानना चाहिये ?

जै. : हॉ, उसमे देना है, वापस कुछ मिले ऐसी कोई भावना नही है। असल मे दान की सर्वोत्तमता इसी मे है।

ने. : आप भी तो दान ही कर रहे है।

जै. : मेरे पास धन कहाँ है?

ने. क्या दान 'धन' का ही होता है?

जै. : मै भूला, धन के अलावा भी दान की स्थिति है। दान का अपना सगीत है, उसका अपना सरगम है। वह ज्ञान, अभय, औषध से सबन्धित भी हो सकता है।

ने. : शास्त्रो मे चार प्रकार के दान बताये गये है, शायद उनके चेहरे ऐसे ही है।

जै. . मै तो एक बात जानता हूँ कि दान हो, किन्तु उसमे आदान-प्रदान की वृत्ति अनुपस्थित हो।

ने. · क्या ऐसा सभव है?

जै. : है, मनुष्य के लिए जब मोक्ष संभव है तब दान के लिए निष्काम चित्तावस्था असभव क्यो कर हो सकती है ? साधना चाहिये और मंजिल तक पहुँचने की कोशिश, ज्यादातर लोग तो सीढियो पर ही रुके रहते है।

ने. : असलियत तो यही है। नमस्कार।

जै. · नमस्कार।

-दिसम्बर '९४ □

प्रबन्धन

ने. नमस्कार। कहिये, कैसे है?

जै.. ठीक हूँ। गाडी चल रही है। कभी आहिस्ता, कभी मद्धम, कभी तेज - बहुत तेज शायद नही।

ने. क्षमा करे। गाडी रोके और मेरे कुछ सवालो का जवाब दे। कल ही की बात है। मै बैठकखाने मे था, आप फोन पर। आपके शब्द थे - "देखिये, पुस्तके तो मेरे पास है - एक सम्पन्न-समृद्ध सदर्भ-ग्रन्थालय है, किन्तु 'अनकेटेलॉग्ड' और 'अन्यो के लिए अव्यवस्थित' है और फिर मेरे पास वक्त ही कहॉ है कि मै आपके मतलब की किताबे निकालूँ, आपको दूँ, उन पर आपसे विचार-विमर्श करूँ? आप 'रिसर्च' (अनुसधान) कर रही है यह खुशी की बात है, किन्तु मै आपकी मदद नही कर पाऊँगा। मेरी इस साफगोई पर अप्रसन्न न हो, बल्कि मेरी विवशता को समझे और मुझे क्षमा करे।" आप नही सोचते कि यह दूसरो के साथ ज्यादती है। आपको शायद ऐसा सब नही ही कहना था। यदि थोडा समय दिया होता तो सभव है किसी बडे काम के लिए नया रास्ता खुल जाता।

जै.· यह ज्यादती नहीं है, हकीकत है। मेरी सीमा है। मै अधिक कुछ कर नही सकता। मेरी लायब्रेरी के कई हिस्से है। 'संदर्भ' और 'चित्र-सकलन' महत्त्वपूर्ण भाग है। मेरे लिए संपूर्ण लायब्रेरी व्यवस्थित है। मेरी अँगुलियो मे आँखे है - और एक बात और कि मेरी 'आँखो मे भी ऑखे' है।

ने. वह कैसे ?

जै. मेरी अँगुलियाँ इच्छित पुस्तके तुरन्त निकाल लेती है। ऑखे मोटाई, रंग, टेस्श्चर, किताब-का-कद आदि देख कर अँगुलियो को ठीक से हुक्म देती है और जो / जैसा मुझे चाहिये वह/वैसा मेरे सामने होता है। मेरा काम, इस तरह, चल निकलता है। 'सदर्भ' अलबत्तह किंचित् व्यवस्थित है। शीर्षक-युक्त क्रमाकित फाइले है, जिन्हे लेखन-सदर्भ के लिए यथाक्षण प्राप्त किया जा सकता है।

ने.. और चित्र?

जै. उनकी मत पूछिये। कई लिफाफे, कई ढेर है - जो जगह-जगह पडे है, जिन्हे जरूरत पड़ने पर बार-बार फेटना होता है। अव्यवस्था के कारण वक्त तो जाया होता ही है, किन्तु विवश हूँ, तुरन्त समय निकाल पाना मुश्किल है।

ने. . किसी और से यह काम करा लीजिये।

जै. : कोई और क्या करेगा? मै नही जानता, अन्तत उसका मार्ग-दर्शन तो मुझे ही करना होगा। वैसा करने के लिए भी वक्त चाहिये। मेरी सुबहे ठसाठस भरी होती है। १२.४५ (कभी - कभी १.००) तक मै टाइपराइटर छोड नही पाता हूँ। कभी लेख, कभी पत्र, कभी कुछ, कभी कुछ। मेरा एक-एक लम्हा सगर्भ होता है। उसमे-से कुछ -न-कुछ तो जन्म लेता ही है। अब आप ही कहे कि जब 'किसी और ' से कोई बात ही नही कर पाऊँगा, तब यह भला काम क्या कर पायेगा ?

ने. : शायद, कुल मिला कर स्थिति दयनीय और नियन्त्रण से बाहर है।

जै. : सच पूछिये तो मै खुद यही सब करना चाहता था ; किन्तु कर नही पाया। दो लक्ष्य सामने है - **एक, जैनों को जैन धर्म / दर्शन की वैज्ञानिकता की ओर लाओ; दो, शाकाहार की मशाल ले कर अविराम चलो।** ऐसा करते हुए परिजनो की उपेक्षा भी हुई है, दोस्तियों / आत्मीय सबन्धो पर भी असर पडा है। लोग क्षुब्ध हुए है। उनकी नाराजी झेलना अब कठिन हुआ है। आप ही बताये, यदि कोई उपाय हो, तो वह करूँ।

ने. : उपाय क्या है? 'समुचित प्रबन्धन' और 'वक्त के असंयोजन' की कमी है। आप जो काम जिस क्षण करना चाहते है, नही करते। जैसे ही सबन्धित क्षण चूकते है, नयी जिम्मेदारियाँ आ खडी होती है - उन्हे खुद पर पा कर आप थक पड़ते है। स्वय को कोसते है, ऐसे मे, और तन-मन दोनो पर अत्याचार करने लगते है। मेरी राय मे **'काम कम कीजिये, समय पर कीजिये, और व्यवस्थित कीजिये'।**

जै. : 'व्यवस्थित कीजिये' जुम्ला उचित है, किन्तु 'काम कम करूँ' यह असभव है। व्यवस्थित और प्रबन्धित होने के लिए रोज सुबह कसमे खाता हूँ, किन्तु शाम होते-होते अधिक अव्यवस्थित और अप्रबन्धित हो पडता हूँ। डाक ही ठीक से नही देख पाता हूँ। चिट्ठियाँ, निमन्त्रण, कैस्सेट्स (दृश्य/श्रव्य) तमाम अनुत्तरित/अनदेखे पडे रहते है। मै उन्हे देखता रहता हूँ, और वे मुझे - पर कोई समाधान सामने नही होता है। हाँ, पहले मेरा नियम था कि 'इधर चिट्ठी, उधर जवाब' पर अब वैसा नही होता। डाक-विभाग की भाँति ही अव्यवस्थित हो गया हूँ। कोई चारा नही है।

ने. . आप कहते है। आपके पास वक्त नही है', पर यह सफेद झूठ है। वक्त तो है, पर उसका सतुलित / तर्कसंगत प्रबन्धन आप नही कर पा रहे है। क्या मेरी यह टिप्पणी ठीक नहीं है?

जै. : ठीक है। मैं अपनी गलती माने लेता हूँ, किन्तु यह भी तो मानिये कि अब मेरा शरीर उतना साथ नही दे पा रहा है, जितना पहले देता था। अब उसे उत्तरोत्तर अधिक आराम की ज़रूरत पडने लगी है। इस तरह भी तो वक्त कम पड़ता गया है और काम का परिमाण लगातार बढ़ता गया है। उसकी तीव्रता भी बढी है, इसलिए 'वक्त मेरे पास नही है' इस जुम्ले को कृपया ठीक से समझने की कोशिश करे। इसे कोई बहाना या किसी काम को टालना न कहे, बल्कि माने कि जो काम मेरे

हाथ मे है उसे मै अधिक ईमानदारी और परिपूर्णता से करना चाहता हूँ।

ने. : कुछ मित्र और परिजन है, जो आपकी इस लाचारी को समझते होंगे?

जै. : है, पर उनकी संख्या नगण्य है। अक्सर लोग इसे 'मिसइंटरप्रीट' करते है ; हाँ, मै बावजूद इस जुल्म के अपना काम लगातार किये जाता हूँ। ऋतुओ का असर भी काम पर पडता है।

ने. : मेरी राय मे आप तो अपना काम किये जाइये, रुकिये मत। किसी-न-किसी दिन आपकी बात लोग समझ जाएँगे।

जै. : मै निराश नही हूँ। काफी आशान्वित हूँ। निराशाओ को तो मै अपने इर्द-गिर्द फटकने ही नही देता, इसीलिए वे अक्सर निराश हो कर लौट पडती है।

ने. : नमस्कार।

जै. : नमस्कार।

- जनवरी '९५ □

विश्राम/यात्राएँ

ने. : नमस्कार। सुबह का सलाम। सूरज की प्रथम रश्मि के साथ आपका स्वागत।

जै. : नमस्कार। लगता है आज कुछ जल्दी ही आ पहुँचे है।

ने. : क्या करता ? कुछ ऐसे प्रश्न पूरी रात करवटे बदलते रहे कि भोर का इतज़ार करता रहा। चाय ली और चला आया। सुनिये, इधर मै देख रहा हूँ कि आप यात्राएँ कुछ अधिक करने लगे है और लौट कर अस्वस्थ और बीमार हो पडते है। क्या यह क्रम ठीक है? क्या आप अपनी चर्या मे कोई परिवर्तन लाना पसद नही करेगे?

ने. : पसंदगी या नापसदगी का सवाल शायद उतना नही है, संभवत जितनी लाचारी है - काम करने की, बलन्दी से काम करने की, पुरुषार्थ के लिए कटिबद्ध होने की - किन्तु इधर शरीर ने साथ देना करीब-करीब बन्द कर दिया है। लगता है पिछले दिनो उस पर जुल्म कुछ अधिक ही हो गये है।

ने. : तो फिर कुछ दिनों विश्राम कीजिये न, उसमे भला कौन-सी अडचन है?

जै. · विश्राम, उसे तो मै अभी ठीक से परिभाषित ही नही कर पाया हूँ। शायद नही जानता कि विश्राम क्या है? उसका स्वरूप, उसकी फितरत, उसका नाकोनक्श क्या है? काम करते रहने मे जो कुछ मिलता है, उसे ही अब तक विश्राम मानता रहा हूँ। श्रम ही मेरे लिए विश्राम है। 'काम किये जाओ, कामयाबी मिलेगी' - इस मन्त्र को ले कर पुरश्चर हूँ, आगे बढ़ रहा हूँ। भला, जड / निष्प्राण पडे रहना आराम है? क्या बिस्तर पर लेटा रहूँ, या यूँ ही सर्वथा रिक्त या अतिरिक्त हो जाऊँ? माना, खाली हो जाने मे भी सुख है। उसका भी एक सपूर्ण शास्त्र-शिल्प बन गया है, किन्तु क्या 'खाली होना' इतना आसान है?

ने. : मैंने कहा न जैनजी कि आप विषय-वस्तु को अनावश्यक रूप से 'फिलॉस्फाइज' कर बैठते है, कृपया चर्चा का दर्शनीकरण मत कीजिये। जो कहे, सीधा, साफ कहे।

जै. : अरे भाई, कुछ तो गहरे उतरने दीजिये। क्या हरहमेश सतह पर रहना उचित है?

ने. : हॉ, तो बताइये कि आप इतनी यात्राएँ क्यो करते है? क्या मिलता है उनमे-से आपको?

जै. : यात्राएँ मेरे लिए सदा से स्वाध्याय रही है। अपने समाज, अपनी सस्कृति को जगह - जगह पढे बगैर उसमे-से कुछ भी कैसे जाना जा सकेगा? मै तरह-तरह के लोगो से मिलता हूँ,

उनके आर-पार देखता हूँ, उनमे तन, मन, धन की किस्म-किस्म की छबियाँ देखता हूँ। कई बार उन्हे - घटनाओ को - अपना दर्पण बनाता हूँ। कुछ खुश होते है, कुछ नाखुश, ज्यादातर लोग अप्रसन्न ही होते है, क्योंकि मै ठकुरसुहाती कहने से चूक जाता हूँ। असल मे, यात्राएँ परख होती है 'आने वाले कल' की। मुझे 'आज' मे-से 'आने वाले कल' की पदचाप सुनने मे आनन्द कुछ अधिक ही आता है। 'आज' मे-से जन्म लेता 'आने वाला आज' - कितना रोमांचक होता है यह जन्मोत्सव।

ने. : देख रहा हूँ कि यात्राओ मे आप भीतर से समृद्ध और बाहर से वृद्ध होते जाते है।

जै. : 'वृद्ध' - इस शब्द से मे परिचित नही हूँ, किन्तु अस्लियत यह है कि मै बाहर से वृद्ध हो पडता हूँ यह आरोप ठीक नहीं है। चेतना को चुभता है।

ने. नाराज न हो, समझे; मेरा आशय है कि आप बीमार होते है, रोज के काम रुक जाते है, स्वस्थ होते ही आप फिर मोर्चे पर आ जाते है, चिठ्ठियाँ पडी रह जाती है, कक्ष की सफाई नही हो पाती, घर के लोग नाखुश रहते है, छटनी के लिए ढेर टुकुर-पुकर देखते रह जाते है, उन पर गर्द मुस्कराने लगती है और फिर कोई प्रवास 'प्लान' हो पडता है।

जै. : बात यह है भाई कि मै एक जिन्दगी मे कई ज़िन्दगियाँ जी लेना चाहता हूँ। यात्राएँ मुझे विकसित करती है, मेरे चिन्तन को नया आयाम देती है, व्यक्ति के वैविध्य में गोताखोरी का आनन्द देती है।

ने. : पर यह भी कोई बात हुई कि कही १०, कही १२, कही ०२, कही ०४ घंटे रुक / ठहर कर आप आगे बढ लेते है।

जै. . देखिये, जानने या भाँपने (सेन्सिग) का अपना शांस्त्र-शिल्प है। जो तथ्य या बात एक घंटे मे पकड मे आ जाती हो उस पर ३-४, १०-२० दिन या घंटे देना शायद बुद्धिमत्ता नही है। मुझे लोगो को समझने मे देर नही लगती। मेरे लिए वे काफी पारदर्शी (ट्रासपेरेट) होते है - अत निकल पडता हूँ आगे। मै नदी-नाले, पर्वत-पहाड, वन-उपवन, मन्दिर-मूरत देखने नही जाता, अपितु यात्राएँ करता हूँ सबन्धितो को जानने-पहचानने के लिए। **खुद को खोज़ने में भी यात्राएँ बड़ी मददगार सिद्ध होती हैं।**

ने. : तो आप अपनी आदत से बाज नही आयेगे?

जै. : आदत, कौन-सी आदत, कैसी आदत? अरे भाई, यात्राएँ मेरे लिए आदत नही इबादत है। आज जो भी मै हूँ, और आज जो मेरे लेखन मे है वह यात्राओ की बदौलत ही है। यात्राओ मे-से जो दौलत मुझे मिलती है, मिली है, मिलेगी, वह / उतनी तो कुबेर के खज़ाने मे भी नही है।

ने. : पर अपनी सेहत का खयाल तो कृपया रखिये।

जै. . वह दायित्व मित्रो का भी तो है कि वे मुझे स्वस्थ (फिट) रखे।

ने. · कैसे?

जै. . जैसा मेरे अनुकूल हो वैसा खिलाये, जैसा अनुकूल हो वैसा रखे, अधिक आग्रह या अपेक्षा न रखे, ज्यादा श्रम न कराये, योजनाबद्ध चले, अपने कार्यक्रमो को समयबद्ध रखे, इत्यादि।

ने. · मै नही सोचता कि आपका यात्रा-शास्त्र यही विराम लेगा - इस पर अभी और-और प्रकाश डालिये। फिलहाल, सलाम, आपको, आपकी व्यस्तताओ को।

जै. : नमस्कार।

- फरवरी '९५ □

९

अभिषेक (१)

ने. · नमस्कार।

जै. · नमस्कार।

ने. · आज कुछ हडबडी मे हूँ। सारे काम आधे-अधूरे है, किन्तु आपसे मिलना जरूरी था, अत कुछ क्षणो के लिए चला आया हूँ। आइये, आज हम एक नया विषय ही लेते है - 'अभिषेक'। 'अभिषेक' क्या है, क्यो जरूरी है, क्या इसके बगैर काम नहीं चल सकता ?

जै. : 'अभिषेक' का शब्दार्थ है 'जलाभिसिचन'। जब हम किसी प्रतिमा के शिरोभाग पर जल या अन्य कोई द्रव भक्ति-भावपूर्वक छोडते है और उत्सव मनाते है, तब इस क्रिया को 'अभिषेक' कहते है। बडे पैमाने पर यदि यह सपन्न होता है तो हम इसे 'महाभिषेक' का नाम देते है। मस्तकाभिषेक मे 'मस्तक' शब्द यदि न भी होता तो भी अर्थ वही निकलता, क्योकि अभिषेक-धार मस्तक से ही शुरू होती है। यह एक मगल अनुष्ठान है, जो किसी प्रतिमा को शुद्ध, पवित्र बनाये रखने से सबन्धित है। वैसे राज्याभिषेक जैसे शब्द भी प्रचलित है , किन्तु हम यहाँ इस शब्द पर विचार नहीं कर रहे है। हमारा संदर्भ, इस क्षण, धार्मिक / सांस्कृतिक है।

ने. · होता यह प्राय सभी मूर्तिपूजक सप्रदायो मे है।

जै. : हाँ, मन्दिरो मे तो एक तरह से दैनदिन होता है। इसके लिए प्रक्षाल या प्रक्षालन शब्द भी प्रयुक्त है।

ने. · तय है कि बड़ी प्रतिमाओ पर प्रतिदिन जलाभिपेक सभव नही है। उनके लिए तो वर्ष मे या अनेक वर्षों मे कोई एक खास दिन चुन लेना होता है।

जै. · वैसे प्रकृति की अपनी व्यवस्था भी है। वह खुले गगन मे खडी प्रतिमाओ का चार महीने दिन मे कई बार/कभी अहर्निश अभिषेक करती है।

ने. · जब ऐसा है तो आदमी न भी करे तो चल सकता है - प्रकृति का प्रबन्ध सदैव सर्वोत्तम रहता है।

जै. : मै तो यही मानता रहा हूँ , किन्तु सास्कृतिक / सामाजिक समारोहो का अपना स्वतत्र महत्त्व है। लोग लीक-से-हट- कर परस्पर मिलते है, एक निराला/आला जीवन व्यतीत करते है, सवन्धित महापुरुष का गुणानुवाद करते है, और भीतर की निर्मलता से धन्य/कृतकृत्य होते है। असल मे, अभिषेक बाहर जितना हो उससे काफी अधिक भीतर उसे होना चाहिये। अन्तर्मुख

मस्तकाभिषेक ही असली अभिषेक है। 'मस्तकाभिषेक' की जगह 'मस्तिष्काभिषेक' या 'चित्ताभिषेक' होना चाहिये। जब तक अभिषेक की पवित्र धारा चित्त -के-मस्तक से शुरू हो कर चेतना के चरण-तल तक नहीं आती, अभिषेक का कोई अर्थ नही है। अभिषेक करते जाइये और भीतर-भीतर गुणानुवाद-की-टाँकी से अपने अंदर एक ऐसी ही प्रतिमा टाँकते जाइये, बनाते जाइये - तो इसका कोई मतलब है अन्यथा भागमभाग और धन-बटोरने के अलावा और कुछ नही है।

ने. . आप ऐसे अवसरो पर कितनी बार गये है?

जै. . चार बार।

ने. कहॉ-कहॉ, कब-कब?

जै. . तीन बार श्रवणवेलगोला, एक बार धर्मस्थल। धर्मस्थल से तो फरवरी मे ही लौटा हूँ।

ने. . क्या अभिषेक का महापुण्यार्जन आप कर सके?

जै. . अभिषेक तो कर सकता हूँ , किन्तु अभिषेक की विशिष्ट भाषा (बोली) नही बोल सकता। जो 'बोली-की-बोली' जानते है और उसके खास मायने करते है, वे अभिषेक करते है, और असल मे, आज जलाभिषेक की जगह अर्थाभिषेक होता है। कोई अक्षर-पुरुष पहला कलश करे, यह संभव ही नहीं है, अंक-पुरुष ही कलश करते है। जब 'अंक' अभिषेक करते-करते 'रंक' हो पड़ता है, तब 'अक्षर' की बारी आती है। अक्षर तो अक्षर है, उसका क्षरण कभी संभव नहीं है। विचार कभी मरता नहीं है। अंक एक बार रंक हो सकता है, किन्तु अक्षर कभी क्षर नही होता। उसका अस्तित्व क्षेत्रकालातीत होता है।

ने. · तो आप अभिषेक के क्षण अक्सर टालते है।

जै. · टालता नही रहा हूँ, टलते गये है वे। समाज की स्थिति ही ऐसी है। मूल्यो का इस कदर क्षरण हुआ है कि अब उन्हे बचा पाना मुश्किल हुआ है। ऐसे मौको पर पैसे को परमेश्वर मानो तो बात बने, वह मै कर नही पाता हूँ , अत हर बार खास दिन पर वहॉ नही रहता, चल पडता हूँ।

ने. क्या यह उचित है?

जै. · उचित ही है, क्योकि कोई नही कहता कि आपको अभिषेक करना है। करना है तो 'क्यू' मे आइये। मै जब बगैर 'क्यू' में लगे अहर्निश अभिषेक कर सकता हूँ, अभिषिक्त हो सकता हूँ, तब अनावश्यक याचना क्यों करूँ? याचना ही यदि करनी है तो मूर्तिमन्त विभूति से अकेले मे कर लूँगा। तब किसी दलाल की ज़रूरत शायद नही होगी। अध्यात्म मे दलाली बंद होनी चाहिये। ऐसा करने से मूलधन भी खुटने लगता है, इसलिए मैंने तय किया है कि अक्षर को तिरस्कार से बचाऊँ। उसके गौरव को खण्डित न होने दूँ।

- मार्च '९५ □

१०

अभिषेक (२)

ने. · प्रणाम।

जै. जनाब, आज इस आदरसूचक / आरम्भक सबोधन मे अकस्मात् परिवर्तन कैसा? स्वास्थ्य तो ठीक है न? क्या 'नमस्कार' शब्द नाकाफी था?

ने. · क्या आप ताजगी और तेजी के लिए बदलाव को जरूरी नही मानते?

जै. : मानता हूँ, किन्तु क्या 'प्रणाम' / 'नमस्कार' जैसे परिवर्तनो से कोई बात बन पायेगी?

ने. . जरूर, 'प्रणाम' शब्द मामूली नही है। वह हर किसी के लिए नहीं। उसकी अपनी स्थिति है । जब किसी नाम को प्रकर्ष मिलता है, ऊँचाई मिलती है, तब उसे 'नाम' की जगह 'प्रणाम' मिलता है। वह दुर्लभ सबोधन है।

जै. यदि ऐसा है तो श्रीमान् आप मुझे 'नमस्कार' ही किया कीजिये ताकि 'प्रणाम' के बोझ से बचा रह सकूँ।

ने. . खैर, छोडिये और मुझे बातचीत की डोर के उस सिरे को पकडने दीजिये जिस पर ठहर कर आपने कहा था कि 'अध्यात्म मे दलाली बद होनी चाहिये , इसलिए मैंने तय किया है कि अक्षर को अपमान से बचाऊँ, उसके गौरव को अखण्डित रहने दूँ'। लगता है यह आपका अहकार है।

जै. · छि , वैसा मत कहिये। मै वैसा नही मानता। मेरे लिए 'अभिषेक' का अर्थ बहुत गहरा और विस्तृत है। वह औपचारिक नही है, आत्मीय और आध्यात्मिक है। उसे उसकी सपूर्णता मे समझने की जरूरत है । जब किसी उज्ज्वलता पर गर्द जमने लगे तब उसे बुहारना/फटकना चाहिये, मै वही करना चाहूँगा - करता रहूँगा।

ने. अर्थात् जब हम अभिषेक करते है तब हमारा ध्यान सिर्फ बाह्य स्वच्छता पर ही नही होता बल्कि क्रमश हम अपने भीतर भी उतरते है। विज्ञान की शब्दावली मे हम अपने भीतर समुपस्थित भावनात्मक अम्ल/क्षार के मध्य सतुलन बनाये रखने के लिए यदि आत्मनिरीक्षण नही करते तो अभिषेक का कोई अर्थ नही है।

जै. अभिषेक तो प्राय जल से होता है, वही श्रेष्ठ भी है, सहज-स्वाभाविक भी है, फिर अन्य पदार्थों की ज़रूरत क्यो / कैसी /किसलिए?

ने. मेरे हिसाब से तो वैसे जल की जरूरत भी शायद नही है। आज भी ऐसे अनेक खण्डहर

है जहाँ के भयावह सन्नाटे मे कई मूर्तियाँ निर्जल (निरभिषिक्त) खड़ी है - तथापि वे जीवन को ताजगी प्रदान करने मे संपूर्णत· समर्थ है। आखिर चार मास - बीच-बीच मे मावठो मे भी - प्रकृति उनका लगातार अभिषेक करती है, हाँ, 'कैद प्रतिमाओ' की बात बिल्कुल अलग है। वैसे मुनिवर्ग भी स्नान कहाँ करता है?

ने. : ये 'क़ैद प्रतिमाएँ' क्या है?

जै. : कमाल है, आप इतना भी नही जानते? इन दिनो चोरी-के-डर-से वीतरागता को भी सीखचो/तालो मे बद रखना पड़ता है, वह, असल मे मन्दिर / देरासरो / देवस्थलों मे निरन्तर बढते परिग्रह के बीच घबराहट मे है - मुक्त होना चाहती है। भला, वीतरागता, जो खुद मुक्ति की स्पष्ट राह है, उसे कारावास मे डालने से कोई मुक्ति पा सकता है? और फिर यह हमारा मात्र भ्रम है कि हम वीतरागता को कारावास मे डाल सकते है, उसकी प्रकृति कारावास-क्षम है ही नही। **वस्तुतः वीतरागता के नाम पर हम भौतिक संपदाओं को ही कारावास में डालते हैं। हम होते कुछ हैं, करते कुछ हैं। हमारी इस दुई का जैनाचार से कोई मेल नहीं है।**

ने. : लोग दूध से भी अभिषेक करते है। जल आज कुए से कहाँ मिल पा रहा है, इसलिए लोग 'क्लोरिन-शुद्ध जल' या 'नलकूप-नसीब जल' से अभिषेक करते है।

जै. : देखिये, जो मिले हमे उसी मे सब्र करना होगा। या तो अनर्थदण्डव्रत का पालन कीजिये या फिर संपूर्ण कुआ, तालाब या टैक प्रतिमा पर उँडेल दीजिये - जैनधर्म जिस पक्ष मे हो उस पक्ष मे खडे हो जाइये।

ने. : जैनधर्म तो निर्मलता - भीतर की, बाहर की - के पक्ष मे है, वह सभवत जलाभाव मे भी मुमकिन है। दूध या उसके किसी भी उपोत्पाद से अभिषेक नही किया जाना चाहिये।

जै. . दूध पशु-उत्पाद है। आज जो दूध आ रहा है, वह बछडो/केडो के साथ क्रूरता और जुल्म के बगैर नही आ रहा है, अत करुणा-का-अभिषेक हम क्रूरता से करे यह सर्वथा असगत है, क्रूरता-का-अभिषेक करुणा से हो तब तक तो ठीक है, अन्यथा वह गलत और बेमेल तो है ही।

ने. : क्या हम अभिषेक/पंचकल्याणक आदि को 'अभिनय-त्तत्व' से बचा सकते है?

जै. : क्यो नही ? अभिनय प्राय वे लोग करते है, जिन्हे 'नय' का ज्ञान ही नही है। **जिनका ध्यान धन पर है, ध्येय पर नहीं है - वे नाटक करते है। वस्तुतः बाहर जो अभिषेक है, वह व्यवहार है; किन्तु यह अभिषेक सिर्फ अभिव्यक्ति है (या हो) उस पारमार्थिक घटना की जो अभिषेककर्ता के भीतर घटित है (या होती है)।** जो व्यवहार मे-से निश्चय की दिशा मे आता है, उसे ही निर्मलीकरण का बहुमूल्य उपहार मिलता है, और निर्मलता से बड़ी कोई निधि इस जगत् मे है नही। ध्यान रहे : **अभिषेक संपूर्ण मोक्षशास्त्र है। वह भेदविज्ञान का दैनंदिन अक्षर-पाठ है। वह मन को नय के नयन प्रदान करता है। जिसके पास व्यवहार और निश्चय नयों का क्रमवर्ती ज्ञान है, अभिषेक के मर्म को वही जानता है।** वस्तुत अभिषेक

कोई सामान्य अनुष्ठान नही है, बल्कि जीवन को खालिस द्रव्य की ओर ले जाने वाली एक अद्वितीय प्रक्रिया है।

ने. : यानी आप चाहते है कि हम अपनी दैनदिन चर्या को सर्वोत्तम जैनाचार की एक तर्कसंगत पृष्ठभूमि प्रदान करे, उसे अनुकरण और खोखलेपन से बचाये।

जै. : जी।

ने. क्या आगे कभी इसी तर्ज पर जैनो की पूजा-परम्परा पर प्रकाश डालेगे?

जै. अवश्य, अगली बैठक मे कभी।

ने. : नमस्कार।

जै. प्रणाम।

- अप्रैल '९५ □

पूजा (१)

ने. : प्रणाम।

जै. · नमस्कार।

ने. · पिछली बार आपने जैनो की पूजा-परम्परा पर प्रकाश डालने की बात कही थी, क्या इसकी शुरूआत करना चाहेगे?

जै. · देखिये, पूजा मे रोज करता हूँ, पूजा मैंने सिर्फ एक बार की, पूजा कही भी, कभी भी संभव है। जगल मे, ट्रेन मे, बस मे, उठते, बैठते, सोते, जागते - सर्वत्र, सदैव। ऐसा करने मे कही कोई विघ्न नही है। पूजा जो प्रकट है वह, और जो अप्रकट है वह - दोनो को आमने-सामने करने की जरूरत है। जो पूजा अप्रकट है, किन्तु जो रोम-रोम मे भिद कर अध्यात्म के झरने खोल रही है, और जो पूजा प्रकट है वह मन्दिरो, शोरगुलो, उत्सवो, तामझाम-भरी शोभा-यात्राओ आदि मे साँस तोड़ रही है। एक हरा-भरा खेत है, दूसरी उजाड बियावाँ। आप किस पूजा की बात कर रहे है?

ने. . उसकी जो मनुष्य को उत्तरोत्तर ऊँचा उठाती है, उसके आध्यात्मिक क़द मे वृद्धि करती है, उसे जीव-मात्र की कल्याण-कामना से जोडती है।

जै. : तब तो आपको निराश होना पडेगा, उसका, वैसी गुणवत्ता का तो अब नामोनिशाँ नही रहा है। न वे लोग है, न वह नजर, अब तो नयी-नयी मूर्तियाँ बनाने, इमारते घडने और तीर्थों पर पाँच सितारा होटले खडी करने या 'रिसोर्ट्स' बनाने मे लोगो की दिलचस्पी है। **वे पूजा के लिए सुभीते चाहते हैं।** पूजा में-से साधन और तप, स्वाध्याय और विचारोत्तेजन अब समाप्त हो चुके है। यह बदक़िस्मती है।

ने. : जो हो आप यह बताये कि हम करे क्या?

जै. : करे क्या? बहुत साफ है, अपनी परम्परा का पुनरवलोकन करे। उस 'समवसरण' का खयाल करे, जिसमे जीव-मात्र को 'सम + अवसरण' - समान अवसर प्राप्त होता था। सब अनुशासन-के-सूत्र मे बँधे किसी परम सूत्रधार की 'दिव्यध्वनि' का अमृतपान करते थे। वह पूजा थी। **पूजा में द्रव्य (धन + सामग्री) का उतना अधिक महत्त्व नहीं है जितना 'द्रव्यार्थिक दृष्टि' का है। आज हम उसे 'मिस' कर रहे हैं; शेष जो रद्दी-की-टोकरी में जाना चाहिये उसे हम महत्त्व प्रदान कर रहे हैं।**

ने. . लेकिन आप तो इस तरह पूजा को व्यक्तिगत करार दे रहे है , इन दिनो 'व्यक्तिगत' कुछ नही है, सब कुछ 'सामूहिक कोलाहल' मे खो गया है।

जै. · पूजा व्यक्ति मे घटित होती है, उसका सामूहिक प्रदर्शन से सीधा सरोकार नही है। हम पूजा के उस दिव्य अर्थ से उदासीन हुए है, जो व्यक्ति को निर्विकार बनाता है। **पूजा निर्ग्रन्थ स्वाध्याय है अर्थात् वह एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्वाध्याय में-से ग्रन्थ को मायनस (घटा) कर आगे बढ़ती है** । इसमे प्रतिमा स्वयमेव ग्रन्थ बन पडती है और वीतरागता के तमाम स्रोत पूजक (साधक) का भीतर खोल देती है। अब इस अन्तर्मुखता की ओर किसी की नजर नही है?

ने. · तो क्या पचकल्याण / बिम्ब-प्रतिष्ठा आदि अब प्रासगिक नही रहे हैं ?

जै. : आज ये सारे अप्रासंगिक इसलिए हुए है कि हमने इनके साथ संगीत-समारोह, कवि-सम्मेलन, सस्थाओ-के-अधिवेशन, लडाई-झगड़े आदि जोड दिये है, भला, अध्यात्म को गौण कर देने से प्रतिष्ठोत्सवो की इज्जत बढ सकती है? अब ये सारे आयोजन आयोजको - प्रतिष्ठाचार्यों के पेट-भरौवल जरिये बन गये है। पचकल्याण 'अभिनय' - भद्दे/ कला-शून्य-मात्र रहे गये है। इन्हे संस्कारोन्मुख करने की जरूरत है।

ने. : और गजरथ?

जै. : गजरथों का धर्म / अध्यात्म के ढाँचे से कोई सरोकार नही है, ये अपव्यय है। इनसे गज-भर तो क्या रेशे-भर भी आगे नही बढा जा सकता। ये तमाशो से अधिक कुछ नही है। इनमे पूजा-जैसी पवित्र अन्तर्मुख क्रिया के लिए रत्ती-भर भी गुजाइश नही है।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि हमे उन बुनियादी तत्त्वो पर विचार करना चाहिये जो समाज-की-सरचना के मूल घटक है।

जै. एक्झेक्टली , सही है।

ने. · समाज-की-सरचना मे किस मूल्य की प्रमुख भूमिका हो सकती है?

जै. · कथनी-करनी के बीच जो खाई बन गयी है, उसे पाटने की।

ने. . 'कथनी-करनी' - क्या इनकी चर्चा के लिए आज कोई वातावरण है?

जै. नही है तो बनाना होगा। मूल तो यही है, यह नही तो मान कर चलिये कि कुछ नही।

ने. · यानी आप चाहते है कि आज समाज का हर आदमी जो कहे, उसे अपने जीवन मे प्रकट हुआ देखे, या जो जीवन मे है उसे ही जीभ-की-नोक पर लाये।

जै. : हाँ।

ने. : यह मुश्किल ही नही, असभव है। **इस मामले मे तो आज साधु तक स्खलित है।**

जै. : तो इसमे निराशा कैसी? हमे एक शान्त / मौन क्रान्ति घटित करनी होगी। शब्द और अर्थ को सन्धिस्थ करना होगा। **जीभ और जीवन को समन्वित करना होगा।** निर्मलीकरण की एक अभूतपूर्व प्रक्रिया को जन्म देना होगा।

ने. : किस तरह?

जै. : हमे एक व्यापक समीक्षा करनी होगी स्वय की, और आज के नेतृत्व की। देखना होगा कि दिव्यध्वनि का जीवन्त अर्थ क्या है? दिव्यध्वनि तीर्थंकरो की हुआ करती थी। उसकी दिव्यता का मूल कथनी-करनी की एकता मे था। उन्होंने जिसे जीवन मे जिया, उसे ही वाणी दी; यही कारण है कि उनकी वाणी को 'दिव्य' जैसे विशेषण से विभूषित किया गया। तमाम जिन-बिम्ब इस एकता के सर्वोत्तम प्रतीक है। हम जिसे पूजा कहते है, वह दिव्यध्वनि को आकृति देने की प्रक्रिया है। आगम और कुछ नहीं है, तीर्थंकरो के आत्मानुभवो की वर्णाकृतियाँ है। उनमे स्वानुभव / स्वरूपाचरण को शब्द दिये गये है। आज पूजा मे हमारा ध्यान उस ओर कहाँ है?

ने. : देखिये, आपने फिर समाज के पुनर्निर्माण की बात करते-करते कुछ गभीर सकेत कर दिये है। इससे कुछ लोग नाखुश / अप्रसन्न होगे - आपको भला-बुरा कहेगे।

जै. : तो क्या चिन्तन के क्षेत्र मे भयभीत हो कर चलना चाहिये। क्या तीर्थंकर भयभीत हो कर सोचते थे? सुनिये, जो 'स्वाधीनता' और 'स्वाभाविकता' की खोज मे सिर-से-पैर तक निमग्न हो उसे किसी किस्म के डर से अपना काम नही रोकना चाहिये। जैनधर्म पराधीनता से मोक्ष का धर्म है। **पूजा यदि पराधीन है तो वह कारगर नहीं है। यदि वह द्रव्य, मन्दिर, पुजारी, प्रतिमा के अधीन है तो उसके जरिये स्वाधीनता को पाना कठिन है।** हाँ, पूजा के साथ सौन्दर्य और कलात्मकता को जोडना अलग बात है, किन्तु ऐसा करते हुए हमे फूहडपन से बचना होगा। कलात्मक हम हों, किन्तु आध्यात्मिक क्षति की कीमत पर नही।

ने. : संगीत और काव्य जैसे मूल्य यदि पूजा से जुडते है तो उनसे तो पूजा को एक विशेष गौरव और अभ्युत्थान ही मिलेगा। माना, ये बहिर्मुख है तथापि इनमे अन्तर्मुखता को उद्दीप्त करने की अद्भुत शक्ति है।

जै. : मुझे पूजा मे इनके होने मे कोई आपत्ति नही है; कठिनाई सिर्फ यह है कि हम अक्सर बोतल या फ्रेम को पकड बैठते है और 'कटेट' या 'चित्र' को भूल जाते है। सगीत और काव्य साधन तो हो सकते है; किन्तु साध्य नही। पूजा भी साधन है, साध्य नही है। भूल अक्सर यहीं होती है। हम साधन को साध्य मान कर जो भूल इन दिनों कर रहे है, उससे सामाजिक स्वास्थ्य डगमगा गया है। वस्तुत आज वह महत्त्व का क्षण हमारे सामने आ खड़ा हुआ है, जब हमे साध्य और साधन की तकनीक पर गभीरता से विचार करना चाहिये। इन दोनो का निष्कलक और परम पुनीत होना बेहद जरूरी है।

ने. · क्या समाज के पुनर्गठन मे पूजा की कोई भूमिका हो सकती है?

जै. · क्यो नही?

ने. कैसे?

जै. : पूजा को यदि व्यक्ति-शुद्धि की दिशा मे प्रवृत्त किया जाए तो निश्चय ही समाज का भावनात्मक कायाकल्प हो सकता है। आज यह जरूरी है। विषय किंचित् गभीर है, अत हम इस पर अगली किस्त मे विचार करेगे। नमस्कार।

ने. : नमस्कार ।

- मई-जून '९५ ☐

पूजा (२)

ने. : नमस्कार। आपने कहा था कि पूजा से समाज का भावनात्मक कायाकल्प सभव है - सो कैसे ?

जै. : यह सहज है। इसके लिए अलग से कुछ नही करना है। सतुलन से सबकुछ सभव है। यदि हम पूजा के साथ गुणवत्ता को सयुक्त करे और औपचारिकताओ को मायनस (कम) कर दे तो यह काम आसानी से हो सकता है। **भक्ति को और अधिक गहरा करने से उसमे-से नये शक्ति-स्रोत प्रकट हो सकते हैं।**

ने. : लोग कहते है कि भक्ति अन्धी होती है , वह आगा-पीछा नही देखती।

जै. : ऐसा नही है। सच्ची भक्ति अन्धी हो ही नही सकती। उसकी आँख पर पलक ही नही है। वह अपलक होती है। एक सम्यक् भक्त अपनी आँखे प्रतिपल खुली रखता है - रख सकता है; नाम-कमाऊ/यशलिप्सु भक्त वैसा कर पाने मे असमर्थ होता है। असल मे लोग भक्त-जैसे दिखायी देते है, होते नही है। ऐसा धार्मिक क्षेत्र मे अध्यात्म के दुष्काल के कारण हुआ है।

ने. : क्या हम धर्म के क्षेत्र मे अध्यात्म को लौटा सकते है?

जै. : कोशिशे हुई है, परन्तु उसके प्रति निष्ठा न होने की वजह से वे विफल हो पडी है। एक र्मकाण्डी आयोजन मे अध्यात्म का प्रतिशत बमुश्किल एक होता है।

ने. : क्या इस कमी को दूर करने का कोई उपाय है?

जै. : है क्यो नही ? यदि हम पूजा के साथ गुणवत्ता (क्वालिटी)को जोडते है तो कोई कारण ही है कि पूजा की ताकत अधिक समृद्ध न हो और वह व्यक्ति-क्रान्ति का अचूक हथियार साबित हो।

ने. : गुणवत्ता से आपका आशय क्या है?

जै. : 'वन्दे तद्गुण लब्धये'- अर्थात् आपकी पूजा-'स्वार्थ-पूर्ति' के लिए नही वरन् स्वार्थ-प्राप्ति' के लिए हो। 'स्वार्थ' के दो अर्थ है, एक, लौकिक इच्छाओ की पूर्ति, खुदगर्जी, सा, पद, पुत्र आदि, दो, मै हूँ, क्या हूँ - इस अर्थ की खोज। इसमे स्व-पर-विज्ञान की बात है। ़्जा स्व - पर - विज्ञान का अद्भुत कीमिया है। यह एक ऐसा पारस है, जिसे छूते ही ांसारिकताएँ दिव्यताओ (आध्यात्मिकताओ) मे बदल जाती है। ज्यादातर लोग इस पारस के स-वैभव से वंचित रह जाते है वर्ना पूजा की बात मत पूछिये - वह कल्पवृक्ष का अत्याधुनिक ास्करण है।

ने. · पूजा किस तरह की गुणवत्ता को जन्म देती है ?

जै. · मोक्ष का मार्ग क्या है ? कर्म क्या है ? क्या उनसे मुक्त होने का कोई मार्ग है ? यह लोक क्या है ? यह किन द्रव्यो से बना है ? मै क्या हूँ ? क्या जो मै इस क्षण हूँ, वही हूँ, या जुदा कुछ हूँ? क्या मै शरीर हूँ ? क्या मै शरीर से भिन्न कुछ और हूँ ? यह भिन्नता क्या है ? इत्यादि।

ने. . यानी पूजा मौलिक जिज्ञासाओ का एक खजाना ही खोल देती है।

जै. · जिज्ञासा ही नही, उसके उपयुक्त समाधान भी।

ने. तो क्या पूजा इतनी ही है ?

जै. नही, इससे आगे भी बहुत कुछ है , किन्तु उस सब पर हम फिर विचार करेगे। नमस्कार।

ने. नमस्कार।

- जुलाई '९५ □

पूजा (३)

ने. : नमस्कार , कहिये कैसा मिजाज है ? कैसा लगता है इन दिनो हिसा और क्रूरता के इस आत्मघाती दौर मे ? क्या कभी इसकी जडो को खोज पाये है, उन जडो को जो इन्हे हरा किये हुए है ? क्या 'पूजा' इन जडो तक पहुँच कर किसी चाणक्य की तरह इन्हे मठा नही पिला सकती ?

जै. : यह पूजा नही, वरन् वह पूजा जिसका स्वरूप अन्तर्मुख है। बहिर्मुखता की सीढी चढ कर अन्तर्मुखता के क्षेत्र मे प्रवेश ही तो पूजा का अन्तिम लक्ष्य है।

ने. : वह कैसे, बात समझ नही पा रहा हूँ ?

जै. : कौन नही जानता कि हमे शरीर से गुजर कर ही आत्मा तक अपनी पहुँच बनानी होती है। शरीर साधन है, शुद्धता/परमात्मा साध्य है।

ने. : क्या पूजा को हम कोई नयी मुखछवि प्रदान कर सकते है ?

जै. : सहज ही , वशर्ते हम अष्ट द्रव्यो की पृष्ठभूमियो की खोज-परख करे। क्या कभी आपने सोचा है कि द्रव्य आठ ही क्यों है और कर्म की सख्या से इसका साम्य क्यो है ? इनमे घट-बढ क्यो नही है ?

ने. : मै समझता हूँ यह इत्तिफाक़ है , अलग से कुछ हुआ है ऐसा नही लगता।

जै. : कल्पना और यथार्थ का इतना सुघड़ समन्वय अन्यत्र नही मिलेगा।

ने. : वह कैसे ?

जै. : देखिये, हम विषमताओ मे-से समताओ को लगातार निचोड़ते रहे है। आप ही बताये जो अस्मिता स्वच्छ/उजली हुई है, उसे स्वच्छ करने की कोई जरूरत है ? जलाभिषेक के पीछे क्या रहस्य है - यह कि स्वच्छतम को स्वच्छ किया जाए। क्या 'कैवल्य' को स्वच्छ करना सभव है ? स्वच्छ को और क्या स्वच्छ करेगे ?

ने. : तो फिर ?

जै. : वस्तुत यह जल या अभिषेक-धारा प्रतिमा पर नही, अपितु उपासक के भीतर जो प्रतिमा है उस पर पडती है। उसके विभाव को स्वभाव मे रूपान्तरित करती है। जरा आँखे मूँद कर देखिये कि जलाभिषेक के रोमाचक क्षणो मे यह धारा प्रतिमा-शीर्ष पर नही वरन् आपके भीतर युगयुगो से वन्द/जकडे द्वार पर दस्तक दे रही ज्ञान-की-अँगुलियो पर पडती है ताकि यह जल भीतर उतर कर आपको उज्ज्वलताओ से तर कर सके, शराबोर कर सके।

ने. · आप अक्षत चढाते है - सो क्यो ? क्या प्रयोजन है उसका ?

जै. . असल मे जो क्षत-विक्षत या खण्ड-खण्ड नही है, उसे अक्षत की जरूरत नही है। यह अक्षत तो पूजा के निमित्त परिकल्पित है ताकि पूजक अपने भीतर-के-घाव भर सके और अन्दर से अक्षत/अखण्ड बने। **पूजा आत्मानुसंधान का उपयोगी आधार-मंच है; इसे अन्तर्मुख करना बहुत ज़रूरी है।**

ने. : और फिर चन्दन - यह क्यो ?

जै. . हाँ, जो निर्लिप्त है उसे चन्दन की शायद जरूरत नही है। जो दुनिया की तमाम ठण्डको-की-ठण्डक है, जिसने कर्मों के सारे ग्रीष्म शान्त कर लिये है, उसे चन्दन की जरूरत क्यो, कैसे ? चन्दन भी भीतर की ओर मुडता नजर आता है। सीधी-सी बात है कि जो उत्तप्त/सतप्त है उसे चाहिये चन्दन-लेप, किन्तु जिसे कोई सताप ही नही, उसकी अर्चना चन्दन से क्यो-किसलिए ?

ने. : हम उन्हे बहुविध/बहुरगी पुष्प क्यो चढाते है ? इसमे तो हिसा भी है।

जै. · उचित कहॉ है ? निर्वास को सुवासित होने की जरूरत कहाँ है? जिसका व्यक्तित्व सुगन्ध को सुगन्धित करता हो भला उसे पुष्पार्चन क्यो ? पर इस मर्म को समझाये कैसे ? **लोग तो अभिनय-प्रिय है, निश्चयनय-प्रिय होने पर ही तो स्थूलताओं की व्यर्थता का बोध संभव है**- हमे पूजा को नया अर्थ, नयपरक अर्थ, आज नही तो कल, देना ही पडेगा।

ने. : क्या सूरज को दीप दिखाने मे कोई तुक है ?

जै. · किसने कहा ? हमे इस तौर-तरीके को भी अन्तर्मुख करना होगा। पूजक को अपने भीतर परम ज्योति को ज्योतिर्मान करना होगा, इन दीयो से कुछ होने वाला नही है। कैवल्य-की-ज्योति जब अन्तर्तम मे जगमगायेगी तो ही अन्दर के तमाम अन्धकार दरकेगे, खत्म होगे अन्यथा अँधेरे बढते जाएँगे - उनका कोई छोर नही आयेगा।

ने. · और निरजन को धूप खे रहे है, है न अन्तर्विरोध ?

जै. . मै तो शुरू से कह रहा हूँ कि हमे अन्त सबन्धो की समीक्षा करनी चाहिये। हमे तमाम अन्तर्विरोधो से परे पूजा की पृष्ठभूमि पर उपस्थित शुद्धाध्यात्म को समझने की कोशिश करनी चाहिये। हम धर्म-के-मर्म को समझे बगैर धार्मिक कहलाना चाहते है - है न यह क्रूर मजाक ?

ने. : जिसे फलो-का-फल - अनन्य/अद्वितीय फल - मिल गया है, उसे फल अर्पित करने मे क्या तुक है ?

जै. . यहाँ भी वही स्थिति है, यह फल भी जिनेन्द्र के लिए नही वल्कि हमारे अपने लिए है। पूजा, असली पूजा, वही है जो हमे शुद्धात्म-वोध की मजिल तक सफलतापूर्वक/निर्विघ्न ले जाए।

ने. : असल में आठो द्रव्य प्राणिमात्र के भीतर मौजूद है , प्रतिमाएँ मात्र अवलम्ब है। वे सकेत है कि हमे क्या करना है, कैसा/कैसे बनना है। पीड़ादायी यह है कि हम इस रहस्य से अनभिज्ञ बने रहना चाहते है।

जै. : बिल्कुल ठीक ; चाहे जो कीमत चुकानी पडे हमे आज नहीं तो कल परम्पराओ को नया संदर्भ देना ही होगा। नमस्कार।

ने. : नमस्कार।

१४

सैर/सफ़र

ने. : खूब है आप - **यात्रा, यात्रा, यात्रा** - कभी रुक कर काम क्यो नही करते ? रुकेगे या टिकेगे नही तो भविष्य मे कुछ कर नही पायेगे। शरीर की भी सीमा है , क्या हाथ-पाँव सदैव एक-जैसे चलेगे ?

जै. : ठीक है , किन्तु भाई जिन्दगी भी तो अन्तत एक सफर ही है। फेफडे अपनी यात्रा कब रोकते है, ऑक्सीजन/कार्बन डायोक्साइड के चक्र मे उलझे रहते है ? सूरज कब रुकता है ? सब यदि काम पर हो तो क्या यह ठीक होगा कि मै रुक पड़ूँ ? मेरे लिए रुकने का मतलब जडता और चलते रहने का अर्थ जीवन्तता है।

ने. . और यह किताब   . . शेख़सादी या 'गुलिस्ताँ' इसे आप क्यो पढ रहे है ?

जै. : शेख़ मुसलिदुद्दीन सादी (११८४-१२९१ ई) फारसी के एक मशहुर कवि थे। उनकी सूक्तियाँ जीवन को एक नया अन्दाज देने वाली है। मैंने 'गुलिस्ताँ' को अक्षरश पढा है।

ने. . किन्तु यह जैन ग्रन्थ तो नहीं है ?

जै. : बस यही तो हम भूलते है। 'अनेकान्त' की उपेक्षा जैनधर्म नही है , 'अनेकान्त' की जमीन पर खड़े रह कर दीन-दुनिया को समझना-देखना-परखना जैन धर्म/दर्शन है। जो लोग अनेकान्त-के-मर्म को समझते है, वे न तो किसी मजहब का तिरस्कार करते है, न उपेक्षा , वे तो अपने को माँजने के लिए कही से भी 'सम्यक्' और 'उत्तम' बटोर लेते है।

ने. : क्या शेख़ ने यात्राओ के बारे मे भी लिखा है ?

जै. . खूब, और बढिया , उन्होंने कहा है कि **जब तक तू घर की दुकान में गिरवी रखा रहेगा, तू कभी संसार के अनुभव प्राप्त नही कर सकता और न आदमी बन सकता है।** इससे पहले कि तू दुनिया से चल बसे , जा, दुनिया की सैर कर।

ने. : यानी आप बकौल शेख सादी दुनिया की सैर पर आमादा है ?

जै. : नही , मेरा क्रम है - पहले देश, फिर विदेश, फिर स्वदेश। 'स्व-देश' शब्द पर ध्यान दे। यह एक खास शब्द है। इसका विस्तार ब्रह्माण्डव्यापी है , किन्तु सुखद यह है कि इसकी सैर एक जगह बैठ कर भी संभव है।

ने. : शेख़ ने क्या कहा है ? क्या उन्होंने यात्रा से होने वाले फायदो की ओर कोई इशारा किया है ?

जै. : शेख सादी कहते है कि सफ़र करना सिर्फ पाँच किस्म को लोगो के लिए फायदेमद है।

ने. : कौन-कौन ?

जै. : सौदागर, जिनके पास धन-दौलत के अलावा चुस्त और फुर्तीले लोगो का दल भी है , वे कही भी मुसाफिर नही होते। जहाँ भी डेरा लगा दिये, दरबार लग गया ; लेकिन दूसरी ओर **ग़रीब अपने ही देश में मुसाफ़िर होता है।**

ने. : और

जै. दूसरे वे लोग है, जो **आलिम** (विद्वान्) है और अपनी मीठी बोल-चाल तथा योग्यता से जहाँ भी जाते है, इज़्जत पाते है, लोग उनकी खिदमत के लिए दौडे चले आते है। आलिम सोने की तरह होता है। सोने की हर जगह क़द्र होती है। जिसमे बुद्धि नही है, उसका कही आदर नही होता। परदेस मे तो कोई कौडी को भी नही पूछता।

ने. : और तीसरी क़िस्म .

जै. : तीसरी क़िस्म **हसीनों** की है, जिन्हे देख कर जाहिद (सयमी) का दिल भी मचलने लगता है। **सुन्दर मुखड़ा टूटे हुए दिलों के लिए मरहम का काम करता है, वह बंद दरवाज़ों की कुंजी है।** जब मैंने मोर के खूबसूरत पंख कुरान शरीफ के पन्नो के बीच रखे देखे तब एक मोर से कहा - तेरी यह क़द्र तेरे मर्तबे (पद/प्रतिष्ठा) से अधिक है। मोर बोला - चुप रह, **जो हुस्न रखता है, वह जहाँ भी जाता है लोग उसे हाथों-हाथ लेते है** (और फिर हुस्न कोई एक तरह का तो होता नही है ; वह आध्यात्मिक भी तो हो सकता है)।

ने. · और चौथे लोग ..

जै. : और चौथे लोग वे है जो अच्छे **गायक** है, जो अपने सगीत के असर से पानी को बहने से और परिन्दो को उडने से रोक दे। हुनर की क़द्र करने वाले लोग ऐसे व्यक्ति को अपने पास रखना पसद करेगे और हर तरह से उसकी खिदमत करने को तैयार रहेगे। सुन्दर आवाज सुन्दर चेहरे से भी ज्यादा अच्छी लगती है , **क्योंकि संगीत तो मन का आनन्द है और आत्मा का भोजन है।**

ने. : और पाँचवे . .

जै. : पॉचवे लोग वे है जो हाथ-पाँव से मेहनत करके रोटी कमा सके ताकि अपमानित हो कर किसी के आगे हाथ न फैलाना पडे। बुजुर्गों ने कहा है, रूई धुनने वाला अपने शहर से वाहर भी चला जाए तो भूखा नही मरेगा , लेकिन कोई वादशाह वाहर कही मुसीबत मे पड जाए तो भूखा सोयेगा। 'ये सव गुण जिनका मैंने वर्णन किया है' - शेख़ सादी ने कहा - 'सफ़र में काम आते है। जिस इन्सान मे ये गुण नहीं होगे वह मारा-मारा फिरेगा और कोई उसकी वात तक न पूछेगा।'

ने. : आप किस वर्ग मे आते है ?

जै. : वैसे वर्ग बदलता रहता है। पहले मे तो निश्चित ही नही हूँ। जहॉ तक इल्म (ज्ञान) का सवाल है, वह क्षेत्र तो 'ओस चाटने जैसा' है। चाटते जाइये, प्यास कभी बुझेगी ही नही। हाँ, यदि पाँचवी किस्म मे मुझे डाल कर देखेगे तो प्रसन्नता होगी।

ने. : अर्थात् हाथ-पाँव चलाने वाला श्रमजीवी वर्ग -

जै. : वही सर्वोत्तम है। मै तो 'क़लम का मजदूर' हूँ। मेरी कमाई पैसा नही, हर्फ है। उसी के बल-बूते पर मुस्कराता/निर्विघ्न रहता हूँ।

ने. : अपनी यात्राओ-के-फलसुफे पर रोशनी डालेगे ?

जै. : अवश्य , किन्तु आज नही अगली किसी भेट मे। नमस्कार।

- सितम्बर '९५ □

मुसाफ़िरी / मोह

ने. : देख रहा हूँ आप फिर किसी लम्बे प्रवास से लौटे हैं , कैसे है ? चेहरे पर काफी ताजगी है , वजह जानना चाहूँगा ।

जै. : वजह कुछ भी नहीं , शायद इस प्रवास मे ऐसा कुछ पा सका हूँ, जिसकी एक लम्बे अर्से से प्रतीक्षा थी ।

ने. : प्रतीक्षित प्राय कहाँ मिल पाता है , क्या सच ही आप वह हासिल कर पाये है, जिसका आपको इतजार था - मुबारक ।

जै. : मैंने कभी ऐसा कुछ नही चाहा जो 'लौकिक' हो , मैंने तलाश हमेशा 'अलौकिक' की ही की है ।

ने. : यह 'लौकिक' 'अलौकिक' क्या है ? मै इन दोनो के बीच कोई उल्लेखनीय फर्क नही कर पा रहा हूँ ।

जै. : फर्क साफ है । जिन वस्तुओ के पीछे तृष्णा है , वे लौकिक है , किन्तु जहाँ तृष्णा की जगह जिज्ञासा है, वहाँ अलौकिकता है । भाई, **लौकिकताएँ तन-मन-धन की प्यास बुझाती हैं; अलौकिकताएँ आत्मा को तृप्त करती है । आत्मा तन, मन, धन से परे का वजूद है, उसे पाना या उसमें प्रवेश यात्राओं से ही संभव है ।**

ने. : क्यो ?

जै. · भाई, एक तो यात्राओ मे मोह-की-तीव्रताएँ शान्त रहती है , दूसरे मन की चचलताएँ शोर नही करती । मुसाफिरी मे है तो फिर फिक्र कैसी ? जो होना है, वह तो होना ही है । आप क्या कर पायेगे - सिर्फ भगदड ही न ? भगदड किसी द्वन्द्व का समाधान नही है , उससे तो हालात बिगड भी सकते है । वस्तुत यात्राएँ वरदान इसलिए है कि वे मुसाफिर को नि शक और निर्भीक बनाती है । उसे खतरो मे डाल कर खालिस सोना बनाती है , ऐसा सोना जो कीचड मे पड कर भी कीचड न बने, अपनी **मौलिकता बरक़रार रखे । मेरा निष्कर्ष है कि मौलिकताओ को उद्घाटित करने के लिए यात्राएँ अवश्य करनी चाहिये ।**

ने. : जो नि शक होगा, वह निर्भीक न हो यह असभव है ।

जै. : यही वजह है कि यात्राएँ व्यक्ति को पराक्रमी/शूरवीर बनाती है । उसके भीतर आत्मविश्वास के वे तमाम स्रोत खुल जाते है जो अब तक रुद्ध थे । यात्राओ का सबसे बडा लाभ

यही है। सशक व्यक्ति अनिश्चित और भयभीत होता है , अनिश्चय किसी भी व्यक्ति को निराशाओ/असफलताओ के गहरे गर्त मे धकेल सकता है। वस्तुत अनिश्चय यात्रा की तेजस्विता और स्फूर्ति, रवानी और ताजगी छीन लेता है।

ने. : आपकी यात्राओ ने आपको दिया ही क्या है , मैने देखा है यात्राओ से लौट कर, या तो आप थके-हारे रहे है, या अस्वस्थ हुए है।

जै. . थका हूँ , हारा नही हूँ। हारता तो मै कभी हूँ नही। मुझे हराना बहुत कठिन है। थकता शरीर है, चित्त कभी नही थकता। उसमे सदैव अधिक काम का उत्साह बना रहता है। किंचित् आराम कर लेने पर मै मोर्चे पर आ खडा होता हूँ। **अस्वस्थ भी शरीर ही होता है , मैं नही।** मैंने अक्सर कहा है कि 'मै शरीर मे हूँ, शरीर नही हूँ'। **शरीर मेरे लिए माध्यम है, वह मेरा साध्य नहीं है।**

ने. · तो क्या यात्राओ मे भी सोचते रहते है - यात्रा का आनन्द नही लेते है ? नदियाँ, पहाड़, हरियाली, पशु-पक्षी, सूर्योदय-सूर्यास्त, दिन-की-रोशनी, रात-का-अन्धकार, रंगीनियाँ, तरह-तरह के धूपछाँही दृश्य, मेघावलियाँ - क्या ये सब आपको अपनी ओर कभी नही खीचते ?

जै. . खीचते है। इन्ही मे हो कर मै खुलता हूँ। क्या मेरे भीतर नदियाँ, पर्वत-श्रेणियाँ, हरे-भरे खेत-खलिहान, सुन्दर पशु, रग-बिरगे पक्षी, सूरज का क्षितिज पर आना, लालिमा का बिखरना, फिर दुपहरी ढलते-ढलते अस्ताचल की ओर झुकना मेरे भीतर घटित नही है ? है। जो बाहर है, वह सब भीतर भी है। जो ब्रह्माण्ड मे है, वही पिण्ड (शरीर) मे भी है। सडको/पगडंडियो की तरह भीतर भी स्नायुओ का अपरिमित जाल बिछा है। **तन से हो कर मन, मन से हो कर चित्त, चित्त से हो कर आत्मा तक पगडंडियाँ बनी हुई है ; कोई इन्हें खोज़े, इन पर चले, तब न ?** यात्राओ मे जीवन के कई रहस्य आपोआप खुल पडते है। कई अनुत्तरित प्रश्नो के उत्तर सहज ही/अनायास मिल जाते है।

ने. . क्या हर यात्रा के बाद आप भिन्न हो पडते है ?

जै. · वह तो होना ही है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सचाई को तो आप जानते ही है। यात्रा मे इनकी तमाम गहराइयो का शानदार ढग से पता लगता है। मै हूँ, हुआ हूँ , मै वह नही हूँ जो प्रस्थान के क्षणो मे था - और वापसी-के-बाद-का-बिन्दु भी परिवर्तन के प्रस्थान-बिन्दु-सा नही है , अर्थात् मै हूँ, हुआ हूँ, होता रहूँगा तथापि मै अक्षत रहूँगा। जो उत्पाद और व्यय की तेज प्रक्रियाओ मे भी अविनाशी रहता है, उसी की खोज ही तो मै इन यात्राओ मे निरन्तर करता हूँ।

ने. : क्या लोग आपके इस उद्देश्य से परिचित है ?

जै. . यह उद्देश्य नही है , मेरे वजूद (अस्तित्व) की फ़ितरत (प्रकृति) हे। इसे क्यो बताऊँ ? अच्छा है लोग इसे खुद-ब-खुद खोज़े। ध्यान रखे जो खोजता है, उसे ही मिलता है। किनारे पर, मनहूसियत-से-घिरे बैठे रहने से काम नही चलता।

ने. : यानी आप रुके होते है तो भी चलते है ?

जै. : चलता हूँ। रुकने की स्थिति मे और तेज चलता हूँ। भीतर की यात्राएँ वैसे होती कम है , किन्तु असली वे ही होती है। रुका हूँ, चल रहा हूँ - है न अजूबा ?

ने. : लोग क्या कहते है ?

जै. : कुछ नही। उन्हे क्या पता कि मेरी इस यात्रा मे उनका भी योगदान है। हर आदमी मुझे कुछ-न-कुछ देता ही है। नाराज हो कर भी वह देता है, खुश हो कर भी। नाराज हो कर वह जो राज खोलता है, वह अद्भुत है। उसकी खफगी या नाराजगी मे-से मुझे धीरज/सहनशीलता की दौलत मिलती है , और खुशियो मे-से हँसते-गाते चलते रहने का अन्दाज। **मैं हर आदमी से सीखता हूँ, उसे सिखाता नही हूँ। मैं उपदेशक नहीं हूँ, विद्यार्थी हूँ। विद्या-के-रथ पर सवार हो कर मनोरथ की राहों पर चलता रहता हूँ।**

ने. · विविधताओ मे आप बिखर पडते होगे . . .

जै. : बिल्कुल नहीं , विविधताएँ मेरे लिए सुविधाएँ होती है। मै वैविध्य मे-से एकरूपता/एकत्व को खोजता हूँ। पर्याय के वैविध्य मे ही तो आत्मत्तत्त्व का ध्रौव्य धड़कता मिलता है। पर्यायें बहुविध होती है , आत्मतत्त्व की झलक ध्रौव्य की खिडकी मे-से ही तो मिल सकती है न ?

ने. : अर्थात् आप यात्राओ मे भी खुद को नहीं भूलते .. ..

जै. : न खुद को भूलता हूँ, न खुदा हो, बल्कि खुदी मे-से खुदा का उत्कीर्णन करता रहता हूँ। शरीर, असल मे, मेरे लिए वह मन्दिर है, जिसमे आत्मा-जैसी अपरिसीम सुन्दरता विद्यमान है , क्या हम सुन्दरता के इस आवास को झाड़े-बुहारे भी नही , इसे मलिनताओ का ढेर बना रहने दे ? वस्तुत. यह अन्याय होगा।

ने. : तो क्या यात्राओ मे आप शरीर का पूरा खयाल रखते है ?

जै. : रखता हूँ। ठीक से ठहरता हूँ। अनुकूल आहार लेता हूँ। वक़्त पर सोता-जागता हूँ।

ने. : लोग आपका खयाल रख पाते है ?

जै. : कुछ रखते है , कुछ को भान नही रहता , ऐसे मे याद रखना होता है, लेकिन यह न मान बैठे कि मै शरीर को गुलाम बनाये रखता हूँ , और उसके साथ नौकर की तरह बर्ताव करता हूँ। मै उसे सखा मानता हूँ, अत उसके साथ एक अज़ीज दोस्त की तरह सुलूक करता हूँ।

ने. : लोग ग़लत भी समझ लेते होगे ?

जै. : ज्यादातर गलत ही समझते है , किन्तु मै दृढ रहता हूँ। वास्तव मे दृढता अधिकाश समस्याओ का समाधान है। मेरे विचार मे 'दृढ़ता' और 'ज़िद' मे फर्क करना चाहिये। दृढ़ता

अलग स्थिति है, दुराग्रह और जिद सर्वथा अलग। सम्यक्त्व की जमीन पर खडे रह कर यदि आप अविचल है, तो आपको वह सब मिलेगा, जिसकी आपको प्रतीक्षा है वर्ना जो मुट्ठी मे होगा, वह भी खिसक लेगा।

ने. : आपकी यात्राओ का भी एक फलसुफा है, वे निरुद्देश्य नही है।

जै. : कभी नही , वैसे भी मैं बगैर किसी 'प्रयोजन' के कोई काम नहीं करता। कृपया, 'प्रयोजन' और 'स्वार्थ' मे फर्क करे - यदि ऐसा नही करेंगे तो यात्राएँ आपके लिए अभिशाप बन पडेगी।

ने. · धन्यवाद, जैन साहब। देखना है हमारी अगली मुलाकात अब कब होती है।

जै. : नमस्कार।

- अक्टूबर-नवम्बर '९५ ☐

आँखें

ने. : आपने पिछली बार 'स्वार्थ' की बात कही थी। 'स्वार्थ' के तो कई अर्थ है। कम-से-कम दो तो है ही।

जै. : हाँ , दो तो है ही । एक - सासारिक, दूसरा - आध्यात्मिक। पहले के लिए फारसी लफ्ज है 'ख़ुद-गर्ज' । इसमे आदमी अन्धा हो कर स्वय पर केन्द्रित हो पड़ता है और अपनी आँखो पर खुदी-का-काला-गिलाफ़ डाल लेता है। ऐसे मे उसे दूसरो की सुख-शान्ति का खयाल ही नहीं रहता। वह उनकी छाती पर पाँव रख कर निकल जाता है। एक शायर ने कहा है - **जब तक खुदी का आँख पर काला गिलाफ़ था ; हर आईने से मुझको बड़ा इख्तिलाफ (विरोध) था।**

ने. : वाह खूब ! असल मे जो लोग आँख पर गिलाफ़ रखते है, वे हक़ीक़त तक पहुँच ही नही पाते। आईने से बडा कोई सत्यवादी नहीं है, और आईनो की कमी भी नही है , किन्तु दु खद यह है कि हम आईनो के आगे आँखे ठीक से खोलते ही नही है ।

जै. : दूसरी स्थिति बिल्कुल जुदा है। 'स्वार्थ' के दोनो अर्थ दो ध्रुव ही समझिये। अध्यात्म के क्षेत्र मे 'स्वार्थ' के मायने है - 'स्व' के भीतर, गहरे, तलातल मे उतरना - उतरते जाना। इस अवतरण मे आदमी इतना वेभान हो पडता है कि उसके द्वारा दूसरो के जीवन मे कोई बाधा आ ही नही सकती। जीवन-की-इस-मुद्रा मे वह स्वय को संसार से समेटता है और अपने भीतर विस्तृत होता है। यह विलक्षण स्थिति है। अध्यात्म का 'स्वार्थ' मूलत परमार्थ की खोज का मार्ग है।

ने. : कल आपकी सालगिरह है , आज (२ १२) आप अड़सठ के हुए है। 'प्रवचन-सार' आपके सामने है। 'ज्ञेयतत्त्वाधिकार' के पन्ने खुले हुए है। बताये, क्या आप सिर्फ पन्ने उलटते है, या ज्ञान के हीरे-पन्ने भी अपनी मुट्ठी मे कसते है ?

जै. : हाँ भाई , आज एक गाँठ और पड गयी। मै गाँठे खोलने की फ़िक्र मे हूँ और गाँठे (गिरहे) लगती जाती है। कल ६९ वी गाँठ के लिए रास्ते खुल जाएँगे।

ने. : इस अडसठवी गाथा मे क्या है ?

जै. · अद्भुत है यार , जीस्त (जिन्दगी) का लुब्बे लुबाव (निचोड) आ गया है इसमे।

ने. : वह कैसे ?

जै. : आचार्य कुन्दकुन्द का अमृत-मन्थन देखे। वे कहते है - **णाहं देहो।**

ने. : मै देह नही हूँ - गज़ब !!

जै. : ण मणो ।

ने. : न मन ।

जै . : ण चेव वाणी ।

ने. : न शब्द हूँ ।

जै. : कत्ता ण ।

ने. : कर्ता भी नही ।

जै. : ण कारयिता ।

ने. . न कारयिता (कराने वाला) हूँ ।

जै. · अणुमत्ता णेव कत्तीणं ।

ने. : अनुमोदक (अनुमतिदाता) भी नही हूँ ।

जै. · मै इन सबसे पृथक् हूँ - यह है स्व-अर्थ । इसकी खोज मे हूँ। अभी सिर्फ झलक मिली है । रास्ता लम्बा है । परिदृश्य पाने मे वक्त लगेगा ।

ने. : गाँठ खुली है तो गठरी भी खुल ही जाएगी ।

जै. ६८ वी गिरह खोली है । देखना है आगे क्या-क्या होता है । संभव है ६९ वी गाँठ खुद-ब-खुद खुले । मै न खोल पाऊँ , लोग खोले ।

ने. · समझा नहीं ।

जै. : साहिर होशियारपुरी के शब्दो मे कभी ऐसा भी होता है **ज़ीस्त (ज़िन्दगी) की गुत्थी, दिल की गिरह , और उलझी सुलझाने से ।** ३० नवम्बर की बात है । अडसठवी गिरह खोलने के लिए अगुलियाँ तैयार कर ही रहा था कि उलझ गया ।

ने. . आप ही ने तो कही कहा है कि हर उलझन की पीठ पर कोई-न-कोई समाधान सवार रहता है ।

जै. : ठीक है , तो उस दिन जीवन की कुछ नयी/अपरिचित राहे खुल गयी । कई अन्धे मोड दिन-के-उजाले की तरह रोशन हो गये । अब देखना है जो आँखे खुली है, वे प्रतिपल खुली रह भी पाती है या नही । भाई, देह-की-आँखे अपलक रखना कठिन है , किन्तु विदेह-के-नयन जब दृढता से खुलते है तब प्रमाद की पलके उन्हे अ-खुल (बन्द) नही रख पाती । उस दिन गुस्सा तो मुझे खूब आया , किन्तु बात-की-बात मे कई जजीरे कट गयी । कई रिश्तो पर से कलई उतर गयी।

ने. : गुस्सा , वह क्यों ?

जै. . सुनो , **हर तरफ ज़ीस्त की राहों में कड़ी धूप है दोस्त - बस तेरी याद के साये है पनाहो की तरह ।** क़रारी धूप है जरूर पर कुन्दकुन्द. या आगम की छतरी खोल कर चलते है तो सुकून-सी-सुकून (शान्ति-ही-शान्ति) है । सुकून मे-से गुजरते हुए सुकूनत (घर) पाना ही

आध्यात्मिक स्वार्थ है।

ने. : अर्थात् ...

जै. : सुकून की डोर-डगर पकड कर सुकूनत (घर) तक पहुँचना।

ने. क्या 'समय-सार' मे भी यही सब नही है ?

जै. : है, शोर करने की अपेक्षा तल-तह ढूँढने की जरूरत है। आज लोग 'समय-सार' का हल्ला तो कर रहे है, उसके हार्द तक कोई पहुँच नहीं पा रहा है। **'समय-सार' जीवन का सर्वोत्तम सारांश है। इसके शब्दों में अपूर्व पारदर्शिता है। लोग दर्प के कारण दर्पण पर ही ठहर जाते हैं। 'समय-सार' के स्वाध्याय के लिए दर्प या दर्पण नहीं, पारदर्शी काँच की ज़रूरत है।** वह नही, तो माने, कुछ भी नही।

ने. : मैंने कहा था न कि आप हर मुद्दे को फिलॉसफाइज (दर्शनीकृत) कर देते है और लोग मुसीबत मे फँस जाते है। क्या करने वाले है अपनी उनसतरवी सालगिरह पर ?

जै. : खामोश रहूँगा, और अपने बन्द तालो की तालियाँ खोजूँगा।

ने. : इतनी उम्र बीत गयी और अभी भी ताले नही खोल सके है ?

जै. . तालियों की गडगड़ाहट मे तालियाँ इधर-उधर हो गयीं है, उन्हे ठीक से चिह्नित भी नहीं कर पाया हूँ।

ने. . तब क्या करोगे ?

जै. : पहले खामोश रहूँगा, फिर अपने भीतर असली खामोशी को जन्म दूँगा। आप ही बताये - मौन-की-शीतल-छाँव-मे क्या कोई कभी खाली हाथ रहा है ? मौन, यदि असल है, तो उसे सारस्वत वरदान ही समझिये।

ने. : चुप कैसे रहेंगे ? लिखना भी तो एक क़िस्म का बोलना ही है।

जै. . कम लिखूँगा। सारभूत लिखूँगा। 'स्वार्थ' से जुड कर लिखूँगा।

ने. : असभव। 'शाकाहार-क्रान्ति' और 'शाकाहार-अभियान' का क्या होगा ?

जै. : उन्हे भी परमार्थ से जुड़ा रखूँगा। अनुकम्पा (कम्पाशन) स्वार्थ मे जितना विकास पाती है, उतना ख़ुदगरज़ी मे नहीं। अभी तक जो अपना था, उसे जब आपे की सरहदे तोड कर विस्तृत करूँगा। तब फिर करुणा-का-रिश्ता शेष रहेगा, बाकी टूट जाएँगे।

ने. : तो रविवार (३ १२) का सूरज आपके लिए नया प्रकाश ले कर आ रहा है।

जै. : वह तो रोज ही लाता है। कल उसे नयन-भर दे सकूँगा, आँखो पर से संकीर्णताओ का गिलाफ उतार कर।

ने. : उतार पायेंगे ?

जै. . पुरुषार्थ करूँगा।

ने. : और क्या करेगे ?

जै. : गणित का गहन अध्ययन करूँगा।

ने. . क्यो ?

जै. · मेरा मानना है कि **लोक में सब कुछ गणितमय है**। एक (१) से ले कर शून्य (०) क सबकुछ आ गया है। कुछ शेष नही रहा है। गणित आदमी को आदमी बनाता है। उसमे म्यक्त्व और सन्तुलन पैदा करता है , अत बहुत जरूरी है इसमे गहरे जाना और क्रमश इसे पने 'स्व + अर्थ' से जोडना।

ने. . क्या भक्ति का भी कोई गणित है ?

जै. : है , वहाँ एक और एक मिल कर एक ही होते है - दो नही होते। एकत्त्व और अन्यत्व णित मे समानान्तर चलते है। कभी जोड, कभी तोड, कभी भाग, कभी गुणा - गणित की दुनिया ण्डरफुल' है। उसके चप्पे-चप्पे मे सैर करने की इच्छा है।

ने. . जिन्दगी काफी छोटी है जैन साहब

जै. · तो क्या हुआ ? रफ्तार तेज करूँगा।

ने. : क्षमता का प्रश्न भी तो उठेगा।

जै. · चिपके हुए है, इसीलिए शायद एक लगते है - 'देहात्म' की तरह। जन्म भी मरण ही , क्योकि जो जन्मा है, वह मरने के बाद ही तो ऐसा कर पाया है और जिसने जन्म लिया है, उसे श्चय से मरना ही है। यह चक्र है। इसे समझना और काटना है।

ने. : काट पायेंगे ?

जै. · कोशिश करूँगा।

ने. मेरी मगलकामनाएँ सदैव आपके साथ रहेगी।

जै. . धन्यवाद। कृतज्ञ हुआ।

- दिसम्बर '९५ □

१८

सामाजिक क्रान्ति

ने. : इन दिनो आप जो कर रहे है, या आपके द्वारा जो हो रहा है , उसकी दिशा क्या है ? क्या आप किसी सामाजिक क्रान्ति को घटित देखना चाहते है ?

जै. : देखने का तो, संभवत , कोई प्रश्न ही नही है , वह स्वत है और अपनी भरपूर तरुणाई पर है। प्रश्न है दिशा निर्धारित करने का। अक्सर प्रवाह तो होते है , समस्या उन्हे योग्य/उचित रचनात्मक मोड देने की होती है।

ने. : मै यहाँ जैन समाज की बात कर रहा हूँ।

जै. : मै नही मानता कि जैन समाज भारतीय अथवा विश्व समाज मे अलग कुछ है ; हाँ, उसकी अपनी पृथक् पहचान अवश्य है ; सबकी अपनी-अपनी पहचाने है - होनी चाहिये, किन्तु यह असदिग्ध है कि परिवर्तन का चरित्र और उसकी गति विलक्षण होती है। यदि उसे ठीक से समझा या पहचाना न जाए तो धोखा हो सकता है।

ने. : क्या ऐसे सवेदनशील क्षणो मे हमे आत्म-समीक्षा नहीं करनी होगी?

जै. : करनी होगी। ज़रूर करनी होगी। देखना होगा कि जो मूल्य/मर्यादाएँ , मानक/माप-दण्ड हमे अब तक टिकाये हुए थे, उनका इतनी तेज़ी से क्षरण/लोप कैसे, और क्यो कर हुआ?

ने. : सामाजिक क्रान्ति की सभवत पहली शर्त है, उन क्षेत्रो की पहचान जहाँ यह पल-पुस रही है, या पनपने को है।

जै. : मै समझता हूँ , हम व्यक्ति को विस्मृत कर शायद किसी भी सामाजिक क्रान्ति की परिकल्पना नही कर सकते। व्यक्ति सामाजिक सरचना का मूलभूत घटक है। उसके विकृत/अविकृत, पूर्ण/अपूर्ण, उदार/सहिष्णु, जागरूक/सुस्त होने का व्यापक असर होता है। आज यह घटक अप्रत्याशित रूप से स्वार्थोन्मुख हुआ है। उसमे जो एक सामाजिक उदारता/सहिष्णुता थी वह क्रमश लुप्त हुई है - होने को है।

ने. : व्यक्ति की अपनी स्थिति है , यथार्थ शायद यही है कि व्यक्ति को जिस धरातल पर अन्तर्मुख होना था, उस पर न हो कर वह एक अन्य धरातल पर अन्तर्मुख हो गया है। उसे अध्यात्म-के-तल पर अन्तर्मुख होना था और वह हो वैठा है भौतिक धरातल पर। वह उन आदर्शो

को भूल बैठा है, जो एक-दूसरे को नजदीक लाते है, उन्हे जोडते है। **अब व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कोई सांस्कृतिक टाँका अस्तित्व में नही है। सामाजिक अराजकता, विघटन और असंतुलन ने सिर उठा लिया है।**

जै.: सही है, किन्तु स्थिति इतनी दयनीय और नियन्त्रण से परे नही है कि उसे सँभाला ही न जा सके। धन की अधिकता ने तृष्णा, असयम, स्वच्छन्दता आदि को प्रवेश अवश्य दिया है, किन्तु यदि हम चाहे तो एक मौन सामाजिक समझ से इन तमाम टकराहटो से बच सकते है।

ने.. 'सामाजिक समझ', कैसी? क्या स्वरूप होगा उसका?

जै. · यही कि मनुष्य को बुनियाद में साम्प्रदायिक अथवा वर्गान्ध न बना कर उसे मानवीय बनाया जाए। उसे बताया जाए कि हमारी यह धरती एक वृहत् कुटुम्ब है, इसमे सब बगैर किसी भेद-भाव के एक व्यापक भाई-चारे मे जीवन-यापन कर सकते है। जब तक सहअस्तित्व के मर्म को समाज - समाज का प्रत्येक घटक नहीं समझेगा, हम जो टूट-फूट हो चुकी है, उसकी मरम्मत नही कर पायेगे।

ने. भारतीय समाज की कुछ मौलिकताएँ है, क्या जैन समाज के ढॉचे मे उनका समायोजन/तालमेल सभव है?

जै.: तालमेल है, हम झूठी लडाई/छद्म युद्ध लड़ रहे है। भारतीय और जैन जीवन-मूल्यो मे कोई टकराहट नही है। विविधता / बहुआयामिता के बीच एकप्राण रहना इसकी प्रकृति/चरित्र है। सबकी स्वाधीनताएँ मिल कर एक बृहत् / विराट स्वाधीनता की परिकल्पना क्या रोमाचकारी यथार्थ नही है?

ने.: है, किन्तु जैन इन दिनो बात उदारता की करते है तथापि अन्दर-अन्दर सकीर्ण है **अब सराक, कासार और नैनार जातियों को ही ले लीजिये; इन्हें ले कर कोई स्पष्टता नही है।** माना, सराक पूर्वांचल तथा कासार-नैनार दक्षिणाचल की जातियाँ है, जो अहिसक/ सदाचारमूलक जीवन-शैलियो को सदियो से अपनाये हुए है और आज की विषमतम स्थितियो मे भी अपने मूलोद्गम अहिसा को नही छोड़ रही है, फिर भी तय है कि हम उनके लिए मात्र कुछ मन्दिर, कुछ अस्पताल, कुछ शिक्षण-सस्थाएँ इत्यादि खोल कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेगे। **वस्तुत. हमे उन्हें जैन समाज की मुख्यधारा मे सम्मिलित करने की प्रक्रिया का श्रीगणेश करना होगा। सिर्फ यह कहना कि उनका चेहरा जैन चेहरे से साम्य रखता है, पर्याप्त नही है।** वास्तविकता यह है कि सराक-मुखछवि पर अभी भी जैनत्व की तेजस्विता है, जबकि आज के जैनो पर से वह आभा-मण्डल खिसक चुका है। सराक/नेनार जैनाचार का जिस तरह अनुपालन कर रहे है, वैसा/उतना आज के जैन नही कर पा रहे है।

ने. : क्यो है यह विषमता ?

जै. : इसलिए कि एक तो अतीत की उपलब्धियाँ हमारी मुट्ठी से खिसक गयी है। दूसरे हम मूलधन की गठरी के भ्रम मे उसकी ठठरी ढो रहे है। हम नही जान पा रहे है कि हम क्या कर रहे है। ऐसे मे स्व राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त की ये पक्तियाँ हमारे द्वार खटखटाती है - **हम कौन थे ? क्या हो गये ? और क्या होंगे अभी ? आओ विचारें बैठ-मिल कर ये समस्याएँ सभी।** सरलतम शब्दो मे कवि ने हमारी ऑखें उघाड दी है। यदि हमने अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य को ठीक से सयोजित नही किया तो तय है कि समाज का सपूर्ण ढाँचा चरमरा कर धराशायी हो जाएगा।

ने. : इन दिनो चिन्तित तो है लोग , क्या यह शुभ सकेत नही है ?

जै. : उत्सव, मेले, सगोष्ठियाँ, पंचकल्याणक, अजन शलाकाएँ, मन्दिर-निर्माण, गजरथ - ये सारे हमारे ध्वंस को नही सँभाल पायेगे, बल्कि समाज की चिता हो धधकाने मे घी का काम करेंगे। हमें असल मे अपनी मौलिकताओ के बारे मे गभीर चिन्ता करनी चाहिये। सोचना चाहिये कि वह कौन-सी धातु थी, जो जैन को जैन बनाये हुए थी ? सराक बन्धु आज अन्य जैन बन्धुओ की अपेक्षा बेहतर जैन क्यों दिखायी पडते है ? वह क्या था जो हमारी मुट्ठी से अकस्मात् खिसक गया है ?

ने. : क्या यह संभव है कि हम नया सब छोड कर अतीत की ओर लौट पडे ? क्या यह उचित क़दम होगा ? क्या ऐसा करने पर हम 'आधुनिकता' से कट नही जाएँगे ?

जै. : नहीं, ऐसा कुछ नही होने वाला है ; क्योकि मै मानता हूँ कि एक जैन को 'जैन' होने से पहले 'मेन' (अंग्रेजी भाषा का शब्द) होना चाहिये। मौलिकताओ की प्रकृति कालातीत है। यह नये-पुराने की गिरफ्त से परे है। आग का गर्म होना उसकी मौलिकता है ; उस पर अतीत, वर्तमान, भविष्य का कोई प्रभाव नही पड़ता। ठीक ऐसे ही जैनों की कुछ मौलिकताएँ है, जिन्हे हम भूल बैठे है , या जिन्हे हमने अनाधुनिक/छोटा मान कर छोड़ दिया है। जैनत्व से रिक्त होने पर हम जैन होने की चिगत्ती भले ही चस्पा कर ले, किन्तु ऐसा करने से जैनत्व हममे लौट आयेगा, यह जरूरी नहीं है, इसलिए मेरे भाई, **बहुत ज़रूरी है कि हम एक समग्र सामाजिक क्रान्ति के लिए अपनी मौलिकताओं को लौटायें।** ये मौलिकताएँ पाँच हैं - अहिसा , सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य। इनकी वापसी का मतलब होगा एक विराट सामाजिक क्रान्ति।

ने. : क्या इस सब के लिए हमे कोई तैयारी करनी होगी?

जै. : तैयारी ; ठीक ऐसी जैसी एक किसान वर्षा-के-आरम्भ से पहले करता है अर्थात् वह अपने उपकरण ठीक करता है, खेत जोतता है, बीज हासिल करता है, बैलो की साल-सँभाल

करता है, उनकी पीठ ठपकरता है, और बादलो की ओर विनय / वात्सल्य की दृष्टि से निहारता है।

ने. : अर्थात् हमें स्वयं को, भीतर से टटोलना / खोज़ना होगा, अपने-अपने खेत सँभालने होंगे; बीज तैयार करने होंगे और अपनी कथन-करनी की एकरूपता को लौटाना होगा।

जै. : हाँ, तभी तो समाज की दरारे पटेगी ।अविश्वास और अस्नेह, असहिष्णुता और अनुदारता, स्वार्थ और शोषण के ग्रीष्म मे जो दरारे सामाजिक सौहार्द की जमीन पर पड गयी है , उन्हे विश्वास,स्नेह, सहिष्णुता, त्याग, नि स्वार्थ और उदारता की वृष्टि से पाटा/भरा जा सकता है।

- जन. फर '९६ ☐

उत्तराधिकार

ने. : नमस्कार।

जै. : नमस्कार।

ने. : कैसे है? अस्वस्थ तो नही है? मार्च का अक प्रक्रिया मे होगा, अरे भाई, कभी आराम तो किया करो। कभी पोस्टर तैयार करवाते हो, कभी 'शाकाहार-क्रान्ति' प्रक्रिया मे होती है, कभी कुछ, कभी कुछ - मेरे हिसाब से आराम बहुत जरूरी है। उससे गुणवत्ता बनी रहती है। किसी और को अपने साथ ले लीजिये।आखिर किसी-न-किसी को अपना उत्तराधिकारी तो बनाना ही होगा वर्ना जितना किया है, जो करना चाहते है उस सब पर पानी फिर जाएगा। इस सबका सातत्य बनाइये ताकि सब कुछ बरकरार रहे, अटूट, अकम्प रहे।

जै. : उत्तराधिकार? सवाल पेचीदा है। सोच ही नही पा रहा हूँ इस बारे मे। हाँ, जहाँ जाता हूँ, वहाँ यह प्रश्न ज़रूर किसी-न-किसी शक्ल मे सामने आ जाता है। लोग पूछते है। आप तो कर ही रहे है ; किन्तु आपके बाद? क्या किसी को तैयार किया है, या कोई आपोआप आगे आया है? क्या उत्तर दूँ? कोई स्थिति नही है, जो जवाब बन कर पेश हो। अवकाश भी नही है कि इस मुद्दे पर गंभीरता से सोचूँ। **लगता है कि जब एक सूर्योदय दूसरे सूर्यास्त के बाद टँकता है,** तब **स्वयमेव उसमें-से कोई निरन्तरता बन पड़ती है , क्योंकि ऐसा शायद ही हो - अभी तक हुआ भी नहीं है कि सूर्योदयों की यह लम्बी लकीर यूँ ही फ़क़ीर हो पड़े और किसी सूर्यास्त के बाद फिर कभी सूर्योदय हो ही न। वस्तुतः सूर्योदयों का 'टोटल' स्वयं आगामी सूर्योदय को जन्म देता है, इसीलिए कोई सूर्योदय अपने उत्तराधिकार के बारे में चिन्तित नहीं है।** असल मे सातत्य मे चिन्तित होने को कुछ है भी नही। वह है, रहेगा, शक्ल बदलेगी, वजूद कायम रहेगा।

ने. : अर्थात् आप जो कर रहे है या आपके द्वारा जो हो रहा है, उसमे-से स्वयं कोई उत्तराधिकार क्षितिज पर आ रहा है, यही न?

जै. : हाँ, वस्तुस्थिति तो यही है। आप माने, न माने, किसी को ठोकपीट कर वैदराज बनाना शायद संभव नही है। हालात बदलते है और बदले हुए हालात नवीनताओ को जन्म देते है। उत्तराधिकारी ख़ुद उठ खड़ा होता है। **जिम्मेदारी निर्बल कन्धों को भी मजबूत कर देती है।** प्रश्न भरोसे का है। प्राय हम अपने इर्द-गिर्द अविश्वास की मनहूस छाया डालते रहते है और

वातावरण को बाँझ किये रहते है। समझते है , हम जो है, वैसा कुछ अन्य सभव ही नही है। यह सच नही है। विकास की प्रक्रिया मे श्रेष्ठताओ के उभरने/बनने से इन्कार नही किया जा सकता। धरती क्या कभी बाँझ हुई है? वह रत्नगर्भा है। हमे आशा रखनी चाहिये।

ने. : कई बार हमे निराश भी होना पडा है। सारे स्वप्न बिखर गये है । गाँधीजी के 'सपनो-के-भारत' का क्या हुआ?

जै. : ज़रूरी नही है कि सब कुछ रुक जाए, रुका रहे। दुनिया के, कुदरत के, कदम तो आगे बढेगे ही। गॉधीजी जो चाहते थे, वह भी हुआ है। उनके कुछ सपनो ने शक्ल ली है। कुछ नयी आकृति ले कर क्षितिज पर आये है। संपूर्ण गाँधी या संपूर्ण कुछ, ज्यो-का-त्यो आये यह संभव ही नही है। यह विकास की प्रक्रिया के प्रतिकूल है। **असल में प्रासंगिकताओं को ठहराना नहीं चाहिये।** आज जो प्रासंगिक है, जरूरी नही है कि कल भी वह उतना ही प्रासंगिक बना रहे । भावनावश किन्हीं प्रासंगिकताओ को - या उनके छद्म को - हमे आने वाली पीढी पर थोपना नही चाहिये, उन्हे भी अपने विवेक के उपयोग की छूट होनी चाहिये।

ने. · क्या प्रासगिकताएँ भी विकसित होती है?

जै. : विकास का चक्र अविराम है। वह कभी थमता नही है। किसी भी मौत मे, जन्म पहले से होता है। प्रासगिक होने का मतलब ही किसी घटित परिवर्तन के साथ समायोजित होना हे। इन्ही समायोजनो मे-से उत्तराधिकार करवट लेता है। वह चुपचाप आता है, ढोल पीट कर नही आता।

ने. : अर्थात् 'तीर्थंकर' के किसी सपादक ने चुपचाप अपना वजूद बना लिया है?

जै. : बनाया ही होगा। जरूरी नहीं है कि 'तीर्थंकर' जिस तरह प्रकाशित है वैसा ही उसी लकीर-का-फ़क़ीर वह बना रहे। उसे बदलना चाहिये। रेलगाड़ी के सर्वप्रथम इजिन और आज के 'टूडेट' इंजिन मे फर्क़ तो होगा ही। पटरियो की गुणवत्ता मे भी फर्क आयेगा। यातायात का दवाव भी बढेगा। सकेतक प्रणाली भी बदलेगी। फर्क मे-से ही विकास की झलक मिलती है। क्या आप चाहते है कि कोई फर्क ही न हो?

ने. : नहीं, वह तो आयेगा ही।

जै. : तो फिर उत्तराधिकार कैसा? फर्क लाने के लिए उत्तराधिकार के प्रश्न को ठण्डे वस्ते मे रखना जरूरी है। **उत्तराधिकार की चर्चा क्रान्ति के पाँव में बेड़ी डाल सकती है।** हाँ, उत्तराधिकार पार्थिव सपदा का कभी न वनाये, विरासत गुणवत्ता की रखे - वह भी डायनेमिक यदि हो तो उसकी चर्चा अपने सवन्धितो से कर दे। सभव है कोई आगे आ जाए। ध्यान रहे . विकास मे वलवत्ता - जवर्दस्ती - के लिए कोई गुंजाइश नही है। मेरी दृष्टि मे उत्तराधिकार को विकसित होने देना चाहिये, उसे थोपना नहीं चाहिये। मेरा विश्वास है कि जो लोग अपना कर्त्तव्य करते हे,

उन्हे उत्तराधिकारी की चिन्ता स्वप्न मे भी नही करनी है। **कर्त्तव्य उर्वर होता है। वह अपना वारिस स्वयं चुन लेता है। कर्त्तव्य कर रहा हूँ; संभवत: इसी में-से कोई उत्तराधिकारी वजूद में आये।**

ने. : आपके बेटे - क्या वे इस बारे मे नही सोचते?

जै. : सोचते होगे। मैंने ध्यान नही दिया है। चर्चा भी नही कर सका हूँ। वे सब देखते तो हैं ही - जो देख रहा है उसे अलग से कोई दृश्य देने की जरूरत शायद नही है। मै अहर्निश मोर्च पर हूँ - यह बात किसी से छुपी नही है। अब जो इस तरह खपना चाहेगा , आगे आ जाएगा। ज़रूरी नहीं है कि उत्तराधिकार घर मे-से ही आये - देश-विदेश कही से भी आ सकता है।

ने. . और प्रबन्ध सपादकजी, वे क्या सोचते है इस सिलसिले मे?

जै. : वे भी आठो याम खपते-तपते रहते है। आज की वे सोचते है, कल की बिल्कुल नही। स्वप्न मे उनका विश्वास नही है, जो सामने है, उसे करते जाने मे उनका भरोसा अधिक है। वे स्थिति-पालन मे विश्वास रखते है। जो सामने है, उसे करो, समेटो, अधिक मत फैलो आदि ताकि उत्तराधिकारी को किसी सकट मे न पडना पडे।

ने. : किन्तु यह तो कोई दलील नही हुई।

जै. : दलील भले ही न हो, किन्तु किसी स्थिति को टालने का आधार तो यह बन ही जाती है।

ने. : तो ज्यादातर लोग उत्तराधिकार के मुद्दे को टालते रहते है?

जै. : शायद, सच तो यही है।

ने. : आप भी टाल ही रहे है।

जै. : टाल नही रहा हूँ, टल रहा है। जो हुआ , या किया गया है, उसकी स्पष्ट समीक्षा का अवकाश नही ढूँढ पा रहा हूँ। समीक्षा न करूँ और कुछ धूमिल किसी के सामने रख दूँ तो क्या यह उचित होगा?

ने. : उचित भले ही न हो ; किन्तु आप जो कर रहे है, या आपके द्वारा जो हो रहा है, उसे कोइ देख न रहा हो यह तो असभव है। जो देखते होगे उनकी कोई प्रतिक्रिया तो हुई ही होगी ; इसी प्रतिक्रिया मे-से उत्तराधिकार शक्ल लेगा।

जै. : ठीक है, लेने दीजिये, इसमे मुझे क्या एतराज हो सकता है; किन्तु जो धातु शक्ल लेना चाहती है, उसके बारे मे जानने की इच्छा प्राय· वनी रहती है।

ने. : कोई 'सरप्राइज' (आकस्मिकता) भी हो सकता है।

जै. · आप जिसे 'सरप्राइज़' कहते है, वह कहने को 'सरप्राइज़' होगा , किन्तु वस्तुत किसी स्थिति का क्रमवर्ती विकास ही वह होगा। जो हो, स्वागत करूँगा, इंतजार करूँगा।

ने. : आशा कीजिये, उत्तराधिकार, किन्तु ध्यान रखिये, मेरे ख्याल मे, सिर्फ शख्सी नहीं होता, वह सामाजिक भी हो सकता है। जरूरी नही है कि वह जड कुछ हो , वह कोई सामाजिक चेतना भी हो सकती है।

जै. : ठीक है, सोचने को एक स्थिति तो यह है।

ने. . इस चर्चा को कृपया, जारी रखिये, अभी मेरी ओर से यह खत्म नही हुई है।

जै. : नमस्कार। देखते है, इस बारे मे और क्या हो सकता है।

- मार्च '९६ □

१९

ओम्

ने. · '३ॐ' का उच्चारण पहले -पहल आपने कब किया? सवाल टेढा है, याद पडता हो तो बताइये।

जै. · ठीक से याद नही आ रहा है। शायद पिताजी के साथ पूजा की 'स्थापना' के अन्तर्गत किया हो (१९३४)।

ने. : तब कैसा लगा था?

जै. : कुछ नही, यूँ ही, आज्ञा-पालन, या अनुसरण समझिये, जिज्ञासा कदाचित् अनुपस्थित थी - लीक पर चलने जैसा कुछ था।

ने. : उसके बाद ।

जै. : जैन पण्डितो के सपर्क मे आया। तब जैन छात्रावास मे था। हर दिन आधा घंटे जैनधर्म पढना होता था। उसी दौरान 'ओम्' के बारे मे कुछ जान सका, किन्तु तब किसी ने इसके सबन्ध मे कोई वैज्ञानिक जानकारी नही दी। प्यास बनी रही। हाँ , इतना अवश्य जान सका कि यह एक ऐसा अक्षर या शब्द है, जिसकी सभी धर्मों मे प्रतिष्ठा है; और जिसके सपूर्ण गठन (भीतरी-बाहरी) को जानना जरूरी है। फिर तो कई साधुओं के मुखारविन्द से इसे सुना इसकी सपूर्ण दीर्घता मे। लगा, जैसे बिजली की लहरे रोम-रोम मे दौड गयी है।

ने. : क्या महामन्त्र णमोकार से इसका कोई सबन्ध है? यदि है, तो कैसे जाना?

जै. : अध्ययन से, 'द्रव्यसग्रह' की अग्रेजी टीका से। तब नागरी वर्णमाला के बारे मे विस्तृत ज्ञान नही था। हाईस्कूल तक सब कुछ सामान्य रहा।

ने. : हाईस्कूल के बाद?

जै. · बी ए मे मैंने अचानक सस्कृत विषय ऑफर कर लिया। हाईस्कूल तक ड्रॉइग था। लोग चौक पडे। मै, किन्तु, अपने फैसले पर अडिग बना रहा। मुश्किले आयी, उन्हे पार किया। मैंने 'राईजिग स्टार' - छात्रावास की लायब्रेरी और एसोसिएशन का यही नाम था - से सस्कृत - इग्लिश डिक्शनरी (सर मोनियर मोनियर - विलियम्स) मे सबमे पहले 'ओम्' देखा। रोम-रोम नाच उठा। कितनी सारी और कितनी गहरी जानकारी उसमे थी। पढ़ता गया। नोट्स लिये। सदर्भ देखे। जिज्ञासा सुहागन बनी। काम बढता गया। 'ओम्' के बारे में जाना कि इसकी सास्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक व्याप्ति अपरिसीम है। लगा, इसे खोजा जाए। इसे पर्त-दर-पर्त जाना जाए।

ने. : तब वय क्या थी आपकी ?

जै. : यही कोई १७-१८। शब्द-कोश देखना आदत बन गया। वक्त मिलता तो उसमे खो जाता। शब्दो से 'डायलॉग' बना। किन्ही शब्दो को ले कर तो मै सदियो पीछे निकल आया। पता नही कैसे 'मोनियर' मेरी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बन गया। वह मेरे साथ २२-२३ की उम्र तक छाया की तरह रहा। शादी के वक्त भी वह मेरे साथ था। लोग पागल समझते थे। था नही। किताब और शादी !! कोई रिश्ता न था। पर था, गहरा था - इसे सिर्फ मै, सिर्फ मै, जाना था। ॐ के बारे मे अधिकत मैने इसी मे-से सीखा/जाना।

ने. : 'ॐ' के बारे मे भाषा-वैज्ञानिक जानकारी कब हुई?

जै. · हिन्दी मे एम ए करते हुए। तब मैंने जाना, गहरे उतर कर, कि यह अ,उ,म् वर्णों से बना है- विलक्षण है - पीयूषवर्षी है। और किस तरह यह कण्ठ से ओष्ठ तथा ओष्ठ से नासिका तक बिछा हुआ है। **जीभ की शैया को खाली छोड़ कर यह संन्यासी सहस्रार तक कैसे दौड़ पड़ता है, इसे मैंने अपनी खोज़यात्रा में हर पहलू से जाना।**

ने. . सो कैसे?

जै. . इस तरह कि 'अ' स्वर है, ह्स्व है, मध्य है, अर्द्धविवृत है, जीभ बीच मे उठान भरती है, किन्तु तालु को छूती नही है, मुख लगभग आधा खुलता है। जाना, कि **स्वर स्वाधीन होते हैं, व्यंजन पराधीन। स्वर आत्मा है, व्यंजन शरीर। स्वर के बगैर कुछ नही होता। स्वाधीनता सर्वोपरि है। सृजन स्वाधीनता में-से जन्मता है। स्वर की अँगुली पकड़े बगैर व्यंजन आगे नहीं बढ़ते।**

ने. : आश्चर्य।

जै. · एक बात और। स्वर अ-स्पृष्ट होते है। उनके उच्चारण मे कोई मुखावयव एक-दूसरे का स्पर्श नही करते। व्यजन स्पर्श्य है। उनका उच्चारण बगैर स्पर्श अथवा सघर्ष के सभव ही नही है। यह जान कर मुझे आध्यात्मिक सुख मिला - झूम उठा मै यह देख कि दुनिया की तमाम वर्ण - मालाएँ 'अ' से शुरू होती है। **स्वाधीनता से शुरू हो कर हम पराधीन क्यों हो पड़ते है; इस तथ्य की खोज़बीन मे मेरी चेतना उस क्षण से व्यस्त हो पड़ी।**

ने. : 'अ' अद्भुत हे।

जै. अद्भुत तो है, किन्तु अजनबी नही है। वह कण्ठ की तमाम शिराओ को खोल देता है। उन्हे अजीब तरह से झकृत कर देता है। हलक का जर्रा-जर्रा अगले सफर पर निकल पड़ता है। 'अव्' धातु भी अजीब है। उसमे 'अ' स्वर ओर 'व' अर्द्धस्वर हे। डेढ स्वाधीनताओ मे-से सपूर्ण स्वाधीनता की उपलब्धि का आधार है 'अव्'। 'अव्' के १९ मायने हे।

ने. · जेनो की क्या मान्यता है?

जै. · वे 'ॐ' को पचपरमेष्ठी-वाचक मानते है। अ - अरिहत, अ - सिद्ध (अशरीरी),

आ - आचार्य, उ - उपाध्याय, और म् - मुनि (साधु) के प्रथमाक्षरों को सन्धिस्थ करने पर जो शब्द बनता है वह 'ॐ' है । इसके अ, आ, उ, तो सहज है , अ- शरीरी (सिद्ध) तथा म (साधु) के लिए श्रम करना होता है। ऐसे मे या तो यह दौडधूप है या फिर विश्व-संस्कृति से सवाद की एक विलक्षण पहल है। जो है, प्रेरक और सुखद है।

ने. : 'उ' के बारे में क्या सोचते है ?

जै. : 'उ' ह्रस्व स्वर है। ओष्ठ्‌ है, द्वयोष्ठ्य है। इसके उत्पादन / उच्चारण मे ओष्ठ वृत्ताकृत हो पड़ते है। लगता है जैसे निखिल शून्य ओठो पर आ लेटा है। कण्ठ से ओष्ठ तक आते ही व्यक्ति का लोक से जुड पडना अलौकिक घटना है - यह अनुबन्ध कही टूट न पड़े, इसलिए उसे म् के उच्चार के साथ कपाटबद्ध कर लेते है और नासिका-रन्ध्रो से ईषत् निकलने देते है। शोर शान्त रहता है।

ने. · यह 'ओकार' क्या है?

जै. : ॐ का रोम -वेधी उच्चार।

ने. : अर्थात्

जै. : इसे यो समझिये। भारतीय शिक्षा-शास्त्र (उच्चारण-शास्त्र) मे ४ मात्राओ का उल्लेख है। आज तो हमारे पास ध्वनियो को मापने और दर्ज करने के लिए ढेर-सारे यन्त्र है · किन्तु पहले नही थे। तब इन्हे सादृश्यो से समझते/मापते थे। मात्राएँ है ह्रस्वार्द्ध, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। अको की भाषा मे हम इन्हे लिखेगे - $\frac{१}{२}$, १,२,३। ध्वनिमापी मात्राओ का यह अंकगणित है। जितना समय 'अ' के उच्चारण मे लगता है उसके आधे को ह्रस्वार्द्ध, दुगने को दीर्घ और तीन गुने को प्लुत कहा जाता है।

ने. . किन्ही उपमाओ से समझाइये।

जै. : नौले की एक बोली ह्रस्वार्द्ध, आँख की झपक या नीलकण्ठ की बोली या बिजली की कौध या चुटकी-ध्वनि ह्रस्व, कौवे की काँव दीर्घ तथा मोर की एक बोली प्लुत ध्वनि है। प्लुत के लिए मुर्गे की बाँग की उपमा भी दी जाती है।

ने. : अर्थात् प्रकृति से हमने बहुत सीखा है।

जै. · 'ॐ' प्रकृति मे सर्वत्र है। वह उसके कण-कण मे है। वह क्षेत्रकालातीत ध्वनि है। उसकी साढ़े तीन मात्राएँ है, उसमे चारो धाम है - फिर उन्हे आप द्वारका, जगन्नाथपुरी, बदरिकाश्रम, रामेश्वरम् कहे, या श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी कहे। ओम् मे चारो तीर्थ व्याप्त है - उसे बोलते ही अनेक तीर्थ-प्रदक्षिणाएँ हो जाती है। ॐ को 'ओ३म' भी लिखते है , (३) प्लुतत्व का द्योतक है। यही प्लुतत्व जब पुलकत्व मे परिणत होता है तब तमाम दुनिया बदल जाती है।

ने. : कहते है ॐ जैन धर्म / दर्शन का साराश है - नवनीत है।

जै. : है, नि सदेह। उसे बोलने से पहले पंचपरमेष्ठियो के स्वरूप को जानने/खोजने की जरूरत होगी। जानना होगा कि अरिहत कौन है? मूर्ति-पूजा क्या है? सिद्ध कौन है ? इनसे अपने जीवन की 'सीध' मिलाना जरूरी क्यो है? सिद्धो ने क्या सिद्ध किया? क्या वह सिद्धि (प्रसिद्धि नही) हमे मिल सकती है? आचार्य पद के ऊपर के ये दो पद सहज प्राप्य क्यो नही है ? आचार्य कौन है? क्या है? उनके होने की सार्थकता क्या है? साधको की इस श्रेणिबद्धता का उद्देश्य क्या है? साधु सीधे अरिहंत क्यो नही हो पडते? उन्हे शेष दो सीढियाँ चढना जरूरी क्यो है? 'उपाध्याय' का सेतु क्यो है? क्या यह जरूरी था? साधु का क्या स्वरूप है? समाज को उनका प्रदेय क्या है?रत्नत्रय क्या है? मोक्षमार्ग क्या है? भेद-विज्ञान के क्या मायने है? इस तरह से कई प्रश्न 'ओम्' के गर्भ मे पडे है, जो एक-के-बाद एक आपोआप समाधान के लिए खड़े होते है। ओकार सिर्फ प्रश्न-गर्भ ही नही है, वरन् उसमे समाधान भी सन्निहित है। 'ओम्' बोलते ही संपूर्ण धर्म / दर्शन / आचार साधक को घेर लेते है - अत ओम् को स्वय मे बोने का मतलब है किसी अक्षय वट की शीतल/निरापद छाव की शरण मे आना।

ने. : बडा रोमाचक है।

जै. . रोमाचक - रोमाचक ही नही, बल्कि दिव्य और अद्वितीय है। इसमे जो ध्यानावस्था है, वही सर्वोपरि साध्य है।

ने. और -

जै. : और क्या, बस इसमे गहरे उतरते जाइये, पैठता है वह पाता है, जो, किनारे पर खडा है डूबने के खौफ़ मे, उसे भला क्या हासिल होगा?

- अप्रैल '९६ ; ओम् विशेषाक □

पंछी ने पंख फैला लिये हैं

ने. : नमस्कार।

जै. : नमस्कार।

ने. : सुना है आप जल्दी ही विश्राम के लिए कोई अज्ञातवास कर रहे है? वैसे आप तो कहा करते है कि 'काम बदल लो, विश्राम हो गया'। एक-जैसा काम करने से मन ऊब जाता है, फिर वैसा क्यो नही करते? बदल लीजिये काम। संपादन की जगह स्वाध्याय, तकरीर की जगह मौन, चहल-पहल की जगह शान्ति जैसा चाहे, करे - शायद इसमे कोई अडचन नही होगी।

जै. : अज्ञातवास नही भाई, ज्ञात वास। अज्ञात वह सबन्धो के लिए होगा। अपने ख़ुद के लिए तो ज्ञात ही होगा। कही भी जाइये, ख़ुद से बच निकलना मुश्किल है। ख़ुद से कुछ भी ढाँकना कठिन है।

ने. : क्या करेगे वहाँ ?

ने. : **ख़ुद में चलूँगा। मीलों निकल जाऊँगा एक ही जगह रह कर। जन्म-जन्मान्तर पार करने की इच्छा है।** कम-से-कम अब तक की जिन्दगी का पारदर्शन तो हो ही जाएगा। अब तक जो/जैसा जिया है, वह कैसा जिया - उसकी सार्थकता क्या है - इत्यादि की समीक्षा तो हो ही जाएगी।

ने. : कितने दिन रहेगे इस तरह?

जै. : जब तक स्वय मे कुछ भी आवृत/छुपा नही रहेगा। पर्त-दर-पर्त टाँका-दर-टाँका खुल पडने का इरादा है। मन पर जितने पर्दे है, उन सबको हटाना चाहता हूँ। वक़्त/सबन्धो ने चेतना पर इतनी गर्द चढ़ा दी है कि सब कुछ बेमेल हो गया है। जीवन का असली सगीत टूट गया है। सब बेसुरा हुआ है।

ने. : बहुत कठिन होगा यह सब, इरादा बीच मे भी बदलना पड सकता है - **दुनिया मे रह कर, दुनिया में न रहना** - दुष्कर है। झेल पायेगे रिश्तो की यादें, उनकी तीव्रताएँ?

जै. · असली काँटा तो 'सबन्ध' है, यह निकला कि फिर कुछ बचा नही रहता - चेतना और उसका मार्ग निष्कण्टक हो पडता है।

ने. : क्या 'संबन्ध/तत्त्व ' जीवन मे टकराहटे पैदा करता है?

जै. . सबन्ध यानी 'राग', राग मे द्वेष या द्वेष में राग अस्तित्व मे सदैव/सर्वत्र रहते है। ये

दोनों एक-दूसरे के बगैर जी नही सकते।

ने. · राग अर्थात् -

जै. : मूर्च्छा, किसी स्थिति, वस्तु या व्यक्ति को अविच्छिन्न/अपरिहार्य मान बैठना कि 'यदि वह नही तो कुछ भी नही, कही वह वियुक्त हुआ तो गजब हो पडेगा उसके वगैर' इस तरह की क्षणानुभूति। और फिर जिसे अविच्छिन्न / अवियुक्त माना है, वह जिस भी वजह से विच्छिन्न या वियुक्त होता है, उसके प्रति द्वेष न बने यह सभव ही नही है। राग-द्वेष जीवन-सिक्के के दो पहलू है, वीतरागता की साधना ही इसीलिए है।

ने. : पर जो लोग 'वीतरागता-विज्ञान' की धुआँधार चर्चा करते है, वे खुद भारी झगडा करते है। कई बार तो सिर-फुटौवल कर बैठते है।

जै. : वे 'वीतरागता' और 'विज्ञान' दोनो के मायने नहीं जानते। वीतराग जो एक बार हो पडता है, वह टकराहट की परिधि से बाहर आ जाता है। **विज्ञान का अर्थ चारित्र है**। वीतरागता जब तक शब्दो तक सीमित रहती है, आचरण मे नही आती, बेमानी होती है। उसके अशत आचरण मे आते ही सब कुछ शान्त/निश्छल हो पड़ता है - गहरे तरग-रहित समदर की भाँति।

ने. . तो एकान्तवास मे आप वीतरागता की साधना करेगे - यही न ?

जै. : इच्छा तो है, पर होता अक्सर यह है कि होठों तक पहुँचा प्याला भी हलक के नीचे नही उतर पाता और कोई अपरिचित हाथ उसे छीन लेता है।

ने. : आपके साथ ऐसा कुछ है नही?

जै. . लगता तो यही है, किन्तु अनागत अनागत है, उसे कौन जाने?

ने. : तो क्या आपके सकल्प मे कोई 'कचाई' है?

जै. . बस इसी कचाई की वजह से जन्म-जन्मान्तर है अन्यथा दृढता के आगे तो वडे-से-वडे विघ्न घुटने टेक देते है।

ने. : तो अविचल हो पडिये।

जै. . कोशिश मे हूँ। निर्द्वन्द्व-निर्विकल्प हुए वगैर कुछ होगा नहीं। छोडते-छोडते यानी छोडने का इरादा करते-करते जिन्दगी के वेशकीमती लहमे ऐसे गुजर रहे है जैसे किसी नादान के हाथ मे पडे पारस पत्थर जिनसे यह कौए उड़ा रहा है। मनुष्य-जीवन दुर्लभ समझिये , इसका एक भी पल (२४ सेकड) व्यर्थ नहीं जाना चाहिये - जब कि हर दिन दो लाख सोलह हज़ार पल व्यर्थ जा रहे है।

ने. : सख्त अफसोस।

जै. किन्तु पछतावा समाधान नहीं है, समाधान है 'जब जागे, तब सवेरा' जैसी लोकोक्ति। तुरन्त हरकत (एक्शन) मे आने की जरूरत है जनाब ! यह जिन्दगी अमानत है।

आप-हम सिर्फ ट्रस्टी है, खयानत न करे। एक शायर ने ठीक ही कहा है -

ज़िन्दगी को सँभाल कर रखिये
ज़िन्दगी मौत की अमानत है

पछी ने पंख फैला लिये है। जल्दी ही उड़ लेगा। हाथ मलते रह जाओगे।

ने. : खत तो लिखेगे न ?

जै. : अज्ञातवास और खत, फिर उसे अज्ञातवास कह पायेंगे?

ने. • न डालिये तारीख, जगह का नाम।

जै. : डाकघर तो अपना ठप्पा लगायेगा न?

ने. : सो तो है। ठीक है लौटे तब बताइये।

जै. : अवश्य।

ने. : नमस्कार।

- अप्रैल '९६ □

ने. : बंदी ।

जे. : हाँ, बंदी । पराधीनता सिर्फ बेड़ी, हथकड़ी या जेल नहीं है, उसका संबन्ध आदमी की मानसिकता से है । आज संपूर्ण देश मानसिकता की दृष्टि से पराधीन है । उसकी अपनी अस्मिता लगभग समाप्त है । उसकी रुचियों/आकांक्षाओं का नियन्त्रण अब सात समंदर पार से होता है। सुनिये, अब पराधीनताएँ बढ़ेंगी ही, घटेंगी नहीं। आज वह/वैसा सब नहीं है, जो पहले कभी होता या हुआ करता था । आप अहिंसक, सत्यवादी, अपरिग्रही या अचौर्यव्रती अब नहीं हो सकते । हज़ार कसमें खायें, वैसा होना अब संभव नहीं है।

—पृष्ठ 6